वन्दे
विनायकम्

पं. बाळकृष्णबुवा इचलकरंजीकर

पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर

पं. नारायण मोरेश्वर खरे
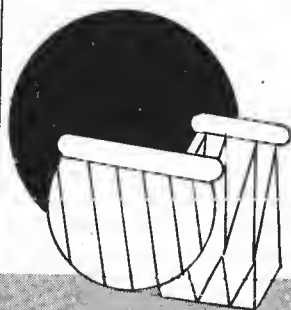
पं. विनायकराव पटवर्धन

पं. वामनराव पाध्ये
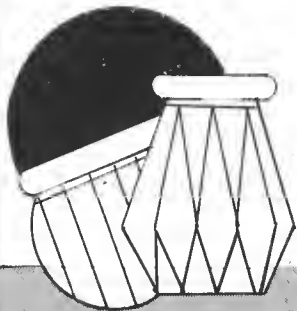
पं. ओंकारनाथ ठाकुर

पं. गोविंदराव देसाई
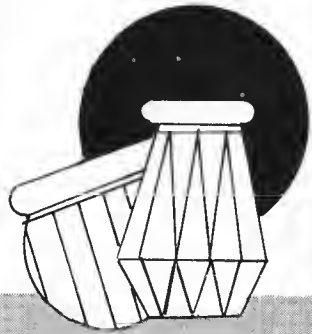
पं. नारायणराव व्यास
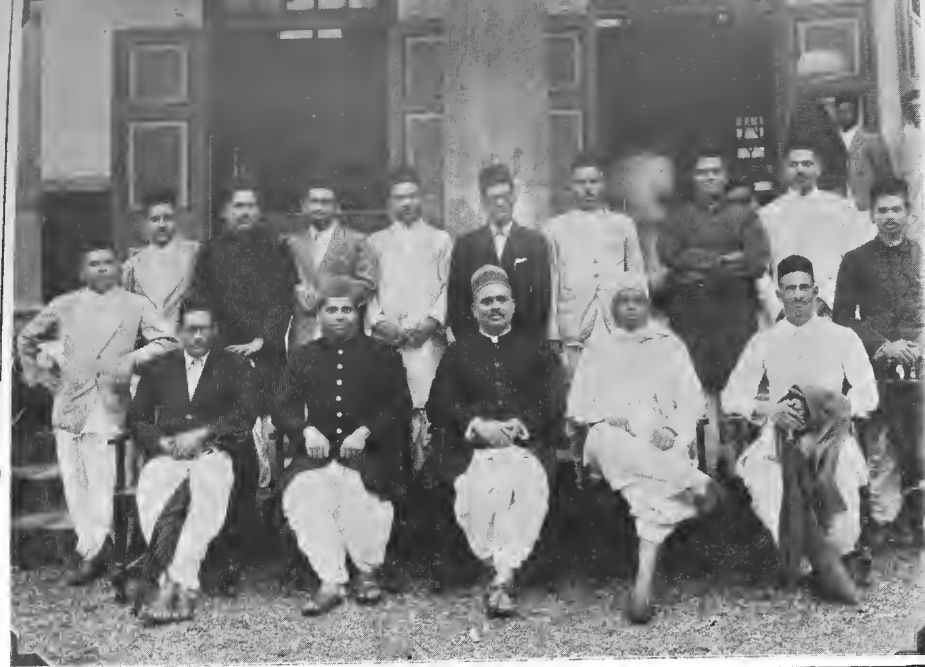
पं. विनायकराव अपने गुरुबंधुओं एवं सहयोगियों के साथ
कुर्सी पर (बाएं से) क्र.(२) पं. नारायणराव व्यास, (३) पं. विनायकराव,(४) पं. ना.मो.खरे,
(५) पं. गोविंदराव देसाई खड़े- (बाएंसे) क्र. (२) पं. धुंडिराज पलुसकर,
(५) प्रो. बी.आर. देवधर, (६) पं. अनंतराव कुलकर्णी, (९) पं. फडके
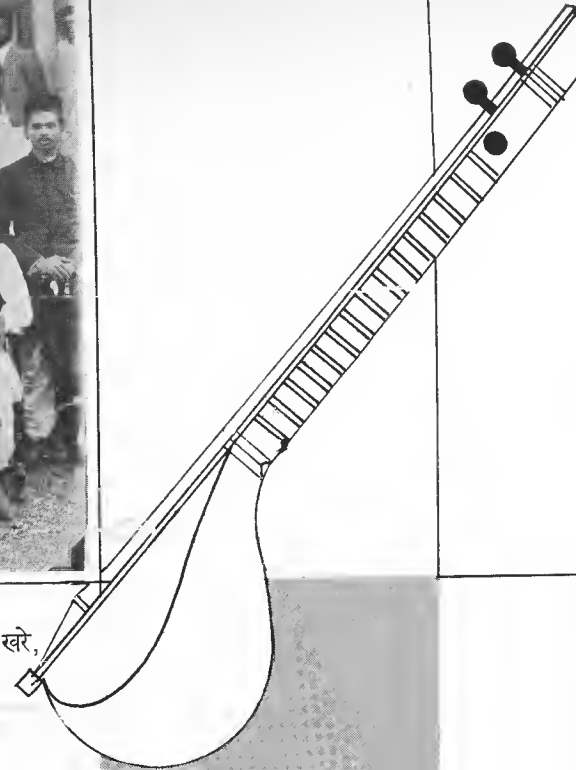
पंडित जी की एक शिष्यशाखा

(कुर्सी पर) क्र.(१) श्री लक्ष्मणराव केलकर,(३) पं. विनायकराव,(४) पं डी. व्ही. पलुसकर
(खड़े) क्र. (१) पं. धुंडिराज मराठे, (२) पं. गंगाधर पिंपलखरे, (३) पं. नारायण
विनायक पटवर्धन, (५) श्री शंकरराव कोल्हटकर, नीचे बैठेः श्री. रामचंद्र विनायक पटवर्धन.
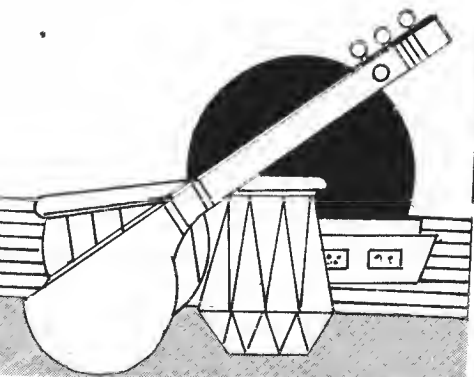
पं. विनायकराव जी और
श्री.विनयचंद्र मौद्गल्य

पं. रातंजनकर जी के अभिनंदन के प्रसंग में
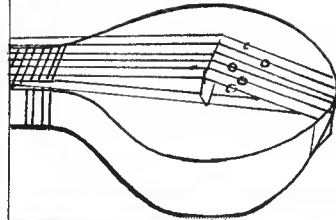
(कुर्सी पर) क्र. (१) पं. तांबे शास्त्री, (२) पं. मिराशीबुवा, (४) पं. रातंजनकर,
(५) प्रो. ग. ह. रानडे, (६) सरदार आबासाहब मुजुमदार.
(खड़े) क्र. (१) नारायण मोडक, (३) पं. विनायकराव जी, (६) पं. ना. वि. पटवर्धन,
(७) श्री गोविंद पांडुरंग जोशी

राष्ट्रपति जाकिर हुसैन से अभिनन्दन का स्वीकार करते हुए।
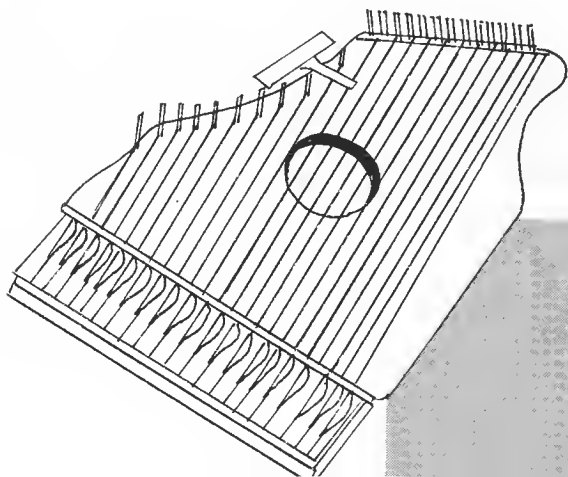
रियासत मिरज का राजाश्रय

स्व. श्रीमंत बालासाहब पटवर्धन
(पं. विष्णु दिगंबर और तत्पश्चात्
पं. विनायकराव जी के अभिभावक)
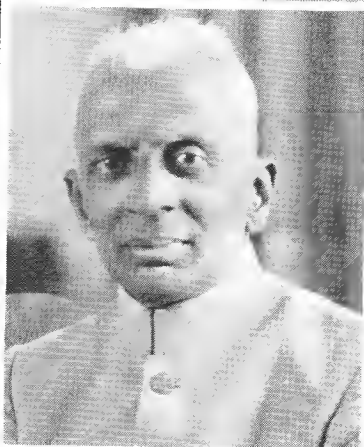
स्व. श्रीमंत तात्यासाहब पटवर्धन
(उसी प्रेरणादायी परंपरा के समर्थ अनुगामी)

श्रीमंत माधवराव पटवर्धन
(उसी स्नेहछत्र का मनोयोगपूर्वक निर्वाह)

किशोरवयीन विनायक व्हायलिन बजाते हुए

बलोपासक पंडित जी

पं. विनायकराव जी की विविध झांकियां

विशिष्ट महाराष्ट्रीय वेषभूषा में

विविध झांकियां
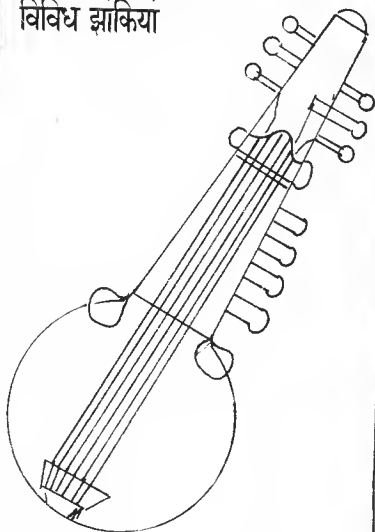
स्वरसाधना की मुद्रा में

पुत्र के विवाहसमारोह में
पुणेरी पगड़ी के साथ

पुत्र के उपनयन संस्कार के
अवसर पर नटसम्राट बालगंधर्व के साथ

तपस्वी की विश्रब्ध मुद्रा
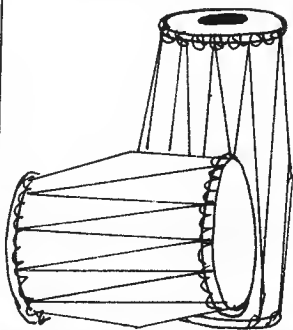
पिताश्री स्व. नारायणराव

पारिवारिक परिदृश्य

प्रथम पत्नी के समवेत

द्वितीय पत्नी श्रीमती राधाबाई
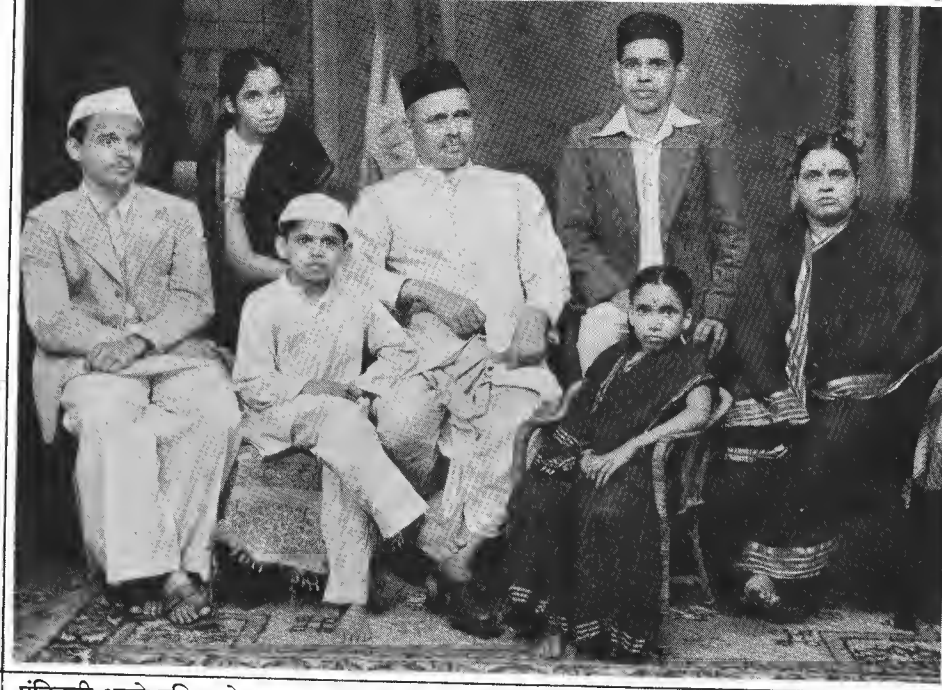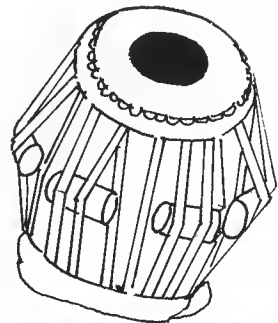
पंडितजी अपने परिवार के साथ

(बैठे हुए) बाएं से- पुत्र नारायण, मधुसूदन, पं. विनायकराव, कन्या मंगला, पत्नी श्रीमती राधाबाई
(खड़े) कन्या कु. कमल, पुत्र रामचंद्र

पारिवारिक परिदृश्य

तिलक स्मारक मंदिर में 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रगीत-गायन की समाधि मुद्रा
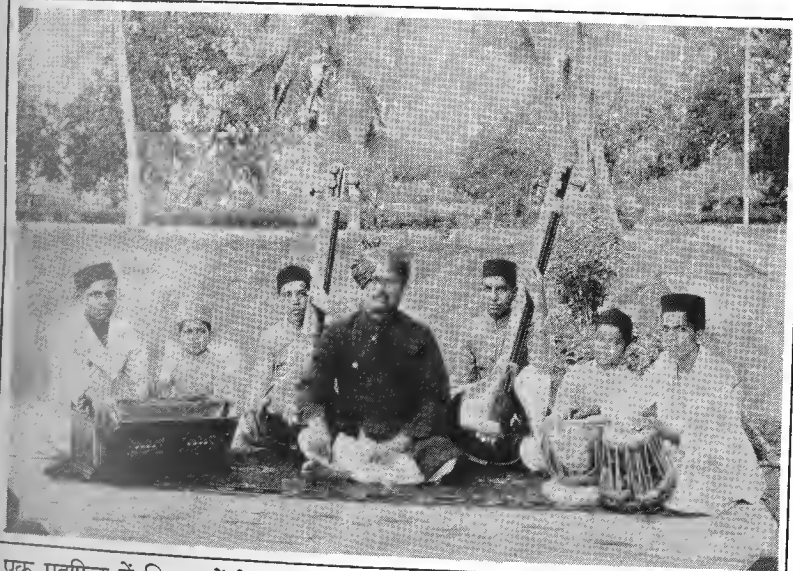
एक महफिल में शिष्यगणों के साथ
तबले पर शंकरराव कोल्हटकर, उनके पास पुत्र नारायण, तानपूरे पर विनयचंद्रजी, दूसरे तानपूरे पर धुंडिराज मराठे, उनके पास पुत्र रामचंद्र हारमोनियम पर वि. ल. उर्फ अप्पा इनामदार.

संगीत सभा (१९५५)
तबले की संगति : उस्ताद अहमदजान तिरखवा, सारंगी पर पंडितजी के शिष्य मधुकर खाडिलकर, तानपूरे पर नारायण पटवर्धन और शिष्य मुकुन्दराव गोखले.

श्रीमंत शंकरराव पटवर्धन (रियासत जमखिंडी, कर्नाटक) के दरबार में गणपति-उत्सव समारोह में गायन का उपक्रम २१ वर्ष चलता रहा
तानपूरे पर शिष्य जनार्दन मराठे, महफिल का आस्वाद लेते हुए श्रीमंत शंकरराव

पं. विष्णु दिगंबर के पुण्यदिवस समारोह के अवसर पर गानसेवा समर्पित करते हुए (दिल्ली)

'वह' विख्यात जुगलबंदी (२८ जुलई १९६३)
(पं. विनायकरावजी के साथ पं. नारायणराव व्यास) तबले पर दामूअण्णा मंगळवेढेकर और चंद्रकांत कामत, तानपूरे पर शिष्य मुकुंद उपासनी तथा सारंगी पर शिष्य मधूकर खाडिलकर

पुणे शहर में प्रथम संगीत परिषद
जिसके निमंत्रक/संयोजक स्वयं पंडितजी ही थे
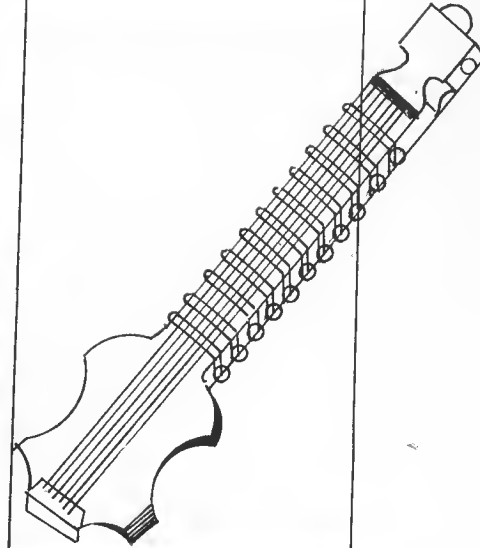
(कुर्सी पर) : (१) रामकृष्णबुवा धोंगडे, (२) पं. विनायकराव, (३) प्रो. ग.ह. रानडे, (४) तबलानवाज पं. अनोखेलाल, (५) नर्तिका जयकुमारी, (६) जयकुमारी के पिता जयलाल, (७) पं. मिराशीबुवा, (८) परिषदके अध्यक्ष मास्टर कृष्णराव, (९) प्रो. दत्तो वामन पोतदार, (१०) पं. कृष्णराव पंडित, (११) पं. वामनराव पाध्ये, (१२) उस्ताद विलायत खां

नेपाल कला केंद्र द्वारा अभिनंदन को स्वीकारते हुए

पंडित जी को षष्ठिपूर्ति समारोह में मिरज अधिपति श्रीमंत तात्यासाहब अध्यक्षीय भाषण दे रहे हैं।
साथ में अभिनंदन समिति के अध्यक्ष न्यायमूर्ति वसंत शांताराम देसाई

संगीत नाटक अकादमी की फेलोशिप को प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथों स्वीकारते हुए (दिसंबर १९६५, विज्ञान भवन, नई दिल्ली)

पंडितजी पद्मभूषण उपाधि से विभूषित
राष्ट्रपति वी. वी. गिरी के हाथों उपाधिपत्र का स्वीकार करते हुए (२५।३।१९७२, राष्ट्रपति भवन, दिल्ली)

इसी अवसर पर प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ

शिष्यश्रेष्ठ पं. विनयचंद्र मौद्गल्य द्वारा संचालित गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली के नूतन भवन के शिलान्यास के अवसर पर

पद्मभूषण उपाधि प्राप्त होने के उपलक्ष्य में पुणे में आयोजित सभा में श्रेष्ठ नागरिक एवं न्यायमूर्ति वसंत शांताराम देसाई के हाथों अभिनंदन स्वीकारते समय

ंगीतसेवा के उपरांत अवतार मेहेरबाबा से आशीर्वाद ग्रहण करते हुए

रतीय सांस्कृतिक शिष्ट मंडल के साथ रूस के दौरे पर
बाएं से बीच में पं. रविशंकर, अंतिम छोर पर पं. विनायकराव जी)

(कुर्सी पर) बाएं से (१) सौ. स्नेहलता गाडगीळ, (२) सौ.सुधा पटवर्धन, (३) सौ.कमल केतकर, (४) पं.गोविंदराव देसाई, (५) पं. विनायकराव पटवर्धन, (६) श्री पु.रा. पंडित, (७) श्री मुकुंदराव गोखले, (८) श्री नागेश खळीकर, (९) श्री त्रिं.द. जानोरीकर खड़े बाएं से (१) श्री श्री. रा. पेंडसे, (२) श्री अ.गो. मराठे, (३) श्री मधुकर खाडिलकर, (४) श्री ना.रा. बोगम, (५) श्री प्र. अ. गोखले, (६) श्री मधुकरराव पटवर्धन, (७) श्री एम्.आर. गंधे, (८) श्री आ. चिं. माटे, (९) श्री धुं.गो. मराठे

पंडितजी रंगमंच पर

नाटक ' नंदकुमार '
पंडित जी कृष्ण की भूमिका में और
नटसम्राट बालगंधर्व राधा की भूमिका में

' सूत्रधार ' के सनातन वेषमें

नाटक सौभद्र '—त्रिदंडी
संन्यासी के वेष में ' अर्जुन '

' मानापमान ' नाटक में
सिपहसालार ' धैर्यधर '

नाटक संशयकल्लोल ' अश्विन सेठ की भूमिका में

' सौभद्र ' नाटक में ' अर्जुन '

मानापमान ' नाटक में ' धैर्यधर '

विधिलिखित ' नाटक में नटसम्राट बालगंधर्व (नायिका) के साथ नायक के रूप में

बैठे हुए (बाएं से) (१) पं. विनायकराव, (३) मास्टर कृष्णराव, (४) बालगंधर्व, (५) गोविंदराव सोरटी.
खड़े (बाएं से) (१) वामनराव बिच्चू, (२) बाबुराव खाडिलकर, (३) पापासाहब चिपलुनकर, (४) दत्तोपंत खाडिलकर, (५) हरी विट्ठल रेगे

गंधर्व नाटक मंडली

जमीन पर (बाएं से) (१) कु. सरोजिनी राजहंस, (२) कु. ताई
कुर्सी पर (बाएं से) (१) विष्णुपंत घाग, (२) पं. विनायकराव जी, (३) एच्. एम्. व्ही. कंपनी के श्री. रमाकांत रूपजी, (५) माणिकचंद, (६) बालगंधर्व, (७) वामनराव बिच्चू, (८) मास्टर कृष्णराव, (९) वालावलकर
खड़े (बाएं से) (१) मारुती अण्णा (ऑर्गनवादक), (२) गफूर (सारंगी), (३) उस्ताद कादरबख्श (सारंगी), (४) राजण्णा (तबला), (५) दत्तोबा जंगम (ऑर्गन)

विनायकराव पटवर्धन

मैं भारत का राष्ट्रपति,
वराहगिरि वेंकट गिरि, व्यक्तिगत
गुणों के लिए आपके सम्मानार्थ,
पद्म भूषण प्रदान करता हूं।

राष्ट्रपति

नई दिल्ली
दिनांक 25 मार्च, 1972
5 चैत्र, 1894
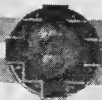
संगीत तपस्या के स्थायी प्रसादफल

पं. विनायकराव जी के शिष्य पं. विनयचंद्र मौद्गल्य द्वारा संचालित गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली
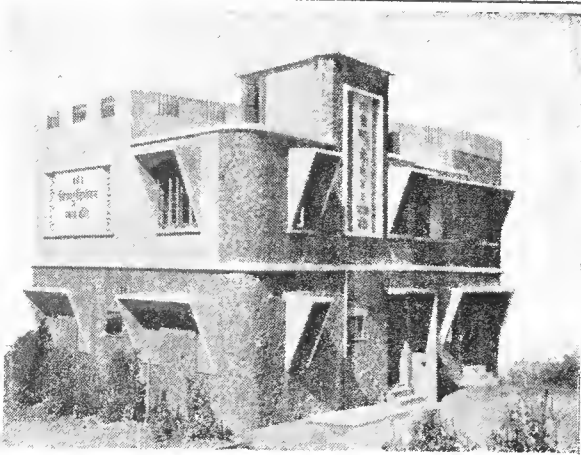
पं. विष्णु दिगंबर स्मारक मंदिर, मिरज

वन्दे विनायकम्

संपादक

प. विनयचंद्र मौद्गल्य
प्राचार्य, गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली

कार्यकारी संपादक

डॉ. श्रीरंग संगोराम
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग
पुणे विश्व विद्यालय, पुणे

विनायकराव पटवर्धन स्मारक समिति

प्राक्कथन

'पद्मभूषण' पं. विनायकराव जी पटवर्धन उन महान व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने भारतीय संगीत के क्षेत्र में महनीय कार्य किया है और जिनका नाम सुवर्णाक्षरों से लिखे बिना इस संगीत का इतिहास पूरा नहीं हो सकेगा। ऐसे स्वर्गीय गायनाचार्य, संगीतचूडामणि पं. विनायकराव जी का और हमारे मिरज के राजघराने का पूर्वापर और अटूट स्नेहसंबंध रहा है। इस स्नेहसंबंध को स्वयं पंडित जी ने आखिरी क्षण तक निभाया और हम उनकी मृत्यु के बाद भी उस संबंध को बनाए रखने में अपना सौभाग्य मानते हैं। वस्तुतः 'पं. विनायकराव पटवर्धन स्मारक समिति' का अध्यक्ष बनने के पीछे हमारी यही भावना है।

जिस समय इस स्मारक समिति का गठन हुआ और उसके अन्यान्य उद्देश्य निर्धारित हुए तब से याने बिलकुल आरंभ से ही बुवासाहब की स्मृति में उनकी जीवनी लिखकर प्रकाशित करना तय हुआ था। जब समिति के पास ग्रंथप्रकाशन के लिए पर्याप्त राशि जमा हो गयी तब याने पंडित जी के दसवें पुण्य-दिवस को (२३–८–१९८५) इस कार्य के विषय में गंभीरतापूर्वक चर्चा हुई और यह तय हुआ कि केवल जीवनी पर संतोष न मानकर पंडित जी के नाम एक 'अभिनंदन-ग्रंथ' का संपादन किया जाए। इसके पीछे यह उद्देश्य था कि जीवनी के साथ साथ पंडित जी के विविधमुखी सांगीतिक कार्य का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया जाए, ताकि ग्रंथ का सांस्कृतिक मूल्य भी बढ़े और आनेवाली पीढ़ियों के लिए वह मार्गदर्शक भी हो।

निःसंदेह पंडित जी का सांगीतिक क्षेत्र का कार्य जितना बहुविध

उतना ही विराट् है। उन्होंने अपनी संपूर्ण शक्ति को संगीत-प्रसार में लगा दिया और पं. विष्णु दिगंबर पलुसकरद्वारा संचालित कार्य पर सुवर्ण-कलश चढ़ा दिया। आज के युग को संगीत-कला का स्वर्णयुग कहने में किसीको आपत्ति नहीं होगी। इस स्वर्णयुग को लाने का श्रेय इस 'विष्णु-विनायक' की जोड़ी को है। पं. विनायकराव जी ने अपने गुरुदेव के पदचिह्नों पर चलकर संगीतक्षेत्र में जो बहुमूल्य कार्य किया उसे ग्रंथ के रूप में समाज के सामने रखने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत अभिनंदन–ग्रंथ का संपादन हुआ है।

ग्रंथनिर्माण के कार्य में पंडित जी के मान्यवर शिष्य एवं दिल्ली गांधर्व महाविद्यालय के प्राचार्य पं. विनयचंद्र मौद्गल्य ऊर्फ भाई जी की सर्वतोपरि सहायता प्राप्त हुई है। उन्हींकी बदौलत डॉ. श्रीरंग संगोराम जैसे सिद्धहस्त लेखक एवं संगीतज्ञ संपादक का सहयोग प्राप्त हो सका। इन दो व्यक्तियों के प्रयत्नों से यह मुश्किल कार्य एकदम आसान हो गया और आज वह पूर्णत्व को पहुंच गया है। इस कार्य के लिए स्मारक समिति ने तथा संपादक-मंडल ने संपूर्ण सहयोग प्रदान किया। पंडित जी के भारत भर में फैले हुए शिष्यों का सहयोग तथा प्रतिपृष्ठ श्रद्धाधन देनेवाले पृष्ठदाताओं का आर्थिक योगदान आदि के कारण ही यह गुरुकार्य संपन्न हो सका। वस्तुतः ग्रंथ की सिद्धता में अनेक सूत्रों से सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सबका नामनिर्देश करना असंभव है। तथापि हम पंडित जी के सुपुत्र प्रोफेसर नारायणराव पटवर्धन के विशेष रूप से आभारी हैं। उन्होंने संपादक-मंडल के साथ घंटों तक वार्तालाप करके अपने पिताश्री एवं गुरुदेव पं. विनायकराव जी के संबंध में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अनुभवसिद्ध बातें कथन कीं, जिसके कारण ग्रंथ-लेखन के लिए एक ठोस और वस्तुनिष्ठ आधार प्राप्त हो सका। यद्यपि हम यह जानते हैं कि इस सिलसिले में अपना नामोल्लेख तक पं. नारायणराव जी को स्वीकार नहीं होगा, तथापि हम अपने अधिकार में यह ऋणनिर्देश कर रहे हैं।

अभिनंदन-ग्रंथ के लिए पं. हीराबाई बड़ोदेकर, पं. भीमसेन जोशी, श्री. वसंत शांताराम देसाई इत्यादि अनेक महानुभावों का सहयोग हमें प्राप्त हो सका। हम उन सबको हृदय से धन्यवाद देते हैं।

मा. ना. पटवर्धन

अध्यक्ष

पं. विनायकराव पटवर्धन, स्मा. समिति ११८१ शि. नगर मि. हाऊस पुणे ५

संपादकीय

दीर्घ प्रतीक्षा के बाद 'वन्दे विनायकम्' ग्रंथ के प्रकाशन का सुयोग आज प्राप्त हुआ है। मुख्य संपादक होने के नाते इस विलंब के लिए मैं स्वयं को उत्तरदायी मानता हूं—कारण चाहे जो भी रहे हों। इसीलिए गुरुवर्य पं. विनायकराव पटवर्धन जी के सभी शिष्यों, भक्तों और संगीत-प्रेमियों से करबद्ध क्षमायाचना करना मेरा कर्तव्य है।

संतोष इसी बात का है कि सब्र का फल मीठा रहा है। ऐसा दावा करना तो संभव और उचित नहीं कि गुरु जी के गौरव के अनुरूप सर्वांग-पूर्ण यह ग्रंथ बन पाया है। तथापि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनके जीवन तथा संगीत के प्रति बहुआयामी योगदान पर अधिकाधिक प्रकाश डालने के लिए विविध सूत्रों से उपलब्ध सामग्री— लेख, संस्मरण, पत्र तथा छायाचित्रों का समुचित लाभ उठाने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

इस संबंध में गुरु जी के प्रति श्रद्धा रखनेवाले अनेक व्यक्तियों के सक्रिय सहयोग से ही यह संभव हुआ है। 'पं. विनायकराव पटवर्धन स्मारक समिति' के पदाधिकारियों तथा शिष्यों ने इस रूप में गुरुऋण से आंशिक रूप में उऋण होने का उदात्त उपक्रम मात्र किया है।

आपसमें एक दूसरे की प्रशंसा या आभार-प्रदर्शन उचित नहीं। तथापि अन्य जिन व्यक्तियों ने इस संबंध में उल्लेखनीय सहयोग दिया है और जिनके हम विशेष रूप से आभारी हैं, उनका नाम-निर्देश करना आवश्यक है—(१) डॉ. श्रीरंग संगोराम, पुणे, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ के कार्यकारी संपादक का दायित्व निभाया और ग्रंथ के लिए पं. विनायकराव जी की

जीवनी भी लिखी। (२) 'कल्पना मुद्रणालय', पुणे के स्वामी श्री चिं. स. लाटकर, जिन्होंने ग्रंथ को सुचारु रूप में मुद्रित किया, (३) डॉ. केशव प्रथमवीर, पुणे, जिन्होंने बहुत से मराठी लेखों का हिंदी अनुवाद किया, (४) डॉ. सज्जन राम केणी, पुणे, जिन्होंने मुद्रित-शोधन का महत्त्वपूर्ण कार्य मनोयोग से किया और कुछ मराठी लेखों का अनुवाद भी किया, (५) चित्रकार श्री. सुभाष अवचट, जिन्होंने ग्रंथ का आकर्षक मुखपृष्ठ बनाया।

आशा है, गुरुवर की स्मृति में संपादित इस अभिनंदन-ग्रंथ का स्वागत रसिकों द्वारा होगा।

—**विनयचंद्र मौद्गल्य**
प्रधान संपादक

प्राचार्य गांधर्व महाविद्यालय, पं. विष्णु-दिगंबर मार्ग, नई दिल्ली

निवेदन

'वंदे विनायकम्' अभिनंदन-ग्रंथ के संपादन का गुरुतर भार मुझे सौंपकर 'पं. विनायकराव पटवर्धन स्मारक समिति' ने एक तरह से मेरी परीक्षा ही ली है। इस परीक्षा में मैं कहांतक सफल रहा, कहना कठिन है। परंतु यह अवश्य कहना है कि ग्रंथ के संपादन में मुझे प्रधान संपादक पं. विनयचंद्र जी मौद्‌गल्य तथा संपादक मंडल के पुणे स्थित सदस्यों (जिनमें श्री प्रभाकर गोखले और श्री महादेव गंधे का नाम विशेष उल्लेखनीय है) की सब प्रकार से सहायता प्राप्त हुई। उसके अभाव में इस ग्रंथ का निर्माण असंभव था। इसी प्रकार डॉ. मो. वि. भाटवड़ेकर जी से प्राप्त संदर्भ ग्रंथ के लिए तथा उनके अनेक सुझावों के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूं। ग्रंथ की पूर्ति में समिति के अध्यक्ष श्रीमंत माधवराव पटवर्धन तथा श्रीमती इंदुमतिदेवी पटवर्धन का सहयोग भी बहुत मूल्यवान रहा।

प्रस्तुत ग्रंथ के 'जीवनी विभाग' के संबंध में दो शब्द कहना आवश्यक है। इस जीवनी का लेखन अन्यान्य सूत्रों से लिखित/मुद्रित रूप में प्राप्त जानकारी और विवरण एवं कतिपय संदर्भ-ग्रंथों तथा अनेक साक्षात्कारों (मुलाकातों) के आधार पर हुआ है। जीवनी में भरसक कोई भी बात काल्पनिक या आधाररहित तौर पर नहीं काही गयी है। इस आधारभूत सामग्री की पूर्ति अधिकतर पं. विनायकराव जी के अनेकानेक शिष्योंद्वारा हुई है। कार्यकारी संपादक के नाते उन सब के प्रति (विशेषतः प्राध्यापक नारायणराव और डॉ. मधुसूदन पटवर्धन के प्रति) अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। प्रस्तुत जीवनी में पं. विनायकराव जी के

पारिवारिक जीवन तथा उनकी आयु में घटित सर्वसामान्य व्यावहारिक घटनाओं को विशेष स्थान न देकर केवल उनके सांगीतिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अन्यान्य घटनाओं के माध्यम से रेखांकित किया गया है। और यह करते समय कहीं भी अतिशयोक्ति या अतिरिक्त प्रशंसा का अवलंब नहीं किया गया है। एक और उल्लेखनीय बात यह है कि जीवनी की पांडुलिपि का पठन संपादक-मंडल के सामने समय समय पर किया गया और तत्पश्चात् उसे अंतिम रूप दिया गया। इस प्रकार जीवनी-अंश को यथासंभव प्रविधिपूर्वक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

अभिनंदन-ग्रंथ के शेष खंडों के बारे में चंद बातें। इन खंडों के संयोजन में दो प्रधान उद्देश्य रहे हैं। एक यह कि पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंध में अधिकारी विद्वान और निकटवर्ती सहयोगियों का मंतव्य प्रकट हो सके। दूसरा उद्देश्य यह रहा कि इन लेखों तथा संस्मरणों के द्वारा जीवनी-खंड में वर्णित या कथित तथ्यों को पुष्टि मिल सके। जिन जिन शिष्यों ने अपने संस्मरण भेजे उन सबका अंतर्भाव संपादकीय विवशता के कारण 'संस्मरण-सुगंध' विभाग में नहीं हो सका, किंतु परिशिष्ट में सभी संस्मरण-प्रेषकों का नामोल्लेख किया गया है। डॉ. मो. वि. भाटवडेकर जी ने अपने लेख के लिए जो आधारभूत प्रश्नावली बनायी थी उसे इसी विवशता के कारण परिशिष्ट में स्थान नहीं दिया जा सका।

मैं समिति का और खासकर पं. विनयचंद्र मौद्गल्य का हृदय से आभारी हूं, जिनकी प्रेरणा से मुझे 'वन्दे विनायकम्' ग्रंथ के संपादन का सुअवसर मिल सका और जिसके फलस्वरूप दीर्घ काल तक मुझे पं. विनायकराव पटवर्धन जैसी हस्ती के (मानसिक तौर पर) बहुत निकट पहुंचने का अवसर मिल सका।

श्रीरंग संगोराम
कार्यकारी संपादक

गणेश मळा, विठ्ठलवाडी पथ, पुणे ४११०३०

'पं विनायकराव पटवर्धन स्मारक समिति' पुणे
११८१ शिवाजीनगर, 'मिरज हाऊस', पुणे–४११००५

अध्यक्ष

श्रीमंत माधवराव नारायणराव पटवर्धन राजेसाहेब, मिरज (सीनिअर)

उपाध्यक्ष

श्रीमंत सौ. इंदुमतिदेवी पटवर्धन, राणीसाहेब मिरज (सीनिअर)
पं. गंगाधर वामन पिंपळखरे

कोषाध्यक्ष

श्री प्रभाकर अनंत गोखले

उप–कोषाध्यक्ष

श्री दत्तात्रय शामराव साबडे

कार्यवाह

श्री महादेव रामदास गंधे

सहकार्यवाह

श्री मुकुंद माधव उपासनी

सदस्य

श्री मधुकर रघुनाथ खाडिलकर
डॉ. मधुसूदन विनायक पटवर्धन
श्री शरद घनःशाम गोखले
श्री विष्णु रमाकांत मोकाशी

सदस्य

श्री शंकर कृष्णाजी जोशी
सौ. नलिनी जोशी
सौ. आशाताई गाडगीळ

संपादक–मंडल

पं. विनयचंद्र मौदगल्य, प्रधान संपादक
डॉ. श्रीरंग संगोराम, कार्यकारी संपादक
डॉ. मो. वि. भाटवडेकर, सदस्य
श्री महादेव रामदास गंधे, सदस्य
श्री प्रभाकर अनंत गोखले, सदस्य
श्री मुकुंद माधव उपासनी, सदस्य
डॉ. म. वि. पटवर्धन, सदस्य
श्रीमती सौ. इंदुमतिदेवी पटवर्धन, सदस्य

मानद सदस्य

डॉ. कुमार गंधर्व
पं. गंगाधरराव तेलंग
पं. वि. रा. आठवले
पं. लक्ष्मीनारायण गर्ग
पं. वामनराव देशपांडे
डॉ. अशोक दामोदर रानडे
पं. नारायणराव पटवर्धन
डॉ. कमल केतकर

●

अनुक्रमणिका

प्रथम विभाग

द्वितीय विभाग

तृतीय विभाग

चतुर्थ विभाग

पंचम विभाग

षष्ठ विभाग

द्वि ती य वि भा ग

जीवनी (चरित्र)

१

प्रेरणा का प्रस्थान-बिंदु

प्रेरक प्रसंग

हिंदुस्थानी शास्त्रीय संगीत की प्राणप्रतिष्ठा महाराष्ट्र में भले ही न हुई हो, किंतु इसमें दो राय नहीं हो सकती कि इस संगीत को वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त करा देने का श्रेय महाराष्ट्र को ही देना होगा। इस सिलसिले में एक प्रेरक प्रसंग का उल्लेख करना अस्थान में नहीं होगा। सौ साल पहले की बात है, जब महाराष्ट्र की 'मिरज' नामक छोटी रियासत में ग्वालियर घराने के हद्दू तथा हस्सू खां के समकालीन और उन्हींकी परंपरा के गायनमहर्षि पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर दरबार गायक थे और 'श्रीमंत' (महाराष्ट्रीय रियासतों के राजाओं की उपाधि) सर गंगाधरराव उर्फ बालासाहब मिरजकर के आदेश से उनके द्वारा पुत्रवत् आश्रित विष्णु नामक युवक को गायन की तालीम देते थे। यह विष्णु याने पं. विनायकराव जी के गुरुवर पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर ही हैं। आगे विष्णु जी ने नौ साल तक गुरुचरणों में बैठकर शिक्षा पायी और अथक रियाज के बल पर गायन में एक विशेष सिद्धि प्राप्त कर ली।

एक दिन की घटना है। विष्णु जी अपने गुरु बालकृष्णबुवा के साथ पैदल जा रहे थे। पीछे से श्रीमंत बालासाहब की फिटन आयी। उन्होंने अनुग्रहपूर्वक कहा—"विष्णु-बुवा, बैठ जाओ गाड़ी में।"— और सिर्फ विष्णु जी से ही कहा, बालकृष्णबुवा से नहीं। वे कह भी नहीं सकते थे। श्रीमंत ने विष्णु जी को पुत्र मान लिया था। स्वाभाविक रूप से उन्होंने उन्हें अपने साथ गाड़ी में चलने को कहा। पंडित बालकृष्ण-बुवा तो दरबार के सेवक थे और यह शासक की प्रतिष्ठा के खिलाफ था कि वे एक आश्रित व्यक्ति को अपने साथ गाड़ी में ले चलते। वस्तुतः बालकृष्णबुवा को भी वह बात नितान्त स्वाभाविक लगी होगी। किंतु विष्णु जी धर्मसंकट में पड़ गए। वे तो श्रीमंत बालासाहब के कृपाप्रसाद से संगीत-शिक्षा की सुविधा पा रहे थे। परंतु अपने गुरुदेव

को पैदल चलता छोड़ कर खुद गाड़ी में भी कैसे बैठते! एक तरफ आश्रयदाता की बात की अवहेलना का भय तो दूसरी तरफ अपने महनीय गुरु की अवमानना की चिंता। फिर भी विष्णु जी किसी तरह गाड़ी में बैठ ही गए। लेकिन—

और यही 'लेकिन' पं. विष्णु दिगंबर के महाभिनिष्क्रमण का कारण बन गया। इसी 'लेकिन' ने भारत में संगीत को उसका खोया हुआ पुराना गौरव पुनश्च प्राप्त करा दिया। इसी 'लेकिन' ने शास्त्रीय संगीत के निष्ठावान् साधकों और जानकार श्रोताओं की एक तमाम पीढ़ी को उभारा, इसी 'लेकिन' ने संगीत-कला का गठबंधन सच्चरित्रता, राष्ट्रीय भावना, आत्मसम्मान एवं आत्मगौरव के साथ कर दिया और इसी 'लेकिन' ने लोकोत्तर संगीत प्रचारक, अद्वितीय संगीत प्रशिक्षक, अग्रगण्य संगीतवेत्ता, व्यक्तित्व-संपन्न महफिली गायक और अपने जमाने के आदर्श सांस्कृतिक नेता एवं प्रस्तुत अभिनंदन-ग्रंथ के नायक 'पं. विनायकराव जी पटवर्धन' को जन्म दिया।

इस 'लेकिन' में ऐसा क्या जादू था? अभी जिस घटना का जिक्र किया गया, वह उस जमाने की है जब उच्चस्तरीय समाज में गायक-वादक कलाकारों को बहुत ऊंची निगाह से नहीं देखा जाता था। विष्णु जी इस परिस्थिति पर यों भी गौर किया करते थे। वे देखते थे कि समाज का विशिष्ट वर्ग संगीतकारों को अपने समकक्ष नहीं मानता। उन्होंने देख लिया था कि शहर में जहां भी कोई सामाजिक समारोह होता, वहां के निमंत्रितों में प्रायः पं. बालकृष्णबुवा को टाल दिया जाता। विष्णु जी ने यह भी गौर किया था कि संगीतकारों को अपनी जीविका के लिए धनसंपन्न लोगों की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है। ये धनी लोग गायकों को अपने निवास पर उत्सवों-विवाहों में गायन के लिए निमंत्रित करते, जिसके बदले में उन्हें तुच्छ 'पारिश्रमिक' मिलता। इसके अतिरिक्त संगीतकारों की जीविका का दूसरा सहारा था रियासतों में दरबार-गायक के पद पर नियुक्ति। सारांश यह कि संगीतकला हर हालत में व्यक्तिगत आश्रय पर पल रही थी। वह जनताभिमुख नहीं हो पा रही थी। इसीलिए उसके स्वाभाविक विकास में एक गतिरोध पैदा हो गया था। इसके सिवा संगीत कलाकारों की उपेक्षा का एक और कारण यह था कि प्रायः संगीत कलाकार शराब-गांजे जैसे व्यसनों में डूबे रहते थे तथा और भी कई बुरी लतों के शिकार बन जाते थे। इस तरह संगीत तथा संगीतकारों की परिस्थिति सभी दृष्टियों से चिंताजनक थी।

युवक विष्णु दिगंबर का मेधावी मस्तिष्क परिस्थिति के इन विभिन्न आयामों पर जाने-अनजाने गौर किया करता था। वे मन-ही-मन बहुत बेचैन रहा करते। किस उपाय से इस स्थिति में परिवर्तन लाया जाए? गायक कलाकारों के स्वाभिमान को कैसे जगाया जाए? समाज में उन्हें यथोचित सम्मान, प्रतिष्ठा किस उपाय से प्राप्त हो

सकेगी? मन की इसी संघर्षमय अवस्था में कुछ ऐसे विशिष्ट प्रसंग उत्पन्न होते, जो उनकी मानसिकता को विशेष रूप से झकझोर देते और उनके विद्रोही मन से पुकार उठती कि यहां से कहीं बाहर विशाल क्षेत्र में जाना चाहिए और अपनी कला के जौहर दिखाकर संगीत का झंडा फहराना चाहिए। आरंभ में उल्लिखित घटना का यही परिणाम हुआ और मिरज से बाहर जाने का उनका निश्चय और पक्का हो गया। फलतः विष्णु दिगंबर ने मिरज से १८९६ में प्रस्थान किया। आप सीधे बड़ौदा पहुंचे और एक से एक दिग्विजय करते हुए आगे बढ़ते रहे। और केवल पांच वर्ष के अंदर ही— ५ मई १९०१ को—लाहौर में आपने 'गांधर्व महाविद्यालय' की स्थापना कर दी। संगीत प्रशिक्षण और प्रसार का यह कार्य पं. विष्णु जी ने विश्वविद्यालयीन अनुशासन को बरतते हुए आरंभ किया। संभ्रांत परिवार के किशोरवयीन शीलवान बालकों को विद्यालय में प्रविष्ट कराने के लिए उन्होंने सुदूर तक अपने परिचितों का आवाहन किया। इसी आवाहन के फलस्वरूप हमारा चरितनायक विनायक बचपन में नौ साल की अवस्था में उपनयन संस्कार के तुरन्त बाद मिरज से लाहौर तक की १५०० मील की यात्रा तय करते हुए अपने महामहिम गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर की छत्रछाया में पहुंचा और उस अभिनव 'संगीत आंदोलन' का भाग्यवान सहभागी बन गया।

राजकीय अनुग्रह

यहां एक पल भर रुक कर स्पष्ट करना जरूरी है कि आरंभ में जिन श्रीमंत बालासाहब मिरजकर का जिक्र हुआ है, वे ही इस युगप्रवर्तक विष्णु दिगंबर संगीत आंदोलन और उस संगीत-परंपरा को गतिमान एवं वर्द्धमान करनेवाले तथा पं. विनायकराव जी के कार्यकर्तृत्व के लिए प्रेरणा, प्रोत्साहन, प्रसाद सब कुछ थे। आप ही के आदेश से और आप ही की आर्थिक सहायता से विष्णु दिगंबर को आचार्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर जैसे धुरंधर संगीत-साधक के मार्गदर्शन में नौ साल की प्रदीर्घ कालावधि में बिना किसी विक्षेप और कष्ट के गंभीर संगीत साधना करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हो सका था, जो प्रायः उस जमाने के संगीत-साधकों के लिए एक अनहोनी-सी बात थी। स्वयं पं. विष्णु दिगंबर के गुरु बालकृष्णबुवा को ही लीजिए। मिरज के पासवाले औंध गांव से ७०० मील पैदल यात्रा करते हुए वे इंदौर पहुंचे थे। वहां से वे धार गए। वहां ३६ वर्ष तक संगीत की तालीम पाए हुए महाराष्ट्र के (बाद को ब्रह्मावर्त के) निवासी रामकृष्ण परांजपे उर्फ देवजीबुवा के पास चार वर्ष तक संगीत-साधना करने का अवसर उन्हें मिला। किंतु वह भी कैसे? गुरु की कर्कशा पत्नी से सौ सौ अपमान और लानतें सहते हुए, तब तक कि जब तक उसने बालकृष्ण को आत्महत्या की धमकी दे कर घर से निकाल नहीं दिया था। फिर बेचारे बालकृष्ण जी बैरागी बन

कर फकीरों की टोली में शामिल हो गए और बड़ी आकुलता के साथ गुरु की तलाश में रहे; यहां तक कि घोर निराशा की मनोदशा में मुंगेर में देवी की मूर्ति के सामने २८ दिन तक अनशन का अनुष्ठान लगाए बैठे रहे। तब कहीं देवी का प्रसाद मिला और तत्पश्चात् ग्वालियर घराने के मूल पुरुष हद्दू एवं हस्सू खां के शागिर्द पं. वासुदेवराव जोशी का वरदहस्त उन्हें प्राप्त हुआ।

इससे भी भयानक कष्ट उठाने पड़े महाराष्ट्र के स्व-नाम-धन्य गायक पं. रामकृष्ण-बुवा वझे को। रियासत सावंतवाड़ी से १२ वें वर्ष की उम्र में रामकृष्ण जी पैदल पूना आए, फिर वहां से बंबई गए। इसके बाद गाने गा-गा कर और भिक्षा मांग कर दस-बारह रुपये जमा किए और उसके बूते पर इंदौर गए और फिर वहां से ग्वालियर। ग्वालियर तो उस जमाने में 'गंधर्व नगरी' ही थी। किंतु फटेहाल रामकृष्ण को कौन पूछता ! हाड़ कंपानेवाली सर्दी में एकाध जीर्ण वस्त्र पहन कर मधुकरी मांग पेट पालते हुए रामकृष्ण जी ने संगीत विद्या प्राप्त की और फिर जब महाराष्ट्र आए तो अंत तक संगीत क्षेत्र के अनभिषिक्त राजा बने रहे।

निःसंदेह इन गानसाधकों ने अक्षरशः भगीरथ प्रयत्न कर के संगीत की सुर-सरिता को महाराष्ट्र की भूमि में प्रवाहित कर एक कालजयी महान कार्य किया। लेकिन बात हम कर रहे थे विनायक के गुरु पं. विष्णु दिगंबर की संगीत-साधना की। जिस तरह पंडित जी को मिरज के महाराजा की छत्रछाया में रह कर बालकृष्णबुवा जैसे महाराष्ट्रीय संगीत के आदि पुरुष के मार्गदर्शन में संगीत-साधना का सुअवसर मिला, उसी तरह विनायक को भी पं. विष्णु दिगंबर के मार्गदर्शन का लाभ उन्हीं मिरज राज्याधिपति बालासाहब मिरजकर की दूरदृष्टि और कृपादृष्टि से प्राप्त हुआ। यह १९०७ की याने आज से अस्सी वर्ष पूर्व की घटना है जब इस दूरंदेश अधिपति ने विनायक को लाहौर में गुरु जी के पास रहने के लिए माहवार १६ रुपये की (याने आज के हिसाब से करीबन् १६०० रुपये की) छात्रवृत्ति ७ वर्ष तक प्रदान करने का अभिवचन उनके रिश्तेदारों को दिया और उसे अंत तक निभाया। और यह स्वयं-प्रमाणित बात है कि यह सत्पात्र में किया हुआ दान अकारथ नहीं गया, बल्कि उस का प्रतिफल शतगुणित परिमाण में 'पं. विनायकबुवा पटवर्धन' के संगीत प्रसार के द्वारा समस्त संगीत क्षेत्र को प्राप्त हुआ।

रियासतों का योगदान

यों उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और तत्पश्चात् बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदुस्थानी शास्त्रीय संगीत का पालनपोषण राजाश्रय में ही होता रहा था और इस संगीत की गंगोत्री रियासत ग्वालियर थी। ग्वालियर ही वह केंद्र था, जहां एक से एक

वरिष्ठ गायकों, वादकों और नायकों का (वाग्गेयकारों का) जमघट बना रहता था। दौलतराव सिंदिया और उनके उत्तराधिकारी जयाजीराव सिंदिया स्वयं संगीत-साधक तथा संगीत-रसिक थे। संगीत की यह परंपरा ग्वालियर में धुर १५ वीं शताब्दी से याने राजा मान के शासनकाल से रही। इस काल में एक से एक बढ़कर उच्च कोटि के ध्रुपदिए इस दरबार को रोशन किए हुए थे। १९ वीं शताब्दी में इसी दरबार में ग्वालियर घराने की गायकी अवतरित हुई, जिसका श्रेय दरबार गायक हद्दू खां और हस्सू खां एवं उनके अप्रत्यक्ष गुरु बड़े मुहम्मद खां को है। पं. विनायकराव जी के दादा-गुरु पं बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर और गुरु पं. विष्णु दिगंबर इसी परंपरा के गायक हैं। इसलिए ग्वालियर दरबार और वहां के गायकों के संबंध में थोड़ा विस्तार से बताना आवश्यक है।

ग्वालियर के दरबार में संगीत-कलाकारों की बड़ी कद्र थी। राजा मान और उनके उत्तराधिकारियों ने इन कलाकारों को अपने सामंतों के समकक्ष सम्मान देकर रखा था और इन कलाकारों ने इस सम्मान के अनुकूल अपनी कला के स्तर को बराबर वर्द्धमान ही रखा था। इसीलिए बड़े मुहम्मद खां, हद्दू खां, हस्सू खां, छोटे मुहम्मद खां, रहमत खां, शंकर पंडित जैसे गायकों की परंपरा ग्वालियर के दरबार में अक्षुण्ण रूप से चलती रही। हद्दू खां और हस्सू खां के लखनऊनिवासी पिता कादरबख्श की असमय मृत्यु हो जाने से कादरबख्श के पिता नत्थन पीरबख्श (उस जमाने के एक बड़े गायक) ने इन दो बालकों के भरणपोषण का भार संभाला। नत्थन पीरबख्श ग्वालियर के दरबार में ही थे और बड़े मुहम्मद खां से उनकी पुश्तैनी दुश्मनी थी। एक बार ग्वालियर नरेश दौलतराव ने हद्दू-हस्सू खां को बुलवाकर कहा कि तुम भी मुहम्मद खां के समान तानक्रिया में तैयार क्यों नहीं हो जाते? अब बात यह थी कि मुहम्मद खां साहब इन दोनों को सामने बिठाकर गाना सिखानेवाले थे नहीं और महाराज के आदेश का पालन भी तो होना था! हद्दू-हस्सू खां ने महाराज से कहा कि हमें खांसाहब का गाना चार महीनों तक सुनने का अवसर दिया जाए! इसपर महाराज ने तरकीब निकाली और इन दो भाइयों को मुहम्मद खां साहब की चारपाई के नीचे बिठलाकर उनका गाना सुनवाने की व्यवस्था करा दी। दोनों भाइयों ने खांसाहब की गायकी को आत्मसात् करने में बेहिसाब मेहनत की और उसमें कोई कसर उठा न रखी। महीने गुजर गए और महाराज ने एक बड़ी सभा बुलाकर हद्दू-हस्सू खां का गाना करवाया। मुहम्मद खांसाहब अपनी गायकी की हू-ब-हू नकल सुन कर अचंभित तो हुए ही, उससे बढ़कर अप्रसन्न हो गए और भरी सभा में बोल उठे, "मुझसे दगा की गयी है। अब मैं यहां पर कभी नौकरी नहीं करूंगा।" कुछ दिन बाद वे रीवां नरेश के दरबार में तैनात हुए और वहां भी उन्हें यथोचित

सम्मान और आदर मिलता रहा।

दौलतराव सिंदिया के उत्तराधिकारी महाराज जयाजीराव सिंदिया भी महान संगीत-रसिक थे। उन्होंने हद्दू खां, हस्सू खां और उनके चचेरे भाई उस्ताद नत्थे ख़ां को पांच-पांच सौ की तनख्वाह पर दरबार में तैनात किया था।'नत्थे खां अपने समय के उद्भट विद्वान एवं लोकप्रिय कलाकार थे। यह भी कहा जाता है कि महाराज जयाजी-राव ने नत्थे खां को अपना गुरु मानकर उनका गंडा बांध लिया था। उन्हें दरबार में आने-जाने के लिए हाथी की सवारी प्रदान की गयी थी और घर के उपयोग के लिए चांदी के बर्तन दिए गए थे।

उस्ताद हद्दू खां ने संगीत-साधना में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। इस साधना में व्याघात न हो इसलिए उन्होंने बहुत वर्षों तक ब्याह नहीं किया। मरने के पूर्व एक महीने तक रोजाना छः-छः घंटों का अभ्यास जारी ही था। पूछने पर कहते कि लोग मुझे बूढ़ा कहें तो वह ठीक ही है; लेकिन वे मेरे गाने को बूढ़ा कहें, यह मुझसे बर्दाश्त नहीं होता। हद्दू खां साहब ने अपने बड़े बेटे मुहम्मद खां को खास तालीम दी थी। जब वह 'तैयार' हो गया तब तालज्ञान में गहराई प्राप्त करने के लिए उन्होंने उसे इन्दौरनरेश तुकोजीराव होलकर के दरबारवादक और पखावज व तबले के अधिकारी नानासाहब पानसे के पास भेज दिया। मुहम्मद खां साहब ने आगे चलकर बड़ौदा, बंबई आदि स्थानों का दौरा किया। उनके साथ उनके गुरुभाई के शिष्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर भी थे। खांसाहब ने बालकृष्णबुवा को इस काल में भरपूर तालीम दी थी। किंतु अतिरिक्त मदिरा-सेवन से वे असमय ही चल बसे। उनकी मृत्यु के आघात से हद्दू खां भी शीघ्र ही पैगंबरवासी हो गए। इससे मुहम्मद खां के छोटे भाई रहमत खां निराधार हो गए। उन्हें भी हद्दू खांसाहब ने अच्छी तालीम दी थी। परंतु अपनी असहायता के कारण उनकी हालत बिगड़ गयी और वे मनोरुग्ण हो गये। बराबर अफीम के चक्कर में रहते और इधर-उधर गाना गाकर ज्यों-त्यों गुजारा करते। कुछ ही दिनों में काशी में उन्हींके गुरुबंधु और महाराष्ट्र में कुरुंदवाड़ के निवासी सर्कस चालक विष्णुपंत छत्रे ने उन्हें पहचान लिया और छोटे भैया मानकर आखिर तक उन्हें आधार दिया। वे रहमत खां को कुरुंदवाड़ ले गए, जहां वे राजगायक के रूप में रियासत दरबार को रोशन करते रहे।

और यही वह दूसरा सूत्र है जो महाराष्ट्र के साथ उस्ताद रहमत खां का और उनके द्वारा ग्वालियर गायन परंपरा का रिश्ता जोड़ता है। यह तो बड़े संयोग की बात है कि हद्दू खां के पुत्र रहमत खां और वासुदेवराव जोशी के शिष्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर एक ही समय में और बिलकुल दो पड़ोसी रियासतों में अपने संगीत का प्रदर्शन

कर रहे थे। और आगे चल कर हम यह देखनेवाले हैं कि इन दो महान् गायकों के संस्कार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में पं. विनायकराव जी को प्राप्त हुए।

वस्तुतः इस बात को संयोग मानने की भी जरूरत नहीं। क्योंकि जिस प्रकार ग्वालियर में संगीत-कला को सम्मान प्राप्त था, उसी प्रकार महाराष्ट्र तथा उत्तर कर्नाटक की कतिपय रियासतों में गायक–वादकों को राजगायक–वादक के रूप में ससम्मान रखा गया था। उदाहरणार्थ, कोल्हापुर या करवीर रियासत में जयपुर घराने के कौस्तुभमणि उस्ताद अल्लादिया खां मौजूद थे तो बड़ौदा रियासत में आगरा घराने के फैज मुहम्मद खां और उनके बाद उस्ताद फैयाज खां दरबार गायक रहे। किराना घराने के विख्यात गायक उस्ताद अब्दुल करीम खां ने भी बड़ौदा रियासत में तीन-चार साल के लिए हाजिरी बजायी थी।

महाराष्ट्र में कोल्हापुर के अतिरिक्त कुरुंदवाड तथा मिरज रियासतों और इचलकरंजी, औंध, गगनबावडा जैसी जागीरों में गायक-वादकों के लिए विशिष्ट स्थान था। महाराष्ट्र के इन राजाओं को दो बातों में विशेष रुचि थी, एक संगीतकला और दूसरी मल्लविद्या। अतः इन राज्यों में गायकों के साथ मल्लयोद्धाओं या पहलवानों को भी आश्रय मिलता था। उस्ताद हद्दू खां के पुत्र भूगंधर्व रहमत खां का जिक्र ऊपर आया ही है। वे रियासत कुरुंदवाड में थे तो बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर कुरुंदवाड से १८ मील के फासले पर मिरज रियासत में दरबार गायक थे। उधर उत्तर कर्नाटक में रियासत रामदुर्ग में तथा जागीर जमखिंडी और कुंदगोल में भी संगीत को आश्रय प्राप्त था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बीसवीं सदी के पूर्व दो तीन दशकों से लेकर हिंदुस्थानी संगीत को जो आश्रय और प्रोत्साहन मिला, उसमें इन रियासतों का बहुत बड़ा योग-दान है। खासकर महाराष्ट्र में इस संगीत का जो प्रचार-प्रसार और विकास हुआ, वह कोल्हापुर, मिरज, कुरुंदवाड़, औंध आदि रियासतों की बदौलत ही हुआ। अगर इन रियासतों के शासक इन गायकों का योगक्षेम वहन न करते, तो उनके लिए आजीविका का कोई साधन ही न मिलता और यह स्वर्गीय विद्या अस्तंगत हो जाती। हां, यह दूसरी बात है कि ग्वालियर–इन्दौर–देवास की तुलना में (जहां ७०–७५ वर्ष पूर्व के जमाने में गवैयों पर हजारों रुपये लुटाए जाते थे) इन छोटी महाराष्ट्रीय रियासतों की आर्थिक शक्ति मर्यादित थी। तथापि इन रियासतों ने अपनी मर्यादित शक्ति में ही ऐसा महान कार्य किया कि उसके मधुर फल समस्त संगीत-क्षेत्र को आज प्राप्त हो रहे हैं। यह वही महान् कार्य था जिसका पुण्य-फल पं. विष्णु दिगंबर और उनकी शिष्यपरंपरा के रूप में भारत को प्राप्त हो सका। इसीलिए इस मिरज रियासत को थोड़ा निकट से जान लेना आवश्यक है।

रियासत मिरज

मिरज गांव, जो आज एक छोटा शहर बन गया है, पुणे शहर से लगभग २५० किलोमीटर पर पड़ता है। मिरज के दक्षिण में २० किलोमीटर पर एक दूसरी रियासत कुरुंदवाड है, जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है। मिरज के नरेश श्रीमंत गंगाधरपंत पटवर्धन उर्फ बालासाहब मिरजकर अपने समय के बहुत ही आदर्श शासक थे। अपने राज्य के बहुमुखी विकास के लिए वे निरंतर सजग रहते थे। चारित्रसंपन्न ऐसे कि उस काल के अन्य कुछ नरेशों के समान मदिरा इत्यादि–इत्यादि के व्यसन से पूर्णतः मुक्त थे। इसके साथ ही स्वास्थ्यसंपन्नता उनके व्यक्तित्व का और एक गुण था जो प्रायः तत्कालीन राजा-महाराजाओं में अप्राप्य था। कसरत में उन्हें विशेष रुचि थी। नित्यप्रति योगासन और सूर्यनमस्कार का व्यायाम करते और प्रजाजनों को भी उसके लिए प्रोत्साहित करते। मल्लविद्या में भी बहुत प्रवीण थे; इतने कि पड़ोस के कोल्हापुर रियासत के श्रीमंत शाहू महाराज उन्हें कुश्तियों की दंगल में निर्णायक के रूप में ससम्मान निमंत्रित करते। श्रीमंत बालासाहब को विज्ञान विषय में भी अत्यधिक अभिरुचि थी। उन्होंने अपनी देखरेख में रसायन-विज्ञान की एक अच्छी प्रयोगशाला भी बनायी थी, जो आगे चल कर विलिंग्डन कॉलेज, रियासत सांगली (मिरज से ४ कि. मी.) को सुपुर्द कर दी गयी।

रियासत मिरज में संगीत के लिए पहले से ही प्रोत्साहन मिलता रहा था। श्रीमंत गणपतराव ने मिरज में संगीत के साज बनानेवाली दूकानें खुलवायी थीं। तबसे याने सवासौ वर्ष पूर्व से मिरज में वाद्यों का निर्माण होने लगा था। कुछ ही वर्षों में मिरज में साजों की दूकानों की गली ही बन गयी और भारत में दूर दूर से यहां के वाद्यों के लिए मांग आने लगी। श्रीमंत बालासाहब ने भी इन वाद्यकारों को बहुत बढ़ावा दिया और उन्हें नये नये प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया। पं. विष्णु दिगंबर जो कुछ बने उसके लिए श्रीमंत बालासाहब ही कारणीभूत हुए थे और आगे चलकर पं. विनायकराव जी के प्रेरक और सहायक वे ही रहे।

मिरज में विष्णु जी को संगीत-साधना का अवसर प्राप्त होने के संबंध में एक रोचक संदर्भ है। विष्णु जी को यह शिक्षा-लाभ दो रियासतों की आपसी स्पर्धा के आनुषंगिक फल के रूप में प्राप्त हुआ। मिरज की पड़ोसी रियासत कुरुंदवाड में दो साझे थे– बड़ा साझा और छोटा साझा। विष्णु जी के पिता श्री. दिगंबरबुवा एक कीर्तनकार थे तथा छोटे साझे के राजा दाजीसाहब के कृपापात्र थे। श्रीमंत दाजीसाहब मिरज-नरेश श्रीमंत बालासाहब के साढू थे। इधर कुरुंदवाड के बड़े साझे के राजा श्रीमंत अण्णासाहब ने ग्वालियर घराने

के उस्ताद रहमत खां को आश्रय दिया था। तो मिरज में उसी घराने के पं. बालकृष्ण बुवा राजगायक के रूप में नियुक्त थे। मिरज के राजा बालासाहब ने छोटे युवक विष्णु को अपनी निगरानी में रखवाकर उसे बालकृष्णबुवा के द्वारा संगीत की तालीम दिलवाना आरंभ किया। उधर कुरुंदवाड में श्रीमंत अण्णासाहब ने भी उस्ताद रहमत खां के मार्गदर्शन में दो युवकों की संगीत शिक्षा का प्रबंध कर दिया। बात केवल इतने पर नहीं रुकी तो कौन गुरु क्या सिखा रहा है इसकी भी खुफिया खबर इधर से उधर और उधर से इधर आती रहती और उसके अनुसार युवक विष्णु को संगीत के पाठ उतनी ही गति के साथ देने की जिम्मेदारी पं. बालकृष्णबुवा पर आ पड़ती। बड़े राजाओं की इस अहमहमिका से युवक विष्णु का लाभ ही लाभ हुआ।

इस प्रकार श्रीमंत बालासाहब मिरजकर विष्णु की सांगीतिक प्रगति में बराबर ध्यान दिए हुए थे। विष्णु और उसके गुरु को श्रीमंत के साथ भोजन की खास पंक्ति में नित्य प्रति सम्मिलित किया जाता था। व्यवस्था यह थी कि भोजन के पहले दो घंटे गुरुमहोदय शिष्य को तालीम देंगे और तत्पश्चात् भोजनोपरांत घर लौटेंगे। भोजन के समय मिरज-नरेश बालकृष्णबुवा से पूछा करते कि आज आपने क्या क्या सिखाया अथवा (कुरुंदवाड़ से प्राप्त समाचारों के सिलसिले में) यह भी कहते कि अब आप अमुक राग की तालीम शुरू कर दीजिए। राजासाहब ने भंडारघर को आदेश दे रखा था कि इस युवक को बादाम, दूध, फल वगैरह जितना मांगे उतना दिया जाए। आगे चल कर विष्णु जी रात रात भर रियाज करने लगे तो सरकार द्वारा उन्हें एक खाली पड़ा हुआ घर भी दिलाया गया। श्रीमंत बालासाहब की इस कद्रदानी और अनुग्रह की बातें विष्णु जी अपने शिष्यों को कभी कभी सुनाया करते थे। एक बार विष्णु जी के विख्यात शिष्य पं. ओंकारनाथ ठाकुर को किसी कांग्रेस कान्फरेन्स में पिछली कतार में बिठाया गया, तब उन्होंने जाहिर तौर पर कहा था कि कलाकारों की कद्र करना कोई मिरज के महाराजा से सीखे। मेरे गुरु रियाज के लिए घंटों आसन जमाए बैठते तब कभी कभी स्वयं मिरज-नरेश दूध का प्याला ले कर वहां हाजिर होते और कहते, "विष्णु, तुम थक गए हो, पहले दूध लो।"

इसी बीच विष्णु जी की संगीत-साधना में एक ऐसा व्यवधान उपस्थित हो गया जिसके सुलझाव का रास्ता मिलना एक तरह से असंभव ही था। संगीत-साधना के तीन-एक वर्ष बीत जाने पर विष्णु के पिता दिगंबरबुवा ने पुत्र के पास कुरुंदवाड से संदेश भेज दिया कि अब तक तुमने जो संगीत शिक्षा पायी है, वह हमारे कीर्तन-व्यवसाय के लिए पर्याप्त है। अब तुम्हारा ब्याह भी हुआ है और पत्नी का भार तुम्हीं-को वहन करना है। अतः अपनी संगीत-साधना को विराम दे कर तुम घर चले आना और कीर्तन में मेरा साथ दे कर घर के खर्च में अपना हाथ बंटाना। बड़ी दुरंत समस्या

थी। क्योंकि उस जमाने में पिता की आज्ञा का अर्थ था ब्रह्मा का आदेश। उसकी अवहेलना हो ही नहीं सकती थी। यदि इससे कोई रास्ता न निकलता, तो न विष्णु जी पं. विष्णु दिगंबर बनते न विनायक का विकास 'पं. विनायकराव पटवर्धन' में होता।

महाराष्ट्र की कीर्तन-परंपरा

परंतु इस घटना के संबंध में आगे कुछ बताने से पूर्व महाराष्ट्र की कीर्तन-परंपरा पर यत्किंचित् प्रकाश डालना परमावश्यक है, क्योंकि महाराष्ट्र के सांगीतिक विकास में इस परंपरा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। महाराष्ट्र में प्रधानतः कीर्तन के दो संप्रदाय प्रचलित हैं—एक वारकरी संप्रदाय, जिसके अगुआ संत नामदेव (१४ वीं शती) रहे हैं और जो बहुजन समाज में आजतक समादृत है और दूसरा हरिदासी या नारदी संप्रदाय जिसका विकास गत तीन चार सौ वर्षों में समाज के विकसित वर्गों में होता रहा और जिसकी एक शाखा 'राष्ट्रीय कीर्तन' ने स्वातंत्र्यपूर्व काल में राष्ट्रीय जागृति का दायित्व निभाया। यहां इसी संप्रदाय की बात है। इस हरिदासी संप्रदाय का प्रायः हर कीर्तनकार गायक हुआ करता था। अतः कीर्तनकार के साथ 'बुवा' की उपाधि लग जाने से साहचर्य-नियम के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र के गायकों के साथ भी इसी 'बुवा' उपाधि का प्रयोग होने लगा। विष्णु के पिता दिगंबरबुवा गांव के कीर्तनकार थे। हरिकीर्तन ही उनकी आजीविका का साधन था। उसके लिए यथावश्यक गायन भी कर लेते थे। महाराष्ट्र के कीर्तन की इस परंपरा का स्वरूप भारत के अन्य प्रदेशों की 'कीर्तनसेवा' से कुछ भिन्न है। इस कीर्तन-परंपरा का संबंध महाराष्ट्र के संगीत-विकास के साथ भी जुड़ा हुआ है। महाराष्ट्र के गायकों पर संगीत का पहला संस्कार किसी न किसी कीर्तनकार द्वारा ही हुआ है। विष्णु जी के पिता का उदाहरण तो सामने है ही। उनके गुरु बालकृष्णबुवा ने भी प्रारंभिक संगीत-विद्या कीर्तनकार से ही प्राप्त की थी। सुविख्यात गायिका और वर्तमान गायिकाओं की सिरमौर श्रीमती मोगूबाई कुर्डीकर के प्रथम गुरु कीर्तनकार ही थे। वस्तुतः महाराष्ट्र में हिंदुस्थानी शास्त्रीय संगीत के श्रीगणेश का श्रेय कीर्तन-परंपरा को ही देना होगा। महाराष्ट्र में यह 'कीर्तन' एक विशिष्ट विधा के रूप में अपनाया गया है। यह तो सर्वविदित है कि धर्मशास्त्र में परमात्मा की नवधा भक्ति में कीर्तन अथवा नामसंकीर्तन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। भक्तकवि सूरदास और 'अष्टछाप' के अन्य कवि कीर्तनकार ही थे। उन्होंने स्वयं गीत रचे और उन्हें रागरागिनियों में बांधकर कृष्णचंद्र का लीलागायन किया। बंगाल में कीर्तन लोकनृत्य का एक भेद है। इस भक्तिनाट्य में भक्तगण आत्मविभोर हो उठते हैं। मैथिली भाषा के कीर्तन ने भक्तिनाट्य का रूप धारण किया है, जहां 'कीर्तनिया' रंगमंच पर कृष्णचरित्र अथवा शिवचरित्र को प्रस्तुत करता है। महाराष्ट्र के कीर्तन में इन तीनों शैलियों का मानो समावेश हो गया है और उनके साथ साथ

तत्त्वनिरूपण और कथाकथन के दो आयाम उसमें और जुड़ गए हैं। यों कीर्तन के साथ संगीत का सहज संबंध आरंभ से ही रहा है। किंतु महाराष्ट्र में शास्त्रीय संगीत का कामचलाऊ ज्ञान कीर्तनकार के लिए एक आवश्यक शर्त मानी जाती है। रंजन के माध्यम से प्रबोधन उसकी प्रमुख विशेषता है। गत तीन-चारसौ वर्षों से लेकर महाराष्ट्र में कीर्तन की यह परंपरा आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और उसने-शहरों से लेकर छोटे छोटे गांवों तक लोकशिक्षण और लोकजागृति का दायित्व बड़ी नम्रतापूर्वक और सफलतापूर्वक निभाया है और कीर्तनकारों को आजीविका का एक साधन भी जुटा दिया है।

सफल कीर्तनकार बननेवाले व्यक्ति में गायन, वक्तृत्व, नाट्याभिनय, कथकड़ी शैली, दर्शनों और पुराणों का ज्ञान और इन सब के साथ प्रचलित घटनाओं का समाचारपत्रीय ज्ञान इत्यादि गुण एक साथ रहते हैं। संगीत का ज्ञान इन सब में अत्यावश्यक माना जाता है। इस कीर्तन के दो भाग होते हैं, एक पूर्व रंग और दूसरा उत्तर रंग। पूर्व रंग में कोई आध्यात्मिक या वैचारिक सिद्धांत चुनकर उसका निरूपण किया जाता है और उत्तर रंग में उसी सिद्धांत के अनुरूप किसी पौराणिक कथा का नाट्याभिनययुक्त शैली में प्रस्तुतीकरण होता है। इस पूरे व्याख्यान में आरंभ से अंत-तक संदर्भानुकूल गीत, भजन, श्लोक आदि का हारमोनियम और तबले की संगत पर गायन किया जाता है। बीच बीच में रामधुन भी चलती है। कीर्तनकार के चारों तरफ आबालवृद्ध श्रोतागण सैकड़ों की संख्या में बैठे रहते हैं और बीच के लंबगोल वृत्त में खड़ा होकर, कीर्तनकार, हाथ में करताल ले सफेद धोती, सफेद चोलना और साफा या पुणेरी पगड़ी का वेष धारण किये आगे-पीछे झूमता हुआ बड़ी बुलंद आवाज में अपना संगीतमय प्रवचन प्रस्तुत करता है। साथ में एक सहायक कीर्तनकार भी होता है जो मुख्य कीर्तनकार के पीछे खड़ा होकर गायन में उसका साथ देता है। कीर्तनकार कोई पद गाना शुरू करे तो यह आलाप-तान आदि द्वारा उसका पल्लवन करता है। कीर्तनकार श्लोक का पाठ आरंभ करे तो उसके शेष चरण गाने का काम सहायक का होता है। यही सहायक आगे चल कर स्वतंत्ररूप से कीर्तनकार बन कर अपनी आजीविका चलाने योग्य बन जाता है।

यही कारण था कि विष्णु के पिता दिगंबर दीक्षित (पटवर्धन) ने विष्णु को कीर्तन व्यवसाय में साथ देने के लिए कुरुंदवाड़ लौट आने का संदेश भेजा। इस संदेश के कारण विष्णु के सामने जो गतिरोध की स्थिति पैदा हो गयी, उससे उनकी मुक्तता श्रीमंत बालासाहब की उदारता और कृपादृष्टि की बदौलत ही हो सकी। बालासाहब ने विष्णु को आश्वासन दिया कि तुम्हारी पत्नी के योगक्षेम के लिए हरसाल दो सौ रुपये की व्यवस्था मैं कर देता हूं, तुम अपनी संगीत-साधना को बीच में मत खंडित करना।

यह प्रकारांतर से 'तस्यां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।' के गीतावचन की अभिव्यक्ति ही थी।

यही बढ़ावा और ऐसा ही प्यार पं. विनायकराव जी को भी बचपन से लेकर इन्हीं बालासाहब द्वारा प्राप्त होता रहा और उनके उत्तराधिकारी श्रीमंत नारायणराव उर्फ तात्यासाहब ने भी इस उपक्रम को अबाधित रखा तथा नारायणराव के सुपुत्र विद्यमान श्रीमंत माधवराव उर्फ रावसाहब पटवर्धन ने भी इस कृपात्मक स्नेहभाव में कोई कसर उठा नहीं रखी। इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर संगीत के प्रसार और विकास का कार्य पं. विष्णु दिगंबर के पश्चात् भी उसी लगन, ध्येयधर्मिता आवेश और ऊर्जा के साथ करने में पं. विनायकराव जी को सफलता प्राप्त हो सकी।

कीर्तनसंबंधी इस उपाख्यान को समाप्त करने से पहले इसके कुछ आनुषंगिक परिणामों का उल्लेख करना होगा। इस कीर्तन-परंपरा का परिणाम प्रत्यक्ष रूप से पं. विष्णु दिगंबर पर तथा अप्रत्यक्ष रूप से पं. विनायकराव जी पर हुए बिना नहीं रहा। पहली बात यह कि विष्णु जी के समस्त कार्य के पीछे जो आध्यात्मिक पृष्ठभूमि थी, वह कीर्तन के संस्कारों का फल थी। ग्वालियर घराने की विष्णु दिगंबर परंपरा में भजन-गायन को जो विशेष स्थान प्राप्त है, उसकी जडें कहीं इसी कीर्तन-संस्कार में खोजी जा सकती हैं। इसी प्रकार उस जमाने के महाराष्ट्रीय गायकों में बुलन्द आवाज की जो पृथगात्म विशेषता थी, उसका कारण भी कीर्तन-गायन की शैली में पाया जा सकता है। पं. विष्णु दिगंबर की आवाज तो अपनी बुलन्दी के लिए सुविख्यात थी ही, पं. विनायकराव जी की आवाज में भी यह गुणधर्म पर्याप्त मात्रा में 'उतर' आया था। इस परंपरा का एक अन्य परिणाम भी लक्षित कराना जरूरी है और वह यह कि मराठी संगीत रंगमंच के लिए प्रेरणा इसी परंपरा से मिली। और संयोग की बात यह कि इस मराठी संगीत रंगमंच पर पं. विनायकराव जी दस वर्ष तक पूरी आभा के साथ चमकते रहे।

इस प्रोत्साहनपरक परिस्थिति के लिए दो साधारण किंतु मार्मिक घटनाएं कारणीभूत हुई थीं, जिनके कारण विष्णु जी को बालकृष्णबुवा जैसे गुरु का लाभ हो सका। और इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में (पुनश्च) मिरज रियासत का ही अनुग्रह परोक्ष-अपरोक्ष रूप में रहा। वस्तुतः बालकृष्णबुवा मिरज के निवासी नहीं थे। वे तो इचलकरंजी नामक जागीर में रहते थे। इस जागीर के राजा श्रीमंत बाबासाहब घोरपडे भी बहुत अच्छे कद्रदान और दानी शासक थे। पं. बालकृष्णबुवा को वे क्यों न आश्रय देते! किंतु वहां की जलवायु बालकृष्णबुवा की दमे की बीमारी के अनुकूल नहीं बैठती थी। किसीसे पता चला कि मिरज-नरेश बालासाहब के पास इस मर्ज का रामबाण

इलाज है। बालकृष्णबुवा मिरज आए। यह दवा बालासाहब के अनुग्रहीत एक पहलवान को ज्ञात थी। इलाज हुआ और एकदम कारगर साबित हुआ। बुवासाहब को सलाह दी गई कि आपको हवाबदल करनी होगी। इधर श्रीमंत बालासाहब ने भी प्रस्ताव रखा कि यदि आप मेरे राज्य में रहेंगे तो आपको दरबार-गायक की हैसियत से नौकरी दी जाएगी। याने यह कि इस तरह से बालकृष्णबुवा पर बालासाहब का दोहरा एहसान रहा। एक तो दमे की व्याधि से मुक्ति और दूसरा अन्नजल का प्रबंध।

यह सब कथन करने का उद्देश्य यह था कि पं. बालकृष्णबुवा के इस कमजोर पक्ष के कारण ही युवक विष्णु की शिक्षादीक्षा अधिक लगन के साथ हुई। अन्यथा उस जमाने के संगीत गुरुओं का कृपाप्रसाद पाने के लिए शिष्यों को बहुत लंबी तपस्या करनी पड़ती थी। स्वयं बालकृष्णबुवा ने क्या कम कष्ट पाया था और क्या कम अपमान उठाया था? मिरज में पं. बालकृष्णबुवा के घर पर भी संगीत-शिक्षा का कार्य चलता था और विष्णुजी उस जमाने की प्रथानुसार गुरुगृह में ही रहते थे। वहां उन्हें गुरु के घर का बहुत सारा कष्टकर काम– लकड़ी फाड़ना, पानी ढोना आदि– करना पड़ता था। फिर वे औरों से ज्यादा हट्टेकट्टे थे, इसलिए कुछ ज्यादा ही काम उन्हें करना पड़ता। हां, लेकिन गनीमत थी कि पं. बालकृष्णबुवा अपने समकालीन और पूर्ववर्ती अन्य उस्तादों के समान विद्याकृपण और कृपाकठोर नहीं थे। ऐसे उस्तादों के शागिर्दों की यातनाभरी कहानियां संगीत-क्षेत्र के लोगों से छिपी नहीं हैं। गुरु से पहले जाग कर उनका हुक्का भरना, उनके 'पीने' की व्यवस्था करना, उनका पीकदान चकाचक साफ करना, घर बुहारना, बच्चों को संभालना, गुरु के पैर दबाना, उनकी कमर चापना और उठते बैठते दुर्वचन सहना और इतना सब कर गुजरने के बावजूद तालीम के नाम पर महीनों तक एक भी ज्ञानकण न प्राप्त कर सकना—इस प्रकार के यातनाचक्र से पुराने जमाने के कितने ही होनहार संगीतसाधक गुजरे हैं।

इस पृष्ठभूमि पर विष्णु जी को बड़ी सुविधापूर्वक तालीम प्राप्त हो सकी, जिसका श्रेय श्रीमंत बालासाहब की कृपादृष्टि को देना होगा। लेकिन इस कृपादृष्टि के लिए एक दूसरी घटना कारणीभूत हुई थी। यह विष्णु के बचपन की बात है। कुरुंदवाड में बालक विष्णु रियासत के राजकुमार के साथ खेल रहा था। बच्चे पटाखे उड़ा रहे थे। एक गीले पटाखे को नजदीक से फूंक मार कर उड़ाने की कोशिश की तो बारूद के स्फोट से विष्णुका मुंह झुलस गया। तुरंत श्रीमंत दाजीसाहब ने मिरज के डॉक्टर से इलाज करवाया। मुंह तो पूर्ववत् हो गया, पर आंखें कमजोर रहीं। अब आगे की शिक्षा का क्या होगा? विष्णु का इलाज करनेवाले भड़भड़े नामक डॉक्टर गाने के शौकीन थे। उन्होंने सलाह दी कि यह बालक संगीत की साधना करेगा तो बड़ा नाम कमाएगा। संयोगवश मिरज में पं. बालकृष्णबुवा राजगायक नियुक्त हो ही गए थे।

श्रीमंत बालासाहब के आदेश से वे विष्णु के गुरु बन गए और ७–८ वर्ष तक उनके मार्गदर्शन में विष्णु ने विधिवत् संगीत का प्रशिक्षण प्राप्त किया।

उपर्युक्त संयोगात्मक घटनाओं के फलस्वरूप उच्च कोटि के संगीत के साथ मिरज का जो गठबंधन हो गया, उसका आनुषंगिक लाभ पं. विनायकराव पटवर्धन को अपने बालवयस में ही प्राप्त हुआ। परंतु विनायकराव जी ने संगीत के क्षेत्र में जो महान् कार्य किया, उसका श्रेय केवल इस सांगीतिक अनुकूलता को ही नहीं देना चाहिए। उनके चरित्र-गठन और व्यक्तित्व-विकास में तीन घटकों का योगदान लक्षणीय है। इसमें एक है श्रीमंत बालासाहब का अनुग्रह, जिसके संबंध में काफी कुछ कहा गया है। दूसरा है महान् गुरु पं. विष्णु दिगंबर की संगति में सांदीपनी के कृष्ण की तरह रहने का अवसर और तीसरा घटक है पारिवारिक संस्कार।

पटवर्धन घराना

पं. विनायकराव जी का जन्म जिस 'दीक्षित-पटवर्धन' नामक कुलीन परिवार में हुआ उस पटवर्धन घराने के संबंध में कुछ बताने के पूर्व पृष्ठभूमि के तौर पर महाराष्ट्र के विकसित मध्य वित्त वर्ग की सर्वसामान्य विशेषताओं का बयान करना असंगत नहीं होगा; क्योंकि 'दीक्षित पटवर्धन' परिवार इस वर्ग का ही एक प्रतिनिधि था। महाराष्ट्र प्रदेश की सबसे लक्षणीय विशेषता यह रही है कि यहां पहले जमाने से लेकर अद्यावधि जीवन के समस्त अंगों से संबंधित गतिविधियों की बागड़ोर उच्च एवं निम्न मध्यम वर्ग के हाथ में रही है। राजनीति में लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के गुरु गोपाल कृष्ण गोखले, साहित्य में हरिभाऊ आपटे और केशवसुत, संस्कृत विद्या-ध्ययन में सर राम कृष्ण भांडारकर, समाज-सुधार में गोपालराव आगरकर और महात्मा फुले, संगीत के क्षेत्र में 'चतुरपंडित' विष्णु नारायण भातखंडे और पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर और इसी प्रकार के अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक ऊंची आत्माओं ने महाराष्ट्र के इतिहास का निर्माण किया है।

इस मध्य वित्त वर्ग की विकास-यात्रा में समन्वित रूप से तीन उपासनाएं अनुस्यूत रही हैं—विद्योपासना, बलोपासना एवं कलोपासना। एक तरफ महाराष्ट्र पर शिवाजी महाराज के आत्मगौरव तथा स्वाधीनतावाद का संस्कार है तो दूसरी तरफ समर्थ रामदास की समाजसेवा और बलोपासना का संस्कार है। इसीमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि संतों की ज्ञानात्मक भक्तिभावना का भी संस्कार जुड़ा हुआ है। कलोपासना का संस्कार महाराष्ट्र ने बाहर से ग्रहण किया किंतु उस कला को वासनात्मक चोंचलों का साधन न बनाकर उसे सांस्कृतिक अभ्युदय का आधार बनाने की साधना महाराष्ट्र ने अपने बुद्धिवाद और सच्चरित्रसंपन्नता के बल पर की है।

स्वातंत्र्यपूर्व काल में महाराष्ट्र के तत्कालीन मध्यम वर्ग के परिवारों में अनेक विशेषताएं विद्यमान थीं। ये लोग पारिवारिक अनुशासन के बड़े कायल थे। धार्मिकता और सादगी का मानो इन घरों पर पहरा था। ऐसा एक भी घर नहीं था जहां नित्यप्रति दोनों समय पूजापाठ, आरती वगैरह न होते हों। स्वावलंबन इनका एक और विशेष गुण था। एक तरफ ये लोग रूढिप्रिय थे तो दूसरी ओर विद्या के क्षेत्र में बड़े प्रगतिशील और साहसी थे। सादा आचार और उच्च विचार इनका बाना था। धनी मध्यमवर्गीय भी ऐयाशी और फिजूलखर्ची से बराबर दूर रहते। एक एक पाई को जोड़ते रहना और उसके लिए आत्यंतिक मितव्ययिता को जीवन का अटल नियम बनाना मानो इनका ध्येय था। इस पूरी गुणसंपदा में और दो प्रवृत्तियों ने चार चांद लगा दिए थे—अनुशासन और शुचिता। प्रायः प्रत्येक घर के बालकों तथा युवकों पर यह बंधन था कि वे सुबह जल्दी जागेंगे, कुएं के ठंडे पानी से नहाएंगे, उसके बाद संध्यावंदन करेंगे और सूर्यनमस्कार–दंड–बैठक आदि कसरत करेंगे। घर का हर सदस्य अपने कपड़े खुद धोएगा और जहां तक हो सके अपना काम किसी दूसरे से न करा लेगा। ध्येयनिष्ठा और आत्मसम्मान इस वर्ग के और दो विशेष गुण रहे हैं। यहां के अनेक प्रातिनिधिक परिवार किसी न किसी राष्ट्रीय–सांस्कृतिक ध्येय से बराबर कार्यप्रवण रहते आये हैं। शोध-कार्य और विद्याध्ययन के पीछे अपनी सारी जायदाद लुटानेवाले विद्वानों की भी यहां कमी नहीं। आत्मसम्मान ऐसा कि टूट जाएंगे किंतु अपने तत्त्व से किनारे नहीं हटेंगे। और हृदय की पवित्रता के बारे में तो कहना ही क्या! इसे गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में ही वर्णित किया जा सकता है—

बालकांड के एक प्रसंग में जनकपुरी के उपवन में बालयुवक रामचंद्र के प्रथम बार सीता से चार लोचन होते हैं, तब वे अपने अनुज लक्ष्मण से कहते हैं—

रघुवंसिन्हकर सहज सुभाऊ। मन कुपंथु पग धरइ न कोऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी। नहि पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन जिनके लहहिं न नाहीं। ते नरवर थोरे जग माहीं॥

(रघुवंशियों का यह सहज स्वभाव है कि उनका मन कभी कुपथगामी नहीं बनता। मुझे पक्का विश्वास है कि इस वंश के किसीने भी सपने तक में परनारी पर आंख नहीं उठायी है। युद्ध में शत्रु को इनकी पीठ कभी दिखाई नहीं देती। इनके मन या दृष्टि पर परनारी का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। याचक को इनके घर से कभी 'नहीं' शब्द सुनना नहीं पड़ता।...)

यह सारा वर्णन कितना उदात्त है! यह समूचा वर्णन महाराष्ट्र के तत्कालीन

प्रातिनिधिक मध्य-वित्त परिवारों पर भलीभांति चरितार्थ होता है। यहां पर प्रस्तुत बात यह है कि पं. विनायकराव पटवर्धन को यह सारी गुणसंपदा विरासत में प्राप्त हुई थी।

हम यह कह सकते हैं कि 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' (शुचित्व-संपन्न और संभ्रांत परिवार में योगभ्रष्ट आत्मा को पुनः जन्म प्राप्त होता है।) का गीतावचन पं. विनायकराव जी के बारे में प्रकारांतर से चरितार्थ होता है। उन्होंने जीवन-भर संगीत-योग-साधना ही की। गुरु ने जो दिया उसे और अधिक ऊर्जस्वित कर के उन्होंने भारत देश को लौटा दिया। वे मानो अपने गुरु की प्रतिमूर्ति थे। गुरु के प्रति वैसी ही जाज्वल्य निष्ठा, वैसी ही ध्येयधर्मिता, वैसा ही आत्मगौरवयुक्त स्वभाव, वैसी ही चारित्रसंपन्नता और वैसी ही कर्मठता। ऐसे नायाब गुण अनायास किसीके व्यक्तित्व में अवतरित नहीं होते। उसके लिए वैसी ही भूमि और वैसे संस्कारों की नितांत आवश्यकता होती है। पटवर्धन घराना मिरज में पीढ़ियों से प्रसिद्ध है। राजा और प्रजा दोनों में यह उपनाम प्रचलित था। महाराष्ट्र के ब्राह्मणों में तीन वर्ग मिलते हैं: चित्तपावन, कराडे और देशस्थ। पटवर्धन उपनाम प्रथम तथा द्वितीय वर्ग में आता है। मिरज कुरुंदवाड, जमाखिंडी (कर्नाटक) आदि रियासतों के राजवंश का उपनाम पटवर्धन ही है। इन सब घरानों का आपसी रिश्ता है। विनायकराव जी का घराना जिस 'दीक्षित–पटवर्धन' नाम से पहचाना जाता है उस वंश के कुछ लोग सिर्फ दीक्षित उपनाम का ही उपयोग करते पाए जाते हैं। 'पटवर्धन' नामाभिधान संभवतः व्यवसायवाचक है। कहा जाता है कि इस उपनाम का सूत्रपात गोवा में १२ वीं शताब्दी में हुआ। 'पटवर्धन' का अर्थ है पट का वर्धन करनेवाला याने कपड़े के आकार को बदलनेवाला। 'पटवर्धन' का संबंध द्रौपदी को वस्त्र पूरनेवाले श्रीकृष्ण के साथ भी जोड़ा जाता है, किंतु वह आलंकारिक तौरपर ही मानना चाहिए। अस्तु।

ये दीक्षित-पटवर्धन दशग्रंथी ब्राह्मण थे। इनका पैतृक व्यवसाय धार्मिक कार्य संपन्न करना था। घरपर अग्निहोत्र सुरक्षित था। विनायक के दादा लब्धप्रतिष्ठ महाजन थे। खेती-बाड़ी भी कम अधिक मात्रा में थी। परिवार किसी विशाल वटवृक्ष की तरह विस्तृत था। महज बच्चों की गिनती करेंगे तो तीस-चालीस तक आसानी से पहुंचती थी। इतने सब बालबच्चों को मिठाई खिलाने जैसा एक साधारण काम भी कितना मुश्किल गुजरता होगा! लेकिन विनायकराव जी खुद बताया करते थे कि हमारे दादा ने किसी हलवाई को माकूल–सी रकम कर्ज के रूप में दी थी। मूलधन साबित ही रहा था, इसलिए उसके सूद के रूप में हलवाई की ओर से मिठाई की आपूर्ति (सप्लाई) होती थी। सारांश यह कि 'शुचीनां श्रीमताम्' की शर्त पूरी करनेवाला यह खानदान था। सभी जन सुविद्य थे, पुराने रीतिरिवाजों को संभालनेवाले और धार्मिक प्रवृत्ति का अवलंब करनेवाले।

परंतु विनायकराव जी के पूर्वजों में गायक-वादक नहीं के बराबर ही थे। केवल दो व्यक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है—गुरुदेव जी पटवर्धन और केशवराव पटवर्धन। ये दोनों विनायकराव जी के चाचा ही लगते थे। गुरुदेव जी पटवर्धन पखावज वादन में अत्यंत निपुण थे। और लाहौर तथा बंबई में पं. विष्णु दिगंबर के विद्यालय में उन्होंने प्रमुख सहायक तथा तालवाद्य के शिक्षक के रूप में अपनी सेवाएं समर्पित की थीं। श्रीमान केशव कृष्ण पटवर्धन ने पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर से संगीत की शिक्षा पायी थी और वे मिरज में 'गणेश संगीत विद्यालय' के द्वारा संगीत शिक्षा का कार्य करते थे। संगीत शिक्षा का आरंभ यहां गांधर्व महाविद्यालय परिपाटी के अनुसार 'गाइए गणपति' की बंदिश से ही होता था। इस विद्यालय में अन्य छात्रों के साथ विनायक भी जाता था। पंडित जी की माता गंगाबाई तथा केशवराव की माता (वैदिक पंडित कृष्णराव दीक्षित की पत्नी) राधाबाई मौसेरी बहनें थीं। मिरज छोड़ते समय पं. विष्णु दिगंबर को केशवराव से ही आर्थिक सहायता मिली थी। यही संबंध आगे विनायक के लाहौर-प्रयाण के लिए सहायक हुआ।

इस 'दीक्षित-पटवर्धन' घराने का मिरज रियासत के साथ और खासकर राजपरिवार के साथ धार्मिक गुरु या राज-उपाध्याय की हैसियत से काफी घनिष्ठ संबंध था। विनायकराव जी के बंधु गोविंद जी दीक्षित आखिर तक भिक्षुकी व्यवसाय में ही रहे। राजघराने से संबंधित रहने से समाज में भी इन लोगों को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी। विनायकराव जी अपने बालवयस में राजवाड़े पर खेलने-खाने भी जाते थे। श्रीमंत बालासाहब के पुत्र श्रीमंत नारायणराव और विनायकराव जी का जन्म १८९८ में ही हुआ था। यद्यपि विनायकराव जी बचपन में ही लाहौर चले गये तथापि परवर्ती काल में इन दोनों में पर्याप्त स्नेहभाव विकसित हुआ था। पं. विनायकराव जी के द्वारा आयोजित एक समारोह में श्रीमंत सरकार नारायणराव ने जो भाषण दिया था, उसमें इसका संकेत मिलता है। यथावसर उसका अधिक बयान आगे होगा।

तो, ऐसे संपन्न परिवार में विनायक का जन्म २२ जुलाई १८९८ को हुआ। विनायकराव जी के चरित्रगठन में उनके घरेलू संस्कारों का नितांत महत्त्व रहा। स्नानोत्तर स्तोत्र पठन, सूर्यनमस्कारादि व्यायाम तथा अपने कपड़े आप धोने का उपक्रम आदि को उन्होंने जीवनभर निरपवाद रूप से निभाया। चुनौतियों को स्वीकारने की एवं सत्यवादिता और सच्चरित्रता पर अड़िग रहने की जो स्वभावगत विशेषताएं उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होती रहीं, उनका उद्‌गमस्रोत उनके पैतृक संस्कारों में पाया जाएगा। यह तो निर्विवाद है कि उनके सांगीतिक व्यक्तित्व के निर्माण का श्रेय पं. विष्णु दिगंबर को ही है। किंतु इन दो घटकों के बीच मिरज रियासत के कृपाछत्र का भी कम महत्त्व नहीं था, जिसके संबंध में कुछ विवेचन पहले हो चुका है। आगे के पृष्ठों में भी कुछ विशिष्ट घटनाओं के संदर्भ में उसका जिक्र होता रहेगा।

पं. विनायकराव जी ने हिंदुस्थानी संगीत के प्रसार और विस्तार का जो महनीय कार्य किया वह अपने समर्थ गुरु के पावन पदचिह्नों पर चल कर ही किया। कर्तृत्व-संपन्न व्यक्तियों की जीवनधारा का प्रवाह अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में से गुजरता है। अनुकूलताएं उनके मार्ग को प्रशस्त कर देती हैं, तो प्रतिकूलताएं उनकी परीक्षा ले कर तपे हुए सोने की तरह उनकी सुप्त सामर्थ्य की आभा को और भी विकीर्ण कर देती हैं। यह तथ्य पं. विष्णु दिगंबर के जीवन पर जिस प्रकार चरितार्थ हुआ प्रकारांतर से वह पं. विनायकराव जी के जीवन पर भी चरितार्थ हुआ। इस दृष्टि से पं. विष्णु दिगंबर के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हुए बिना पं. विनायकराव के जीवन-चरित्र का सही आकलन और मूल्यांकन नहीं हो सकेगा।

महनीय गुरु का संगीत आंदोलन

पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूतों में अग्रणी हैं। उनके जन्म के समय संगीत की स्थिति कई कारणों से चिंताजनक थी। एक तो यह कि संगीत या तो राजमहलों में कैद था या तवायफों की कोठियों पर उसका बाजार लगता था। राजमहलों में अलबत्ता गायक-वादकों की पूछताछ होती थी; किंतु वह शासकों और उनके मातहतों की चित्तलहरी का मामला था। राजकृपा कब राजकोप में बदल जाए, इसका कोई भरोसा नहीं था। फिर भी संगीत को सुरक्षित रखने का श्रेय इन्हींको देना होगा। लेकिन इसके जो आनुषंगिक परिणाम हुए, वह संगीत के लिए हितकर नहीं थे। एक तो राजदरबार के ऐकांतिक आश्रय के कारण जन-सामान्य से संगीत का संबंध टूट-सा गया था और दूसरे यह कि राजाश्रय के कारण गायक-वादक कलाकारों में एक फक्कड़ाना लापरवाही आ गयी थी। वे अपने सांस्कृतिक दायित्व की ओर से आंखें मूंदे हुए थे। विद्या को छिपा-छिपाकर रखते थे। शागिर्द तक में अंधानुकरण के सिवा और कुछ भी कर सकने की हिम्मत नहीं थी। न तो राग का नाम पूछ सकते थे, न बंदिशों के सही शब्द जान सकते थे और न राग में वादी-संवादी, आरोह-अवरोह आदि के बारे में कुछ पता कर पाते थे। उस्ताद जब मर्जी और जो मर्जी जो कुछ सिखाएगा उसीपर संतोष मान कर उन्हें अगले ज्ञानकण की ताक में मेघप्यासे चातक की तरह रह जाना पड़ता था। इने-गिने अपवाद छोड़ दें तो उस्तादों में चरस, गांजे, शराब आदि का चस्का, धनलिप्सा तथा शागिर्दों की असहायता का नाजायज लाभ पाने की प्रवृत्ति आदि कई व्यक्तिगत दोष पैदा हुए थे। इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप संगीतसाधना के लिए उत्सुक अनेकों युवकों को आंसू बहाने पड़े हैं, उनपर आत्महत्या पर उतर आने की

बारी आयी है। पिछले पृष्ठों में इन यंत्रणाओं के बारे में कुछ उल्लेख हुआ ही है। पं. रविशंकर के गुरु अल्लाउद्दिन खांसाहब ने अपनी कहानी, अपनी जबानी बतायी है। उसे पढ़ने पर इसका अनुमान हो सकता है कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संगीत साधना किस तरह 'सूली ऊपर सेज' थी। अल्लाउद्दिन जी सरोद वादक उस्ताद अहमद अली के पास गंडाबंध शिष्य बन कर आठ साल रहे; फिर भी विद्या के नाम पर कुछ नहीं पा सके। दूर से सुनकर कुछ अनुकरण करते तो उस्ताद फटकारते कि तुम मेरी विद्या चुराते हो। रामपुर रियासत के वादक अहमद अली साहब के वालिद के पास भी वे रहे। उन्होंने तो उन्हें कोरा जवाब ही दे दिया। वजह क्या हुई? अल्लाउद्दिन के गंडाबंध गुरु को अपने मानधन के पैसे शागिर्दों के पास रखने की आदत थी। अल्लाउद्दिन ने चार साल में बचत कर के पांच हजार रुपये जमा किए और वे उनके वालिद के यहां एक मुश्त वापस लौटा दिए। वालिद ने अल्लाउद्दिन को फटकार के स्वर में कहा, "तू मनुष्य कोटि का जीव ही नहीं है। तू विद्या सीखता नहीं खाता है। इधर मैंने कोई राग बजाया उधर तूने उसे निगल लिया। तू मांस-भक्षण नहीं करता, तुझे गांजे-चरस जैसा कोई चस्का नहीं और पैसों के बारे में तो तेरी यह हद दर्जे की ईमानदारी! जा मैं तुझे कभी नहीं सिखाऊंगा...।"

संगीत की ऐसी दारुण अवस्था थी। कैसे उसका विकास हो पाता? और समाज भी ऐसे सनकी, लतखोर और असंस्कृत कलाकारों को क्यों सम्मान देता? समाज तो उनसे चार हाथ दूर रहने में ही गनीमत मानता था। इसके फलस्वरूप संगीतकला के बारे में ही जनसाधारण में एक मनोग्रंथि पैदा हो गयी थी। सबसे जटिल समस्या यह थी कि सीखने-सिखाने की बात तो दरकिनार संगीत विद्या का खुले तौर पर प्रदर्शन और उसका आस्वादन भी हो नहीं सकता था।

पं. विष्णु दिगंबर को इस भयावह स्थिति का सामना करना था और उन्होंने मिरज से १८९६ में जो महाप्रस्थान किया वह इस चुनौती को भली भांति ध्यान में रख कर ही किया। संगीत क्षेत्र के लिए पंडित जी महाराज का सबसे बडा योगदान यह रहा कि उन्होंने संगीत की सुरसरिता को जनसामान्य के घरों तक प्रवाहित कर दिया। राग-रागिनियों, बंदिशों और उनके सीखने-सिखाने के बारे में संशय और भय के जो बादल छाए हुए थे, वे उनके प्रयत्नों से हट गए। संगीत की प्राणवान् रोशनी से समस्त वातावरण नवप्रकाशित हो गया। आठ साल तक गुरु के मार्गदर्शन में उन्होंने जो विद्या पायी, उसे अथक मेहनत से अपने अधिकार में कर लिया और बड़ौदा में जाकर वहां के राम मंदिर में सभी नागरिकों को न्योता देकर अपना गाना सुनाया। संभवतः संगीत में यह पहला ही अवसर था जब सामान्य जनों के लिए खुले तौर पर उस्तादी गायन

सुनने का मौका मिला हो। वहां से वे आगे बढ़े और मथुरा पहुंच कर उन्होंने स्वरलेखन पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया और संगीत को लिपिबद्ध करने की कला को हस्तगत कर लिया। इतना ही नहीं तो उसकी पुस्तकें भी लाहौर में जा कर छपवायीं। संगीत-मुक्ति तथा संगीत-प्रतिष्ठा के अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए लाहौर में ही उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की और सगीत, जो अब तक केवल उस्ताद-केंद्रित थ उसे विद्यालय-केंद्रित बनाने में पहल कर दी। विद्यालय बना तो उसके साथ उसकी सारी व्यवस्था भी आ गयी। समय की पाबंदी, समयसारिणी, पाठ्यक्रम, अध्यापकों की आचार-संहिता, अन्यान्य वाद्यों का प्रबंध, पाठ्यपुस्तकें, परीक्षा, प्रमाणपत्र इत्यादि संस्थांतर्गत शिक्षा के जो आवश्यक अंग हैं, उन सबका अंतर्भाव इस संगीत विद्यालय में हो गया। लाहौर के बाद बंबई, फिर नागपुर, पुणे और फिर और और स्थानों पर विद्यालय की शाखाएं खुल गयीं। इतना ही नहीं तो नारी वर्ग की संगीत शिक्षा के लिए अपनी पत्नी को तथा अन्य महिलाओं को तैयार करके उसकी भी व्यवस्था पंडित जी ने करा दी। यों संगीत का एक ज्ञानयज्ञ ही आरंभ हो गया।

किंतु इस ज्ञानयज्ञ में शिथिलता और आलस्य के दोष न आने पाएं, इसके लिए पंडित जी ने अपने विद्यालय में 'उपदेशक' नामक एक वर्ग का निर्माण किया। इन उपदेशक शिष्यों को पंडित जी नौ वर्ष तक विद्यालय में रख लेते थे और उनके निवास और अन्नजल का प्रबंध विद्यालय की ओर से करा कर उन्हें विनामूल्य विद्यादान करते! इसके बदले में वे अपेक्षा रखते कि ये शिष्य निचली कक्षा के छात्रों को सिखाएं और शिक्षा-समाप्ति के बाद अगले जीवन में संगीत-प्रसार का ही दायित्व निभाएं।

पंडित जी का यह कार्य ईसाई मिशनरियों के ढंग का था और पं. विनायकराव जी इसी उपदेशक वर्ग की फलश्रुति थे। उनके साथ ही सर्वश्री ना. मो. खरे, वामनराव पाध्ये, ओंकारनाथ ठाकुर, नारायणराव व्यास, गोविंदराव देसाई आदि इसी उपदेशक वर्ग में समाविष्ट थे। ये सभी जन इस संगीत प्रसार के कार्य में जुट गए और पंडित जी के जीवनकाल में ही उनका यह संगीत-अभ्युत्थान-आंदोलन सफलता की दिशा में अग्रसर होने लगा। इस सफलता के पीछे पंडित जी की जाज्वल्य ध्येयनिष्ठा थी। इस आंदोलन के मूल में उनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। उनकी हर कृति संगीतोद्धार के उद्देश्य से ही प्रेरित थी। संगीतसेवी भी एक प्रतिष्ठित तथा सम्मानयोग्य व्यक्ति होता है इसे साबित करने के लिए वे नित्य राजसी वेषभूषा में निकलते। यात्रा रेल की प्रथम श्रेणी में करते। प्रायः कोई न कोई उनके इस रंग और रुआब से प्रभावित हो पूछते कि आप कौन हैं? तब वे उतने ही आत्मगौरव से जवाब देते, "मैं गायक हूँ।" गायक को प्रतिष्ठा मिलने का मतलब संगीत को प्रतिष्ठा मिलना था। इसलिए उसके व्यक्तित्व के और पहलुओं को भी विकसित करना आवश्यक था। पंडित जी का

गायक-शिष्य केवल महफिली गवैया बनकर ही संतोष नहीं मान सकता था। उसे प्रचार कार्य में भी योग देना था। इसलिए उसमें वक्तृत्व और लेखन का भी विकास होना आवश्यक था। पंडित जी ने पहले स्वयं इन गुणों को आत्मसात कर लिया और उनका अपने प्रचार कार्य में बखूबी उपयोग कर लिया।

पंडित जी की शिष्यशाखा में एक और विशेषता यह रही कि उनके शिष्य अपनी विद्या और तपस्या में कच्चे नहीं रहे। पंडितजी ने उन्हें गायन के साथ वादन और वादन के साथ नृत्य का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कराने की व्यवस्था कर दी थी। गांधर्व महाविद्यालय में तबला, जलतरंग, सितार, व्हायोलिन आदि का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। विद्यालय के अनुशासन के फलस्वरूप विद्या में प्रवीणता के साथ विद्यादान में ईमानदारी का आदर्श भी शिष्यों के सामने उपस्थित हुआ। पंडित जी इन शिष्यों को देशभर स्थान स्थान में होनेवाली महफिलों में अपने साथ ले जाते, उन्हें तानपूरे पर बिठाते और विद्याप्रदर्शन का भी प्रशिक्षण देते। संगीत के 'जलसों' की प्रथा आरंभ करनेवाले पंडित विष्णु दिगंबर ही थे। इन जलसों की व्यवस्था बड़ी आदर्श रहती थी। ठीक समय पर कार्यक्रम की शुरुआत करना और पूर्वनियोजित समय-बिंदु पर ही समापन करना उसकी एक लक्षणीय विशेषता थी। इसके लिए तानपूरे, तबला आदि साज पहले ही मिलाकर लाए जाते थे। कार्यक्रम पत्रिका मुद्रित रूप में श्रोताओं के हाथ में दी जाती थी। गायन के साथ मृदंगवादन, जल-तरंगवादन, तबला-तरंगवादन आदि आकर्षक कार्यक्रम भी रखे जाते थे। इन रंगारंग कार्यक्रमों के बावजूद पंडित जी हमेशा अपनी अत्यंत ऋजुतापूर्ण शैली में संगीत के महत्त्व और उसकी अभिवृद्धि में जनता के योगदान आदि के बारे में एक छोटा-सा भाषण देते, जिससे श्रोतागण प्रभावित होते। कुल मिलाकर यह अत्यंत अभूतपूर्व संगीत आंदोलन था और इस आंदोलन की विशेषता यह रही कि वह सफल हो कर ही रहा। इस सफलता के पीछे जो दार्शनिक रहस्य छिपा है उसे हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि डॉ. धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' काव्य-नाटक में एक अन्य संदर्भ में आए हुए अभिप्राय से हम जान-पहचान सकते हैं—

> जब कोई भी मनुष्य
> अनासक्त हो कर, चुनौती देता है इतिहास को
> उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।

और सचमुच यही हुआ। निःसंदेह इस 'विष्णु दिगंबर संगीत आंदोलन' के मधुर फल के रूप में ही आज देश और देश के बाहर भी संगीत को उसकी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनश्च प्राप्त हो सकी है।

इस आंदोलन के फलस्वरूप कलाकार तो पैदा हुए ही। परंतु उससे भी बढ़कर संगीत का ' कान ' रखनेवाले कद्रदान श्रोतागण भी पैदा हुए, जिन्हें स्वयं पंडित जी महाराज ने ' कानसेन ' की उपाधि दी थी। और ध्यान रहे, प्रस्तुत आंदोलन का यह भी एक उद्देश्य था। उन्हींके समकालीन विख्यात गायनाचार्य भास्करबुवा बखले के प्रकट उद्गार हैं—" विष्णुबुवा के संगीत प्रचार के फलस्वरूप ही आजकल हमारी कला की सच्ची कद्र होने लगी है। "

आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य

पं. विनायकराव जी इसी देदीप्यमान अद्भुत संगीत आंदोलन की सफलतम उपज बनकर अपने कार्यक्षेत्र में अग्रसर हुए। उनकी सफलता के लिए प्रस्तुत आंदोलन ' प्रेरणा का प्रस्थान-बिंदु ' बना। गांधर्व महाविद्यालय के उपदेशक वर्ग के अंतर्गत संगीत शिक्षा का दायित्व निभाते हुए अनेक ऊंचे गायक-वादकों के समवेत काम करने का अवसर उन्हें मिला। विद्यालय के प्राचार्य स्वयं विष्णु दिगंबर थे। उपप्राचार्य पं. गुरुदेव जी पटवर्धन थे, जो मृदंग-तबलावादन सिखाते। सर्वश्री ना. मो. खरे, केशवराव दातार, नारायणराव खांडेकर, वी. ए. कशालकर, पंडित जी की पत्नी तथा श्रीमती बानुबाई अध्यापक वर्ग में थे। इसके साथ ही उपदेशक वर्ग में विनायकराव जी के अतिरिक्त सर्वश्री बाबूराव गोखले, शंकरराव पाठक आदि का समावेश था। आगे चलकर इस वर्ग में सर्वश्री नारायणराव व्यास, शंकरराव व्यास, ओंकारनाथ ठाकुर, वामनराव पाध्ये, इत्यादि शिष्य शामिल हो गए। इनमें से लगभग सभी ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल नाम कमाया और संगीत के क्षेत्र में अपनी अमिट छाप अंकित की। इनमें से कुछ खास शिष्यों ने ग्रंथलेखन, भाषण, विद्यालय-संचालन आदि के द्वारा अपने गुरु का भरसक अनुगमन भी किया।

विनायकराव जी की विशेषता

परंतु यहां उल्लेखनीय यह है कि इस समस्त शिष्य समुदाय में पं. विष्णु दिगंबर के कार्यकर्तृत्व का वास्तविक प्रतिबिंब यदि किसी शिष्य के जीवनकार्य में प्रतिफलित हुआ हो तो पं. विनायकराव जी के कार्य में ही हुआ। पंडित जी महाराज ने जिस ध्येयधर्मिता से संगीत प्रसार का गठबंधन सदाचार-संपन्नता एवं सांस्कृतिक अभ्युत्थान के साथ किया उसी ध्येयधर्मिता से पं. विनायकराव जी का व्यक्तित्व आमूलचूल अनुप्राणित था। उन्होंने केवल महफिली गवैया बने रहने में संतोष नहीं माना। उस क्षेत्र में तो उन्होंने उचित सम्मान और गौरव पा ही लिया, परंतु उसके साथ ही साथ हिंदुस्थानी शास्त्रीय संगीत का प्रचार-प्रसार तथा उस संगीत के प्रशिक्षण के कार्य को भी उन्होंने उतना ही प्राधान्य दिया। इस त्रिविधात्मक ध्येय के सामने उन्होंने जीवन के अन्य तमाम

प्रलोभनों को नगण्य माना और अंतिम सांस तक ध्येयपूर्ति में दत्तचित्त रहकर गुरु-ऋण से भली भांति उऋण हुए।

हिंदुस्थानी संगीत-जगत् में महफिली गवैयों की एक लंबी परंपरा रही है। इधर महाराष्ट्र में ही विनायकराव जी की युवावस्था में उस्ताद अल्लादिया खां, अबदुल करीम खां, रहमत खां, पं. भास्करबुवा बखले, पं. रामकृष्णबुवा वझे जैसे धुरंधर गायक अपनी संगीत कला से रसिकों के कान तृप्त कर रहे थे। पं. विनायकराव जी के समकालीन गवैयों में मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर, पं. भीमसेन जोशी के गुरु पं. सवाई गंधर्व, श्रीमती केसरबाई केरकर, मोगूबाई कुर्डीकर तथा हीराबाई बडोदेकर थे जिनके गायन का आस्वाद पाए हुए गुनिजन आज भी विद्यमान हैं। इन सभी बुजुर्ग कलाकारों ने गानरसिकों को स्वर्गीय संगीत सुनाकर प्रकारांतर से संगीत का प्रसार ही किया। परंतु उनके महफिली गायन के पीछे संगीत के प्रसार एवं प्रतिष्ठा की उत्कट ध्येयासक्ति और दूरदृष्टि नहीं थी, जो पं. विष्णु दिगंबर ने दिखायी और जो सामान्यतः सभी शिष्यों में और विशेषतः पं. विनायकराव जी में संक्रमित हुई।

पं. विनायकराव जी का जन्म उस संक्रांति-कालीन कालखंड में हुआ जब महाराष्ट्र में राजनीति, साहित्य, संस्कृति इत्यादि सभी में पुनरुत्थान हो रहा था। संगीत के पुनरुत्थान को तो स्वयं उनके गुरु ही लाए थे। उनके साथ पं. विष्णु नारायण भातखंडे का भी नाम नहीं भूल सकते, जिन्होंने 'हिंदुस्थानी संगीत पद्धति' को सात भागों में प्रकाशित करके संगीत का महदुपकार किया और संगीत-साधकों के वास्ते सदा के लिए उपयुक्त एक ज्ञानसागर उपलब्ध कर दिया। राजकीय क्षेत्र में वह लोकमान्य तिलक का कालखंड था। महाराष्ट्र का हर समझदार व्यक्ति 'तिलक महाराज' के नेतृत्व से प्रभावित था और राष्ट्रीय भावना उसकी नस नस में भरी हुई थी। राजनीति के समान ही साहित्य के क्षेत्र में भी महाराष्ट्र ने बंगाल के साथ ही अंगड़ाई ली थी और यहां कविता, उपन्यास, नाटक, आदि विविध नए नए प्रयोग हो रहे थे। बंगाल और महाराष्ट्र के बारे में एक बात समन्वित रूप में परिलक्षित होती है कि यहां पुनरुत्थान की हवाएं भारत में सब से पहले बहने लगीं। इसका एक कारण भी है। सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों की स्थापना १८५४ में इन्हीं प्रदेशों में (मद्रास में भी इसी वर्ष विश्वविद्यालय खुला) हुई थी, जिससे व्यापक सामाजिक प्रबोधन के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि बन गयी थी। इस अनुकूलता का लाभ परोक्षतः पं. विनायकराव जी के कार्य को मिलना स्वाभाविक था।

इसी कालखंड में नाटक के क्षेत्र में महाराष्ट्र ने बहुआयामी प्रगति करना आरंभ किया था। एक तरफ गद्य नाटक प्रस्तुत होते रहे और साथ साथ संगीत नाटक भी खेले जाते रहे। 'संगीत नाटक' महाराष्ट्र की अपनी एक खासियत

रही, जिसका अप्रत्यक्ष संबंध शास्त्रीय संगीत के साथ भी जुड़ गया था। (संप्रति यह परंपरा क्षीणावस्था में है।) इन नाटकों में रंगमंच पर गद्य संवादों के बीच पद्यसंवाद भी बोले याने गाए जाते थे। आरंभ में ये पद्यसंवाद केवल स्वरताल के साथ तरन्नुम पर प्रस्तुत किये जाते थे। किंतु बाद में जब तक पं. विनायकराव जी गाने में तैयार होकर अपने प्रचार कार्य के लिए प्रस्तुत होने को थे, तब तक ये गीत शास्त्रीय संगीत की शैली पर गाए जाने लगे। कतिपय नाटक मंडलियां ऐसे नाटक प्रस्तुत करने लगीं। इनमें आरंभ में किर्लोस्कर नाटक मंडली और बाद में गंधर्व नाटक मंडली का नाम इस क्षेत्र में अग्रगण्य रहा। गंधर्व मंडली के मालिक श्रीमान् बालगंधर्व संगीत रंगमंच के एक अनभिषिक्त सम्राट् थे। रंगमंच–गायन में उनके जैसा गायक न पैदा हुआ न होगा। विनायकराव जी के इस जीवनकाल में इन नाटकों के साथ साथ कीर्तन परंपरा भी महाराष्ट्र में प्रचलित रही थी, जिसका जिक्र पहले हो चुका है।

ऐसे वैभवसंपन्न वातावरण में पं. विनायकराव जी अपनी संगीत शिक्षा पूरी करके अपने गुरु द्वारा बताए हुए कार्य को अग्रसर करने के लिए उत्साह के साथ बढ़ने की तैयारी में थे। किंतु नियति-नटी कुछ दूसरा ही रंग दिखलाना चाहती थी। उसके प्रताप से पं. विनायकराव जी के सांगीतिक जीवन में कई दूसरे-तीसरे मोड़ उपस्थित हुए। इन सब के बारे में जानना जरूरी है। परंतु उसके पूर्व विनायकराव जी के बचपन, घर-परिवार तथा संगीत शिक्षा आदि के संबंध में निकट से कुछ मालूम कर लेना समुचित होगा।

२

साधना के पथ पर

प्रायः यह देखा जाता है कि असाधारण कर्तृत्वसंपन्न व्यक्तियों की जीवनयात्रा सीधी, सरल गति से नहीं चलती। प्रतिकूल परिस्थितियां उनकी परीक्षा लेती हैं और इसीमें से उनके जीवन का पथ प्रशस्त होता जाता है। बाल विनायक के बारे में ऐसा ही हुआ।

२२ जुलाई १८९८ के दिन प्रातः समय मिरज में विनायक का जन्म हुआ। वह श्रावण महीने की शुक्ल चतुर्थी थी, जो 'विनायकी चतुर्थी' कहलाती है और उस दिन महाराष्ट्र में गणेश जी की बड़ी आराधना होती है। दीक्षित-पटवर्धन परिवार में गणेश की आराधना पैतृक परंपरा से ही थी। अतः यह नितांत स्वाभाविक था कि इस नवजात बालक का नाम भी विनायक ही रखा गया। हमारी धार्मिक कथाओं में गणेश जी के जन्म-समय की असाधारण परिस्थितियों का वर्णन मिलता है। इस 'विनायक' के जन्म के समय तो नहीं किंतु जन्म के बाद चंद ही वर्षों में कुछ ऐसी अप्रत्याशित घटनाएं घटित हो गयीं कि उनके कारण विनायक के वर्तमान और भविष्य की दिशा ही बदल गयी।

विनायक के जन्म के समय की स्थितियां कितनी अनुकूल थीं, कितनी सुखद! माता-पिता, दादा, चाचा, भाई-बहन, आदि से भरापूरा परिवार था। आर्थिक स्थिति सर्वथा अनुकूल। महाजन का ही घर। किसी बात की कमी नहीं थी।

किंतु विनायक के भाग्य में माता-पिता का सुख बदा ही नहीं था। उन दिनों भारत के किसी भी प्रदेश में प्लेग का दौरा अचानक आ जाता था और बात की बात में बड़े-बूढ़े-बच्चों को कालकवलित हो जाना पड़ता था। इस प्लेग ने उधर पुणे शहर में १८८७ में ही प्रवेश किया था और तमाम शहर को श्मशानवत् बना दिया था। यह वही प्लेग था जो लोकमान्य तिलक के स्वातंत्र्य-आंदोलन की तीव्रता को बढ़ाने में

सहायक बना था और प्लेग की रोकथाम के बहाने अंग्रेज सिपाहियोंद्वारा नागरिकों पर होनेवाले वहशी अत्याचारों के प्रत्युत्तर में रैण्डसाहब का वध करने के अपराध में वीर चापेकर बंधुओं को मृत्युदंड दिलाया गया था।

प्लेग का यह दौरा मिरज पर भी बरपा हो गया और उसके बहुत भयानक परिणाम दीक्षित-पटवर्धन परिवार को भोगने पड़े। विनायक की उम्र के चौथे वर्ष में ही उसकी माता को प्लेग का शिकार होना पड़ा और ८–१० महीनों के अंदर ही विनायक के पिता नारायणराव भी अपनी पत्नी के अनुगामी बन गए। इतनी छोटी उम्र में — केवल ५ वें वर्ष में — माता और पिता दोनों का कृपाछत्र छिन जाना कोई साधारण आपत्ति नहीं थी। किंतु सम्मिलित परिवार के कारण विनायक पर एकदम-से आसमान नहीं टूट पड़ा। सम्मिलित परिवार प्रथा नई रोशनी के कारण आगे बदनाम हुई (और अब तो उसकी कमर ही टूट गयी है) परंतु इस पारिवारिक प्रणाली के अपने कुछ लाभ अवश्य थे। घर का सारा कारोबार बड़े पुरुष के हाथ में रहता था, जिससे परिवार के छोटे सदस्य दायित्व–चिंता से मुक्त रहते थे। विनायक के बचपन में घर के करता-धरता उसके चाचा थे। उन्होंने विनायक के भरणपोषण का भार संभाला। विनायक के एक चाचा श्री. केशवराव पटवर्धन का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। आपने गुरुवर बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर से गायन सीखा था। १९०५ से १९०७ तक इन्हीं केशवराव जी ने अपने 'गणेश संगीत विद्यालय' में विनायक को संगीत की थोड़ी प्राथमिक शिक्षा दी थी। यह एक तरह से संयोग की बात थी कि आगे जिस गुरु का (पं. विष्णु दिगंबर का) मार्गदर्शन विनायक को मिला, उन्हींके गुरुबंधु से उनकी संगीत–शिक्षा का शुभारंभ हुआ।

माता-पिता की मृत्यु के बाद अगले ही वर्ष विनायक का उपनयन संस्कार हुआ। उस जमाने में ब्राह्मणवर्ग में इस जनेऊ संस्कार का महत्त्व बहुत था। पुरानी भारतीय परंपरा के अनुसार इस संस्कार के बाद बालक का ब्रह्मचर्याश्रम शुरू हो जाता था और विद्योपासना एवं बलोपासना का दौर बड़ी दृढ़ता के साथ जारी हो जाता था। यों देखा जाए तो उस छोटी उम्र में विनायक को अपने माता-पिता के चिर वियोग का कुछ एहसास भी नहीं हुआ होगा। घर में हमउम्र बालबच्चों की पलटन भी कम नहीं थी। उन सबके साथ उठते-बैठते, हंसते-खेलते विनायक का बचपन अपनी मौज-मस्ती में बीतने लगा।

इस सिलसिले में एक रोचक संदर्भ का बयान करना उचित होगा। वस्तुतः यह प्रसंग बहुत आगे का याने १९६६ का है, तथापि अंशतः उसका संबंध विनायक के बचपन से है। दि. २५ फरवरी १९६६ को मिरज में विनायकराव जी द्वारा स्थापित

‘ विष्णु दिगंबर स्मारक मंदिर ’ का उद्‌घाटन मिरज नरेश श्रीमंत नारायणराव ऊर्फ तात्यासाहब मिरजकर की अध्यक्षता में हुआ। उस समय श्रीमंत तात्यासाहब ने जो भाषण दिया उसका कुछ अंश ज्यों का त्यों (अनुवादित रूप में) देते हैं—

> “ आज के समारोह के संयोजक पं. विनायकराव जी के संबंध में कुछ कहना जरूरी है। हमारे इस स्मारक मंदिर के पास ही हमारे पूर्वजों का ‘ माधव जी का मंदिर ’ है। इसी मंदिर के पड़ोस में इन पंडित जी का घर है। वहीं इनका जन्म हुआ। मेरे बचपन में हमारी माताजी पास-पड़ोस के बालकों को हम भाइयों के साथ खेलने के लिए बुलवाती थीं। उनमें ये पंडित जी भी थे। बालकों के स्वभाव में ऊंच-नीच का भेद तो रहता नहीं। इस न्याय से खेल में मनमानी मारपीट भी हुआ करती थी। उसमें हम भी इन पंडित जी को पीटते और वे भी ईंट का जवाब पत्थर से देते। मार खाने के बाद रोना-चिल्लाना तो होता ही था। सच कहा जाए तो इन पंडितजी की रोने की आवाज सुनने पर उस वक्त हमें जो पुलक का अनुभव होता था, वह आज इनके गायन से भी नहीं होता... ”

कैसा पारदर्शक भाव है !

लाहौर की दिशा में

१९०५ में विनायक सात वर्ष का हो गया। उसके चाचा जी ने उसकी स्कूली शिक्षा का प्रबंध करना चाहा; किंतु इसी बीच उसे विषमज्वर की बीमारी हो गयी। आज के जमाने में विषमज्वर एक साधारण बीमारी है, किंतु सौ-पचहत्तर वर्ष पहले उसका इलाज आसान नहीं था। अनेक रोगियों को प्राण गंवाने पड़ते थे। परंतु इस बीमारी से विनायक चंगा हो गया और उसकी स्कूली शिक्षा विधिवत् आरंभ हुई। इस शिक्षा के साथ ही साथ, जैसा कि पहले उल्लेख हुआ है, चाचा केशव कृष्ण पटवर्धन ने विनायक को संगीत की आरंभिक शिक्षा देना शुरू किया था। यह सब तो यथाक्रम चलता रहा; किंतु विनायक के अभिभावक उसकी स्वास्थ्य-चिंता से परेशान थे। प्लेग का दौरा किसी तरह हट गया था, किंतु उसका जोर पूरी तरह कम नहीं हुआ था। फिर विषम ज्वर ने भी बीच में घेर लिया था। सभी बुजुर्ग सोचते थे कि किसी तरह नारायणराव का यह कुलदीपक सलामत रहे। यहां से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर रहने का अवसर इसे मिलेगा तो कितना भला होगा !

और संयोगवश घर के हितचिंतकों की यह इच्छा पूरी होने का अवसर अपने पैरों आकर उपस्थित हो गया। और वह पं. विष्णु दिगंबर के माध्यम से आ गया।

हम यह देख चुके हैं कि पं. विष्णु दिगंबर ने लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की थी और संगीत–आंदोलन को सफल बनाने के लिए वे शिष्य–प्रशिष्यों का एक मिशनरी दल खड़ा करना चाहते थे। उसके लिए वे संभ्रांत परिवार के होनहार बालकों को महाविद्यालय में आवासी (रेजिडेन्शियल) छात्र की तरह रखते थे, उनके अन्न-वस्त्र और संगीत–शिक्षा का भार स्वयं उठाते थे और उसके प्रतिफल में उन मिशनरी छात्रों से उनकी अपेक्षा रहती कि वे जीवनभर संगीत–प्रशिक्षण और संगीत-प्रचार का कार्य करें। जिन बालकों को उनके अभिभावक महाविद्यालय में भेजते, उनसे पंडितजी बंध-पत्र (बॉण्ड) लिखवा लेते कि हम बालक को नौ वर्ष तक विद्यालय में रखेंगे, वह बीच में छोड़कर नहीं जाएगा और यदि जाएगा तो विद्यालय द्वारा उसपर जो खर्चा तबतक हुआ हो, उसका प्रतिभुगतान करने की जिम्मेदारी हमपर रहेगी।

इस बंधपत्र की कड़ाई के बारे में एक दिलचस्प घटना बताने लायक है, जो पंडित जी के एक दूसरे विख्यात शिष्य पं. ओंकारनाथ से संबंधित है। ओंकारनाथ १९१३ में बंबई के गांधर्व महाविद्यालय में बंधपत्र लिखवाकर प्रविष्ट हुए और तीन वर्ष के अंदर माहवार ४०० रु. के वेतन पर उन्हें काठियावाड़ की किसी नाटक कंपनी ने उनके बड़े भाई के माध्यम से आमंत्रित किया। भाई ने पंडित जी से ओंकारनाथ को विद्यालय से उठाने की बातचीत की तब उन्होंने शांतिपूर्वक कहा कि आप खुशी से अपने भाई को ले जाइए किंतु आप को याद होगा कि आपने मेरे साथ ९ वर्ष का अनुबंध किया है। बीच में ले जाना चाहेंगे तो गत तीन सालों का खर्च आपको देना पड़ेगा। बड़े भाई इतनी रकम नहीं दे सकते थे, अतः बात उतने ही पर रह गयी!

तो पंडित जी महाराज को अच्छे विश्वासपात्र छात्रों की आवश्यकता थी। उन्होंने लाहौर में आस-पास के प्रदेश से छात्रों को एकत्रित करके उनके लिए छात्रालय की व्यवस्था आरंभ कर दी थी। भारत में जहां-जहां वे जाते, वहां भाषणों और संभाषणों द्वारा समाज के विकसित वर्ग को संगीत–कला का महत्त्व समझाने का प्रयास करते और संगीत–प्रसार के लिए होनहार बालकों को भेजने के लिए अपील करते। इसी बीच १९०२ में पंडित जी की बहन द्वारकाबाई के पति कुरुंदवाडस्थित रामकृष्ण गोखले का अकाल निधन हुआ। पंडितजी को १९०५ तक उस तरफ याने अपने पिता के गांव जाने का अवसर नहीं मिल सका था। किंतु १९०५ में आप अपनी भगिनी से मिलने गए और उनकी तीनों संतानों (पुत्र बाबूराव और बेटी अंबूताई और अनसूया) के साथ उन्हें लाहौर ले आये। इन दोनों बेटियों को संगीत सिखलाकर उनके द्वारा पंडितजी ने महिलाओं की कक्षाएं चलाना आरंभ किया। इसी दौरान पंडित जी मिरज गए और अपने पुराने स्नेहियों से तथा आश्रयदाता मिरज-नरेश श्रीमंत

श्रीमंत बालासाहब से मिले। उस समय दीक्षित-पटवर्धन के घर भी वे गए और वहींपर विनायक को उन्होंने देखा। वे नए छात्रों की खोज में थे ही। यह बालक उन्हें सर्वथा अनुकूल लगा। इसके कई कारण थे। एक तो यह कि पंडित जी का इस परिवार से पुराना स्नेहसंबंध था। फिर इसी परिवार के दो युवक लाहौर में पंडित जी के पास पहले ही पहुंच चुके थे (जिनके बारे में आगे देखना है)। दूसरे यह कि उन्हें मालूम हुआ कि उनके ही गुरुबंधु श्री. केशवराव ने विनायक को थोड़ा संगीत सिखाया है। एक अन्य कारण यह भी था कि घर के बुजुर्ग लोग इस बालक को किसी सुरक्षित स्थान पर रखने के लिए उत्सुक थे। इन्हीं सब बातों का परिणाम था कि विनायक को लाहौर भेजना तय हो गया।

यद्यपि पंडित जी विद्यालय के विशिष्ट छात्रों के योगक्षेम का भार खुद उठाते थे, तथापि साधनसंपन्न परिवारों से कुछ शुल्क की अपेक्षा भी रखते थे। पंडित जी के कार्य का प्रभाव ही ऐसा था कि मिरज के अधिपति श्रीमंत बालासाहब मिरजकर विनायक को प्रतिमास १६ रु. की छात्रवृत्ति सात साल तक देने के लिए राजी हुए। विनायक के साथ एक दूसरे बालक नारायण खरे (ना. मो. खरे) को भी यह छात्रवृत्ति उन्होंने प्रदान की। प्रस्तुत छात्रवृत्ति विनायकराव को प्राप्त होने में उसके दादा से भी सहयता मिली। ये दादासाहब आष्टे नामक पासवाले गांव में महाजनी करते थे। प्लेग के कारण इनके कई बेटे और नाती कालवश हो गए थे। पं. विष्णु दिगंबर उनका बहुत आदर करते। विनायक की सुरक्षा के हेतु वे उसे उनके साथ भेजने के लिए राजी हो गए। उन्होंने श्रीमंत बालासाहब के सामने प्रतिज्ञा की कि—"मेरा नाती लाहौर जा कर संगीत में प्रवीण नहीं बन पाएगा तो मैं एक हजार का जुर्माना दूंगा।" इन्हीं दादा जी ने पं. विष्णु दिगंबर को सावधान भी कर दिया कि यह बालक शुद्धाचरणवाले धार्मिक परिवार में जन्मा है। गवैया बनने की प्रक्रिया में उसका शील बिगड़ना नहीं चाहिए। मिरज अधिपति ने भी पंडितजी को यही चेतावनी दी। और इसमें अनपेक्षित कुछ भी नहीं था। क्योंकि उस जमाने में गायक का सत्त्वशील होना अपवाद-स्वरूप ही था। पं. विष्णु दिगंबर भी इस स्थिति को जानते ही थे और उसे बदल डालने के लिए ही उन्होंने अपना आंदोलन आरंभ किया था। उन्होंने इन सज्जनों को अभि-वचन दिया कि मैं विनायक को गुमराह होने नहीं दूंगा। बंधपत्र के तहत करार यह हुआ था कि विनायक छः वर्ष तक लाहौर रह कर संगीताध्ययन करेगा और तत्पश्चात् तीन वर्ष मिरज में रहकर गायन की मेहनत और स्वतंत्र रूप से उसपर चिंतन करके समय समय पर श्रीमत को गाना सुनाकर उन्हें अपनी प्रगति का प्रमाण देगा।

यहां एक पलभर रुककर सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि इतने पुराने काल में इस दिव्यदृष्टिप्राप्त महापुरुष ने प्रशिक्षण-शास्त्र की वह बात भी सोच ली थी,

जिसे परवर्ती काल में 'इंटर्नशिप' या प्रशिक्षणोत्तर अभ्यास के रूप में चिकित्साशास्त्र (मेडिकल सायन्स) के लिए लागू कर दिया गया है। और इसी बिंदु पर उस अनौपचारिक दीक्षान्त-क्षण का भी वर्णन करने का मोह होता है, जो वस्तुतः बहुत आगे की घटना है। उपर्युक्त सभी शर्तों और वचनों से आबद्ध होकर यह निष्ठावान शिष्य अपने गुरु के 'आधुनिक गुरुकुल' में दाखिल हुआ और छः वर्ष के प्रदीर्घ प्रशिक्षण के बाद अपनी जन्मभूमि मिरज को लौटने के लिए प्रस्तुत हो गया। पंडित जी महाराज अपने शिष्यवर को बिदा करने उसके साथ तांगे में स्टेशन तक गए। वहां अपने प्रिय छात्र के कंधे पर हाथ रखकर गुरुमहाराज बोले, "विनायक, सुनो। मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताता हूं, जो अब तक नहीं कही थी। मैंने तुम्हारे दादा को तथा श्रीमंत सरकार मिरजकर को वचन दिया था कि विनायक को सर्वोत्तम गायन सिखाऊंगा, और साथ ही उसके शील और आचरण को किंचिन्मात्र भी बिगड़ने नहीं दूंगा। मैंने भरसक इन दोनों वचनों को निभाया है। अब भविष्य में तुम्हें इसी राह पर अटल रहना होगा। कुछ मनचले गवैयों की देखादेखी बुरी आदतों का शिकार बनकर मेरे नाम पर धब्बा मत लगाना।तुम्हारा कोई भी अनुचित बर्ताव मुझे कदापि सहन नहीं होगा।"

पं. विनायकराव जी अपने निकटतम शिष्यों को यह संस्मरण प्रायः सुनाते और अपने उस परम गुरु के स्मरण से पुलकित हो जाते। अस्तु, बात नौ वर्षीय बाल विनायक की हो रही है, जो अपने और एक प्रशिक्षणार्थी साथी के समवेत मिरज के अपने चाचा, दादा आदि को छोड़कर मिरज से दूर लाहौर की यात्रा पर निकला है।

बालक के वयस का नौवां वर्ष! कितनी उमंगों से भरा और कैसी मासूमियत से सजा! चारों तरफ प्यार दुलार बरसानेवाले परिजन हैं, जब जो मांगे देते हैं, न आज की चिंता न कल की परवाह! बस खेलते रहो, नाचते रहो। परंतु लीक से हटकर जीना ही तो महापुरुषों की नियति रहती है। बाल विनायक को तो इस अभिनव अभियान से रोमांच ही हो रहा था। लेकिन उसका कारण दूसरा था। उसे इस बात की खुशी हो रही थी कि रेलगाड़ी में ज्यादा से ज्यादा लंबा सफर करने का मौका मिल रहा है। वह तो सबसे कह रहा था कि सबसे ज्यादा वक्त लेनेवाली गाडी से ही मैं यात्रा करूंगा।

विनायक के साथ (जैसा कि पहले बताया गया) नारायण मोरेश्वर खरे भी था। खरे जी आगे चलकर पं. ना. मो. खरे (१८८९-१९३८) के नाम से महात्मा गांधी जी के साबरमती आश्रम में संगीत शिक्षक के रूप में रहे और जीवनभर उन्होंने पं.विष्णु दिगंबर के आदर्शों पर चलकर संगीत का कार्य किया। श्री. खरे विनायकराव जी से नौ वर्ष बड़े थे। वे मिरज से सौ किलोमीटर पर सातारा शहर के सुप्रसिद्ध

केशवबुवा के प्रपौत्र थे। जब दसवीं कक्षा में थे तब उन्होंने पं. विष्णु दिगंबर का एक जलसा मिरज में सुना। संगीत सुनने के बाद उन्होंने भी दो-तीन भजन सुनाये। उनका मधुर कंठ और संगीत में रुचि देख कर पंडित जी ने कहा कि तुम सीखना चाहते हो तो मेरे पास आ सकते हो। मिरज रियासत का तो रवैया ही था कि ऊंचे उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील किसी युवक के मार्ग में धनाभाव की अड़चन उपस्थित होती हो तो भरसक उसकी सहायता करना। और केवल संगीत ही नहीं विज्ञान, उद्यम, आदि अन्य क्षेत्रों के लिए भी इस रियासत का कोष अर्थसहाय के लिए तत्पर रहता था। इसीके फलस्वरूप विनायक के साथ नारायण खरे को भी श्रीमंत बालासाहब ने छः वर्ष तक प्रतिमास १६ रु. की छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था कर दी।

लाहौर पहुंचने के बाद भी विनायक को संयोगवश कुछ रिश्तेदारों की संगति का लाभ मिला, जिससे एकदम 'पानी बिन मछली' की तरह उसकी अवस्था नहीं हुई। विनायक के सगे चाचा श्री. गुरुदेव जी पटवर्धन लाहौर के गांधर्व महाविद्यालय में 'व्हाइस प्रिन्सिपल' के पद पर थे। लाहौर आने से पहले गुरुदेव जी ने पखावज और तबले पर विशेष अधिकार प्राप्त कर लिया था। मिरज में ही आपने तबला सीखना आरंभ किया और उसके बाद विख्यात ताल--मर्मज्ञ और तैय्यार पखावज-वादक इंदौर के पं. नानासाहब पानसे के प्रथम शिष्य हैद्राबाद-स्थित पं. वामनराव चांदवडकर के पास दीर्घकाल तक रहकर आपने तबले पर विशेष अधिकार प्राप्त कर लिया था। इसके बाद १९०१ में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना होने के बाद गुरुदेव जी पं. विष्णु दिगंबर के प्रमुख सहायक बन कर आ गए। पंडित जी इन गुरुदेव पटवर्धन का बहुत आदर करते और विद्यालय के छात्रों से भी वैसी ही अपेक्षा रखते।

विनायक के दूसरे रिश्तेदार, जो लाहौर में उसे मिले वे रघुनाथराव पटवर्धन थे। रघुनाथराव विनायक के चचेरे भाई थे और जिन केशवरावजी ने उसे बचपन में गायन सिखाया था, उन्हींके पुत्र थे। ये और शंकर पाठक १९०५ में ही मिरज से लाहौर आ टिके थे। आगे चलकर आज के सुप्रसिद्ध व्हायलिन-वादक श्री. एम. एस. गोपालकृष्णन् के पिता पं. सुंदरम् अय्यर पं. विष्णु दिगंबर के सहयोगी अध्यापक बने। श्री. रघुनाथराव जी ने उनसे व्हायलिन की शिक्षा प्राप्त की और आगे बहुत नामी व्हायलिन-वादक बन गये। इस प्रकार १९०७ में लाहौर के गांधर्व महाविद्यालय में विनायक ने प्रवेश प्राप्त किया और उसकी शिक्षा-दीक्षा आरंभ हो गयी। परंतु वहां कुछ ही दिनों में प्लेग का दौरा आ जाने से पंडित जी अपने सभी शिष्यों समेत अजमेर गए। वहां ५--६ महीने तक विनायक ने संगीत की शिक्षा पायी। किंतु वह सारी व्यवस्था अस्थायी थी। वहां से लाहौर लौटने के बाद ही उसकी संगीत-शिक्षा पुनश्च विधिवत् होने लगी।

गांधर्व महाविद्यालय, लाहौर

लाहौर में हीरामण्डी विभाग में एक प्रशस्त इमारत में यह गांधर्व महाविद्यालय स्थित था। सुबह-शाम की कक्षाएं वहीं लगती थीं। अतिरिक्त समय में छात्र अपनी पढ़ाई स्वयं करते। उपदेशक वर्ग के छात्र छात्रालय में रहते और विद्यालय के अन्य कामों – सफाई करना, तरकारी लाना, पत्रव्यवहार देखना, हिसाब रखना इत्यादि – में हाथ बंटाते। ज्येष्ठ छात्र कनिष्ठ छात्रों को सिखाते और ज्येष्ठ छात्रों को स्वयं महाराज (पं. विष्णु दिगंबरजी विद्यालय में इसी नाम से पहचाने जाते थे) सिखाते। प्रारंभिक पढ़ाई में महाराज के द्वारा लिखित संगीत स्वरालकार, संगीत बालप्रकाश, संगीत स्वरूपालय, संगीत राग प्रवेश, संगीत बालबोध इन पुस्तकों का आधार लिया जाता। यह सब 'संगीत प्रवेशिका' नामक परीक्षा की तैयारी के लिए सिखाया जाता। इसके बाद 'संगीत विशारद' और 'संगीत प्रवीण' की उपाधि के लिए नियुक्त पाठ्यक्रम का अध्ययन भी होता। इन छात्रों का मार्गदर्शन स्वयं महाराज ही करते। ये छात्र वीरासन लगाकर अर्धवर्तुल में महाराज के सामने बैठते। फिर दो तानपूरों की संगत में महाराज डग्गे पर ताल देकर छात्रों से स्वरसाधना कराते। शुरू में आधा घंटा स्वरसाधना होने के बाद बंदिश सिखायी जाती। एक एक पंक्ति को अनुकरण से दुहराया जाता। बंदिश की स्वररचना पक्की ध्यान में आने के बाद बंदिश को 'खाली-भरी' के वजन पर ताल में बिठाकर पंडितजी गाने का शिक्षण देते। फिर बारी बारी से आलाप, बोलतान और तान का गायन होता। महाराज स्वयं गाकर छात्रों को नमूना बताते और उसका अनुकरण करवाते।

यह शिक्षाक्रम प्रातः छः से नौ तक और रात को नौ से साढ़े ग्यारह तक चलता। दोपहर १ से ५ के बीच छात्रों को और कई काम बताये जाते। इनमें वाद्यों की मरम्मत और छपाई के अक्षर जोड़ने का काम सिखाया जाता और शिष्यों से वह कराया जाता। संगीत की पुस्तकें छपवाने के लिए विद्यालय ने एक छोटा-सा छापाखाना खरीद लिया था। मुद्रणकार्य की देखभाल श्री. नारायण खांडेकर के ज़िम्मे थी, जो पहले बम्बई के 'निर्णय सागर प्रेस' में अनुभव पा चुके थे और पंडितजी के पास गाना सीखने के लिए लाहौर के विद्यालय में प्रविष्ट हुए थे। उन्हींकी देखरेख में 'संगीत प्रिंटिंग प्रेस' के नाम से यह छापाखाना शुरू किया गया था। १९०५ में पंडितजी ने 'संगीतामृतप्रवाह' नामक एक मासिक पत्रिका आरंभ की थी; आगे यह पत्रिका इसी छापेखाने में छपने लगी। जनवरी १९०७ के 'संगीतामृत प्रवाह' में छपा है कि "मिरज के श्रीमंत बालासाहब मिरजकरद्वारा प्रतिमास १६ रु. की छात्रवृत्ति प्राप्त करके दो विद्यार्थियों, नारायण मोरेश्वर खरे और विनायक नारायण पटवर्धन ने, विद्यालय में प्रवेश पाया है।" इसी छापेखाने से पंडितजी ने 'संगीत बालप्रकाश' (तीन भागों में)

और 'संगीत बालबोध' तथा 'रागप्रवेश' पाठ्यपुस्तकें छपवा ली थीं। 'संगीत बालप्रकाश' में पारंपरिक शृंगारिक बंदिशों के स्थान पर नानक–तुलसी–सूर–मीरा आदि संतों के चुने हुए पदों को रागनिबद्ध किया गया था। उच्च संगीत सीखनेवालों को 'संगीत बालबोध' से ध्रुपद तथा ख्याल की खानदानी बंदिशें सिखायी जातीं। 'रागप्रवेश' के माध्यम से आलाप, तानें, बोलतानें आदि की पढ़ाई होती थी। पंडित जी अपने वरिष्ठ शिष्यों के दैनिक अभ्यास के बारे में बहुत सतर्क थे। वे लगातार अभ्यासद्वारा स्वर के परिष्कार पर जोर देते और स्वयं भी उसपर अमल करते। नवप्रविष्ट बालयुवा विनायक पर इस सांगीतिक वातावरण का असर हुए बिना कैसे रहता?

बहुआयामी शिक्षा

लाहौर के विद्यालय में गायन के साथ वादन की शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता और वादन के साथ ही नृत्य के बुनियादी ज्ञान का भी ख्याल रखा जाता। विद्यालय में सितार, जलतरंग तथा तबलावादन आदि की शिक्षा दी जाती। तबले के लिए गुरुदेव जी पटवर्धन थे। महाराज जी के बचपन के साथी श्री वाटवे जो उज्जैन के पं. अष्टेकर के पास सितार सीखकर आए थे, सितारवादन सिखाते। इसके साथ ही वाद्यों की मरम्मत का कार्य भी विद्यालयद्वारा किया जाने लगा। पंडित जी ने नए वाद्य बनाने और वाद्यों की मरम्मत करने का एक छोटा कारखाना ही विद्यालय में खोल दिया। दौलतराम शिंदे नाम के सज्जन तंतुवाद्यों के निर्माण और मरम्मत का कार्य देखने लगे। हारमोनियम के लिए एक सिक्ख सरदार जी नियुक्त हुए। विद्यालय के उपदेशक वर्ग को तथा अन्य शिष्यों को इस कारखाने में जाकर वाद्यों की बनावट का तथा मरम्मत का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। यह सारा कारोबार आगे चलकर बम्बई के विद्यालय में स्थानांतरित हुआ। कहना न होगा कि इस बहुविध व्यवस्था का लाभ विनायक को स्वाभाविक रूप में मिला।

लाहौर के गांधर्व महाविद्यालय की एक विशेषता थी वहां का कठोर अनुशासन। समय की पाबंदी, सफाई और टांक-टीप, राष्ट्रीय भावना, व्यवहारज्ञान तथा बुद्धिप्रामाण्य आदि गुणों के संस्कार वहां के वातावरण से ही नवप्रविष्ट छात्रों पर अंकित हो जाते थे। पं. विष्णु दिगंबर का उस समय के राष्ट्रीय व्यक्तियों से गुप्त संबंध था। राष्ट्रभक्त लाला लाजपतराय से तो उनका स्नेह था ही; संकट के समय कान्हेरे आदि क्रांतिकारकों को भी विद्यालय में आश्रय मिलता। विद्यालय के छात्रों द्वारा गुप्त संदेश भिजवाये जाते और राष्ट्रीय आंदोलन के उस कार्यकर्ता को पूर्वसूचना मिलती थी कि आपकी गिरफ्तारी होनेवाली है। इन सब का परिणाम छात्रों की मानसिकता पर होता था। विनायकराव जी के व्यक्तित्व में गहरी राष्ट्रनिष्ठा के बीज यहीं पर बोए गए।

महाविद्यालय के भवन के छत पर रात के समय सभी आवासी शिष्य एकत्रित होते और महाराज उनके साथ अन्यान्य विषयों पर बातचीत करते। और संगीत विषय पर मौलिक चिंतन करने की प्रेरणा उन्हें देते। ऐसे अवसर पर मुख्य विषय रहता भारतीय संगीत को विश्व-ख्याति कैसे दिलवायी जाए। इसी प्रकार अन्य संगीत समस्याओं पर भी बातचीत होती जिसका रुख वैज्ञानिक अनुसंधान की ओर रहता था। उदाहरणार्थ, यह प्रश्न उठाया जाता कि इस प्रचलित विश्वास के क्या कुछ वैज्ञानिक आधार हो सकते हैं कि दीपक राग के गायन से दीए अपने आप प्रज्ज्वलित होते हैं और राग मलार से वर्षा होने लगती है या कि संगीत के 'समय-सिद्धांत' (टाइम थ्योरी) में कोई सच्चाई है कि एक निश्चित राग किसी खास समय गाना चाहिए ओर दूसरा दूसरे समय। हमारे यहां विभिन्न स्वरों को पशुपक्षियों से जोड़ा गया है—यथा, 'कोयल' के साथ पंचम स्वर। पंडित जी महाराज का आग्रह रहता कि इस संबंध में कुछ खोज होनी चाहिए।

इस तरह लाहौर का गांधर्व महाविद्यालय मात्र एक संगीत–शिक्षण–केंद्र नहीं था, वह संगीत की एक आवासीय अकादमी बन गया था। इस संस्थान के जीवन में दो विशिष्ट गुण थे—अनुशासन और पवित्रता। गुरुकुल की भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के शुचित्वपूर्ण वातावरण में यहां अनेक बालयुवकों के व्यक्तित्व-विकास और सांगीतिक प्रावीण्य की साधना हो रही थी, जिसका अंतिम लक्ष्य संगीत का अभ्युत्थान और उद्धार था।

विनायकराव जी के मन पर विद्यालय के इन सभी संस्कारों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव हुए बिना नहीं रहा। वे स्वयं मेधावी थे और एक बार जानी या कही हुई बात को तुरंत हृदयंगम कर लेते थे। किंतु लाहौर में तो उनका अभी अभी प्रवेश हुआ था और वह भी किशोर वयस में। इसलिए उनके आरंभिक दिन एक तरह से वातावरण से अपने को समायोजित करने में ही बीते होंगे। वे लाहौर में अगस्त १९०८ तक ही रह पाए। क्योंकि उन्हें पंडितजी के साथ सितंबर १९०८ में बम्बई जाना पड़ा और उनका आगे का संपूर्ण विकास वहीं पर याने बम्बईस्थित गांधर्व महाविद्यालय में ही हुआ।

गांधर्व महाविद्यालय, बम्बई

समय की गति के साथ लाहौर (पंजाब) के गांधर्व महाविद्यालय की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। संगीत की शिक्षा के लिए एक व्यवस्थित पाठ्यक्रम का गठन हो चुका था। उसके लिए स्वरलिपि से युक्त पाठ्यपुस्तकें भी छप चुकी थीं। विद्यालय की परीक्षाएं नियमित रूप से होती थीं, जिनके कारण संगीत शिक्षा के क्षेत्र

में एक नया अध्याय ही खुल गया था। पंडित जी के विचारों एवं आदर्शों के अनुरूप प्रशिक्षित संगीत अध्यापको को, जो आगे चल कर संगीत के लिए 'मिशनरी' बनने-वाले थे, तैयार करने का कार्य प्रगति पथ पर था। सामान्य लोगों के मन में संगीत के प्रति रुचि पैदा होने लगी थी और स्थान स्थान से प्रशिक्षित संगीत-अध्यापकों की मांग का आना शुरू हो गया था।

विद्यालय के इस बहुआयामी विकास ने पंडित जी की महत्त्वाकांक्षा को और अधिक प्रोत्साहित किया और उन्होंने विद्यालय की दूसरी शाखा खोलने का विचार पक्का किया। इसके लिए उन्होंने बम्बई शहर चुना, जो कि सचमुच 'भारत का द्वार' होने से सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। फिर यह उस इलाके की राजधानी थी, जहां से वे स्वयं और उनके बहुत से शिष्य लाहौर आए थे। सितंबर १९०८ को पंडित जी अपने कुछ चुने हुए शिष्यों के साथ बम्बई आए और अक्तूबर में दशहरे के दिन जगद्गुरु शंकराचार्य की अध्यक्षता में गांधर्व महाविद्यालय की बम्बई वाली शाखा का औपचारिक उद्घाटन संपन्न हुआ। इस संस्था के प्रधानाचार्य पंडित जी स्वयं ही थे और उपप्रधानाचार्य की हैसियत से पं. गुरुदेव जी पटवर्धन उन्हें सहयोग देते थे। विनायकराव जी को मिशनरियों की कक्षाओं में यानी 'उपदेशक वर्ग' में समाविष्ट कर लिया गया था। उनके साथ सर्वश्री बाबूराव गोखले (पंडित जी की बहन के पुत्र), धुंडिराज पलुसकर (पंडितजी के भाई के पुत्र), रघुनाथ पटवर्धन (विनायक जी के चचेरे भाई) तथा शंकरराव पाठक भी इसी कक्षा में थे। इस शिष्यवर्ग में आगे चल कर सर्वश्री शंकरराव व्यास, नारायणराव व्यास, वामनराव पाध्ये, ओंकारनाथ ठाकुर तथा गोविंदराव देसाई भी आ मिले। पिछले अध्याय में इन सब का उल्लेख हुआ ही है। इस समस्त 'उपदेशक' शिष्यवर्ग ने विद्यालय से स्नातक हो जाने के उपरान्त संगीतज्ञ, संगीतकार, और संगीत-प्रसारक के रूप में विपुल ख्याति अर्जित की और वे भारत भर में संगीत को उसकी खोयी हुई प्रतिष्ठा प्राप्त करा देने में पर्याप्त मात्रा में सफल हो गए, जो निःसंदेह पंडित जी की दूरदृष्टि, ध्येयवाद एवं कार्यकौशल का ही फल था।

इस भावी यशस्विता के बारे में स्वयं पंडित जी भी मन ही मन आश्वस्त थे। उनके इस आत्मविश्वास की झलक एक विशेष घटना से मिलती है। पंडित जी ने १९१५ में बम्बई में गांधर्व महाविद्यालय के लिए एक चार मंजिलवाला भव्य भवन खड़ा किया। किंतु १९२४ में भवन के ऋणदाताओं ने अदालत से कुर्की के आदेश प्राप्त किए और पंडित जी के दौरे से लौट आने के पहले ही भवन का नीलाम कर दिया। इस नीलाम से बचने का एक अवसर पंडित जी के सामने आया था। परंतु अटल रामभक्ति के कारण वे उससे विमुख ही रहे। विद्यालय में रामनाम की धुन का 'पहरा' लगा

हुआ था जिसमें पंडित जी की बारी थी। इसी समय किसी राजासाहब का संदेशवाहक आया और उसने कहा कि हमारे राजासाहब इसी वक्त आपका गाना सुनना चाहते हैं। यदि आप आएंगे तो आपको भरपूर द्रव्यलाभ होगा। यदि पडित जी जाते तो भवन के लिए धन जुट जाता। परंतु पंडित जी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने सबसे कहा— "मेरा कार्य अब ईंट-गारे की इमारत पर टिका हुआ नहीं है। मेरे शागिर्द भारत भर में फैले हुए हैं। वे मेरा ही कार्य कर रहे हैं। उनकी सफलता को देखकर मुझे इस भवन के बिछोह का कुछ शोक नहीं है। मेरे शिष्य सच्चरित्रतासंपन्न हैं और कुछेक तो बड़ा नाम कमाए हुए हैं। मेरा शेष कार्य वे ही चलाएंगे।"

विनायकराव जी को बम्बई के गांधर्व महाविद्यालय में अत्यंत अनुशासनबद्ध रीति से संगीत की शिक्षा प्राप्त हुई। वस्तुतः इसके पूर्व उनके बहुआयामी व्यक्तित्व-विकास का जो उल्लेख आया है, उसका श्रेय लाहौर की अपेक्षा बम्बई के महाविद्यालय को ही देना होगा। अतः यहां पर यह देखना संगत होगा कि बम्बई के विद्यालय में कौन-कौनसी गतिविधियां किस प्रकार चलती थीं।

यद्यपि यह विद्यालय लाहौर के ढंग पर ही विकसित हुआ, तथापि बाद में उसमें और भी कतिपय नये कार्यक्रमों का अंतर्भाव हुआ। संगीत की पाठ्यपुस्तकों तथा अन्य सहायक साहित्य की छपाई के बढ़ते हुए काम की वजह से छापेखाने को लाहौर से बम्बई लाया गया। इसीके साथ पंडित जी ने संगीत के वाद्यों की मरम्मत के लिए एक कारखाना भी शुरू किया। आगे यह कारखाना बढ़कर 'म्युजिकल इन्स्ट्रूमेंट सप्लाइंग कंपनी' में परिणत हो गया। इसी प्रकार 'गांधर्व महाविद्यालय' नाम की एक मराठी पत्रिका भी यहां से प्रकाशित होने लगी। पुरुष वर्ग के साथ साथ महिला वर्ग के संगीत शिक्षण का भी प्रबंध विद्यालय में किया गया। पं. रघुनाथ केशव पटवर्धन की पत्नी श्रीमती जानकी पटवर्धन विद्यालय की ज्येष्ठ प्रमुख शिष्या थीं। उन्होंने पंडित जी की जन्मशताब्दी के वर्ष (१९७२) में 'गीत रत्नेश्वर' नामक एक लघु पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें महिलाओं की संगीत-शिक्षा के संबंध में स्वानुभव पर आधारित विशेष जानकारी ग्रथित है।

बम्बई के गांधर्व महाविद्यालय में विनायकराव जी १९१४ तक रहे। इन छः वर्षों के दीर्घ कालखंड में उन्हें पं. विष्णु दिगंबर जी की निकट संगति में रहने का अवसर मिला और विशेष तौर पर यह उल्लेखनीय है कि उन्हें अपने विनम्र और सेवाभावी व्यवहार से पंडित जी महाराज के विशेष अनुग्रह का प्रसाद भी प्राप्त हो सका। एक बार पंडित जी की आंखों में बहुत दर्द होने लगा। उनकी आंखों की शिकायत तो हमेशा ही रहती थी। ऐसे अवसर पर आंखों को अफीम की फलियों से सेंकना पड़ता।

उस दिन विनायकराव जी रातभर जागकर आंखें सेंकते रहे, जिससे पंडित जी को कुछ राहत मिली और उसका मधुर फल यह निकला कि गुरुमहोदय से शिष्य को देवगिरी बिलावल की बंदिश 'या बना ब्याहन आया' की खास तालीम प्राप्त हो सकी।

छात्रावास में और विद्यालय के वातावरण में शिष्यों के बीच कुछ छेड़-छाड़ चलना स्वाभाविक ही था। विनायकराव जी की नम्रता और सेवावृत्ति देख कर कुछ सहपाठियों ने एक प्रसिद्ध बंदिश 'नित नमो' के आधार पर विनायक का नाम 'नित नमो' रख दिया था। वस्तुतः विनायक गुरुभक्ति में सबसे आगे थे। अपने किशोर वय में अपने भारी डील-डौल के कारण कुछ प्रौढ ही नजर आते और स्वभाव से भी काफी गंभीर थे। छेड़-छाड़, नोंक-झोंक और उन्मुक्त हंसी-मज़ाक में उन्हें बचपन से ही अरुचि रही। उनकी यह स्थिरता, गंभीरता और अचांचल्य देख कर गुरु महाराज भी मन ही मन उनके प्रति अधिक आश्वस्त रहे होंगे, जिसका प्रमाण कुछ बातों से मिलता है; किंतु वह संदर्भ थोड़ा आगे आनेवाला है। संप्रति यह देखना है कि विनायकराव जी के सांगीतिक व्यक्तित्व का विकास विद्यालय में किस प्रकार सिद्ध हुआ।

सर्वांग विकास

यह पहले लक्षित किया जा चुका है कि गांधर्व महाविद्यालय का उद्देश्य मात्र गायन अथवा वादन की शिक्षा प्रदान करना नहीं था वरन् विद्यालय के स्नातक को 'ऑल राऊंडर' बनाना था। अर्थात् विद्यालय का स्नातक गायन अथवा वादन में से किसी एक शाखा पर अधिकार प्राप्त करता था और उसके साथ ही साथ इतर आनुषंगिक बातों का ज्ञान उसे प्रायोगिक तौर पर प्राप्त करना पड़ता था। इस दृष्टि से विनायकराव जी का प्रमुख ध्येय गायन में सिद्धि प्राप्त करना था। किंतु विद्यालय की पद्धति के अनुसार गायन के साथ ही वादन और नृत्य की बुनियादी शिक्षा भी उनके लिए आवश्यक थी। और यह व्यवस्था सभी 'उपदेशक वर्ग' के शिष्यों के लिए जारी थी। वादन में तबला, जलतरंग, सितार और व्हायलिन की शिक्षा अंतर्भूत थी। इसका प्रबंध उपप्रधानाचार्य पं. गुरुदेव जी पटवर्धन के जिम्मे था। तबला-मृदंग की शिक्षा तो वे स्वयं ही देते थे। व्हायलिन के लिए आज के विख्यात व्हायलियन-वादक एम. एस. गोपालकृष्णन् के पिता सुंदरम् अय्यर का लाभ विद्यालय को हुआ था। जलतरंग स्वयं पंडित जी सिखाते थे। नृत्य की शिक्षा का भी ध्यान रखा जाता। पंडित जी समझाते कि तराना गाते समय द्रुत तथा अतिद्रुत लय में अक्षरों का लयबद्ध उच्चारण ठीक ढंग से करने के लिए नृत्य के पदन्यास का अनुभव काम आता है; अतः लयबद्धता में प्रवीणता प्राप्त करने की दृष्टि से गायक या वादक को नृत्य का बुनियादी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

इस बहुविध व्यवस्था का लाभ विनायकराव जी को स्वाभाविक रूप से मिला। वे हारमोनियम, तबला, जलतरंग, सितार, तारशहनाई और व्हायलिन बजाना सीख गए। यह केवल कहने भर की बात नहीं; क्योंकि 'पं. विनायकबुवा' बन जाने के बाद समय समय पर उनके इस विविध वादन-कौशल का अनुभव उनके अनेक शिष्यों को मिला। रियासत मिरज की राजकुमारी कु. मंगलादेवी को उन्होंने गायन के साथ सितार के भी कुछ पाठ दिए थे। जलतरंग भी वे अच्छा बजा लेते थे। पं. विनयचंद्र जी मौद्गल्य को उन्होंने ही जलतरंग सिखाया था। तबले का ज्ञान तो उनका बहुत ही पक्का था, जिसका उपयोग उन्हें महफिलों में 'दबंग' तबलावादक से 'मुठभेड़' लेने में भली प्रकार हुआ। उपदेशक वर्ग के शिष्यों को तबले पर हाथ फेर कर उसका बुनियादी ज्ञान पाना अनिवार्य ही था। परंतु पंडितजी महाराज ने गायन और वादन को गड्ड-मड्ड होने नहीं दिया था। केवल वादन में प्रवीणता प्राप्त करनेवालों की शिक्षा का अलग प्रबंध था और गायनवालों का अलग। किंतु इन दोनों को एक दूसरे की शाखाओं का निकट से परिचय प्राप्त हो इस उद्देश्य से विद्यालय में गायकों को वादन की परिचयात्मक शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए संसार पं. विनायकराव जी को गायक के रूप में ही पहचानता है। उनका वादन-कौशल परदे की ओट ही रहा।

विनायकराव जी के वादन-कौशल के बारे में उनकी स्नुषा श्रीमती सुधा मधुसूदन पटवर्धन (पुणे), जो आज स्वयं एक अच्छी गायिका हैं, का एक संस्मरण यथामूल दे रहे हैं—

"एक दिन मैं संगीत महाविद्यालय से अध्यापन समाप्त कर लौटी तो देखा कि पंडित जी घर में अकेले थे और हारमोनियम बजा रहे थे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि वे कभी बाजे की पेटी को हाथ नहीं लगाते थे - कम से कम मैंने नहीं देखा था। अतः जब एक हरकत बडी अच्छी निकली तो मेरे मुख से प्रशंसा के उद्गार निकल पड़े। बस, उन्होंने बजाना बंद कर दिया। मैंने अनुरोध किया, "आप इतना अच्छा बजाते हैं, मुझे पता नहीं था, बजाइए न थोड़ी देर!" परंतु उन्होंने एक सुर भी नहीं बजाया। पं. विष्णु दिगंबर जी ने उन्हें वादन के साथ नृत्य की शिक्षा दी थी। किंतु यह मंत्र दिया था कि कंठसंगीत में पूर्ण निपुणता प्राप्त करने के लिए अन्य विषयों पर ध्यान केंन्द्रित करना अनुचित होगा। अतः कंठसंगीत के अलावा किसी अन्य कला का प्रदर्शन (ज्ञान होने पर भी) वे नहीं करते थे। मेरे अनुरोध पर ७५ वर्षीय पंडित जी यदि थोड़ी देर हारमोनियम बजाते तो उनके अंगीकृत कार्य में ध्यान विचलित होने की अणुमात्र संभवना नहीं थी। किंतु आजीवन उन्होंने जिस प्रणाली को अपनाया उसे निभाया भी।"

वाद्य-शिक्षा के साथ ही साथ विद्यालय में कत्थक नृत्य की प्राथमिक शिक्षा भी दी जाती थी। विनायकराव जी को नृत्य की भी शिक्षा मिली और 'गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते' के अनुसार गायन के लिए पोषक अंगों के रूप में तंतुवाद्य द्वारा सुरों के महीन से महीन शुद्ध रूप के श्रावणिक संस्कार, तालवाद्य द्वारा लयकारी का स्वानुभूत ज्ञान तथा नृत्य के द्वारा संगीत के दृश्य स्वरूप का प्रातिभ ज्ञान उन्हें प्राप्त हो सका।

इन सभी संस्कारों के बावजूद और दो क्षेत्रों का भी पंड़ित जी महाराज ने ध्यान रखा था—मुद्राक्षर जोड़ने की कला तथा शारीरिक व्यायाम। संगीत की पुस्तकें छपवाने के लिए विद्यालय ने एक छोटा-सा छापाखाना खरीद लिया था और उसके लिए मुद्राक्षर जोड़ने का (कंपोज़िंग) कार्य चुने हुए छात्रों से कराया जाता था। विनायकराव जी उनमें एक थे और विद्यालय की बम्बई की शाखा में चलनेवाले मुद्रण कार्य का दायित्व संभालते। इस कार्य की देखरेख श्री. नारायण खांडेकर के ज़िम्मे थी, जो पहले 'निर्णयसागर प्रेस' में काम कर चुके थे और अपने मधुर कंठ के कारण लाहौर में महाराज के पास संगीत सीखने के लिए विद्यालय में प्रविष्ट हुए थे।

पंड़ित जी विद्यालय के अध्यापकों के वेशभूषा तथा शिष्टाचार पर कड़ी निगरानी रखते। अध्यापकों को पैण्ट, कोट, साफा या टोपी का वेष नियत किया गया था। छात्रालय के छात्रों को प्रातः साढ़े पांच बजे जागना पड़ता। ठीक सात बजे प्रार्थना आरंभ होती। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः' श्लोक के बाद दादरा ताल में 'रचा प्रभु तूने यह ब्रह्मांड सारा' यह गीत भैरवी में सामूहिक रूप में गाया जाता। संध्या को ठीक सात बजे सबेरे के समान फिर एक प्रार्थना होती। इस समय गुरुस्तवन के बाद 'जय जगदीश हरे' यह भक्तिरस-प्रधान गीत गाया जाता था। प्रातः सात से दस और दोपहर तीन से नौ तक बाहर से आनेवाले छात्रों की कक्षाएं चलती थीं। इसमें तीन से छः तक का समय केवल महिलाओं के लिए सुरक्षित था। पढ़ाने का काम उपदेशक वर्ग के अध्यापकों को सौंपा गया था। अधिक प्रगतिवाले शिष्यों को स्वयं पंडित जी सिखाते। इस व्यवस्था के साथ परीक्षाएं भी कार्यान्वित होने लगीं। पंडितजी ने संगीत का नौ वर्ष का पाठ्यक्रम बनाया था और उसे दो हिस्सों में बांट दिया था। पहले चरण में इसकी अवधि चार वर्ष की थी और उसे 'संगीत प्रवेशिका' कहते थे। दूसरा चरण पांच वर्ष का था। आखिर में जब छात्र पूरे नौ वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा कर लेता था तब उसे 'संगीत प्रवीण' की उपाधि दी जाती थी। इस व्यवस्था के अनुसार विनायकराव जी तथा ना. मो. खरे इत्यादि उनके सहाध्यायी, जो १९०७ में विद्यालय में दाखिल हुए थे, १९११ में 'संगीत प्रवेशिका' परीक्षा में बैठे और सब के सब अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए। इस परीक्षा के लिए 'संगीत स्वरालंकार', 'संगीत बालबोध',

'संगीत प्रवेश' तथा 'संगीत रागप्रवेश (भाग १ से १९)' पुस्तकें नियुक्त थीं। रागप्रवेश के माध्यम से कल्याण, भैरवी, भूपाली, खमाज, भैरव, बड़हंस, सारंग, हमीर, भीमपलासी, केदार इत्यादि रागों का ज्ञान और अभ्यास कराया जाता था। विशेष तौर पर बिहाग, कल्याण भूपाली भैरव, और मालकंस – इन रागों में से एक–एक का ख्याल आलाप तानसहित और विस्तार के साथ आधे घंटे तक गाने की योग्यता छात्र को प्राप्त करनी पड़ती थी।

विनायकराव जी की आरंभिक संगीत शिक्षा इस व्यवस्था के अनुसार हुई थी। संगीतप्रवेशिका के बाद अपने सहाध्यायियों के साथ विनायकराव जी 'संगीत प्रवीण' परीक्षा की तैयारी में लग गए और उन्हें पंडित जी महाराज का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन नियमित रूप से मिलने लगा। ऐसे चुने हुए शिष्यों की कक्षाएं रात को १० से १२ बजे तक महाराज स्वयं ही लेते थे। उस समय वे उन्हें बारी-बारी से सब रागों की गायकी तथा नई-नई बंदिशें सिखाते। कोई ख्याल, तराना आदि क्रमशः शिष्यों को अपने साथ गाने के लिए कहते। बारी-बारी से सब शिष्यों को आलाप, तान, बोलतान आदि गाना पड़ता। ताल के साथ ठीक समय पर मुखड़ा पकड़कर आना वगैरह कौशलों की शिक्षा इसी समय पर ठीक रीति से होती थी। इस खास 'तालीम' की वजह से शिष्यों को लय का ज्ञान अच्छी तरह हो जाता था। किसीके गाने में यदि किसी किस्म की कोई त्रुटि देख पड़ती तो डांट और फटकार भी खानी पड़ती। तात्पर्य यह कि पंडित जी महाराज अपने इन खास शिष्यों को 'गढ़ने' में कोई कसर उठा नहीं रखते थे। विनायकराव जी ने अपने भावी जीवन में सुर, लय, ताल, राग आदि पर जो अभूतपूर्व अधिकार प्राप्त कर लिया उसका मूल इस प्रशिक्षण में था। उनकी संगीत–साधना निहायत सुदृढ़ नींव पर खड़ी थी। फलतः संगीत के प्रदर्शन में तथा अन्य किसी भी कार्य में उन्हें कभी असफलता का सामना नहीं करना पड़ा।

व्यक्तित्व–गठन

विनायकराव जी के व्यक्तित्व-गठन के कुछ और पहलुओं का भी इसी सिलसिले में बयान करना उचित होगा। इस दृष्टि से यहां पर उनके सहाध्यायी तथा उनके चचेरे भाई श्री. रघुनाथ केशव पटवर्धन की डायरी का एक पृष्ठ उद्धृत किया जाता है, जो रघुनाथ जी की पत्नी एवं विष्णु दिगंबर जी की शिष्या संगीत प्राध्यापिका श्रीमती जानकी जी द्वारा लिखित 'गीत रत्नेश्वर' (१९७२) हिंदी पुस्तिका में संगृहीत है। इसकी टिप्पणी में लिखा गया है— "पं. विष्णु दिगंबर जी दौरे पर जाते समय बंबई के गांधर्व महाविद्यालय का व्यवस्थापन अध्यापक–शिष्यों की मीटिंग लेकर सुनिश्चित करते थे। यहां पर मार्च १९२० की ऐसी एक मीटिंग का ब्योरा उद्धृत है। पं. रघुनाथ केशव पटवर्धन की मूल मराठी डायरी श्रीमती जानकी रघुनाथ पटवर्धन के संरक्षण

में है। ” डायरी के उस पृष्ठ का हिंदी अनुवाद मूल पुस्तिका से ही दिया गया है—

दि. २२–३–१९२०

(१) आज के दिन बैठक में तय हुआ कि अगर विद्यालय में किसी सदस्य का कोई मेहमान आए तो उससे प्रतिमास २० रु. के रूप में चार्ज काट लिया जाए।

(२) विद्यालय का संपूर्ण काम श्री. रघुनाथराव पटवर्धन को सौंपा गया है। जलसों की व्यवस्था भी उन्हींके जिम्मे रहेगी।

(३) बोर्डिंग (भोजनादि) का सारा कारोबार श्री. बाबूराव गोखले संभालेंगे।

(४) दि. २१–३–१९२० के दिन दोपहर कार्यकारिणी मंडल की सभा बुलायी गयी थी। उसमें निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे—
(१) तीर्थरूप गुरु महाराज साहेब, (२) रघुनाथराव, (३) बाबूराव,
(४) विनायकराव, (५) चिंतामणराव, (६) शंकरराव व्यास,
(७) पट्टणकुडीकर.

(५) ती. गु. (तीर्थरूप गुरुदेव) महाराज के दौरे से वापस आने तक नियोजित महत्त्व का काम करने के संबंध में निम्नलिखित लोगों की संयोजना की गई है।
(१) श्री. रघुनाथराव पटवर्धन– सभापति व प्रिन्सिपल,
(२) श्री. बाबूराव (गणेश रामचंद्र) गोखले – उपाध्यक्ष
(३) श्री. बाकरे (कार्यवाह)
(४) चिंतामणराव, शंकरराव व्यास, पट्टणकुडीकर — सभासद सदस्य।

(६) शिक्षा विभाग का दायित्व प्रो. रघुनाथराव पटवर्धन को सौंपा गया है। शिक्षाकार्य में जो जो संभवनीय सुधार हैं उन्हें वे नोट कर रखेंगे तथा बोर्डिंग के छात्रों की व्यवस्था पर ध्यान देंगे। इसी प्रकार कार्यालय विभाग भी उन्हींके जिम्मे रहेगा। इसमें पत्रव्यवहार, छात्रप्रवेश, व्ही.पी. करवाना नोकरों के काम की देखभाल, पुस्तक संबंधी जिम्मेदारी, तथा संगीत कार्य-क्रम के लिए संगीत मंडली भेजना आदि कामों का अंतर्भाव है।

प्रा. बाबूराव गोखले का काम : (अ) भोजन विभाग – बर्तन, कोठी, पीढ़े वगैरह। (आ) जलसा विभाग – भजन, कीर्तन इत्यादि।

श्री. विनायकराव का काम—विद्यालय के भवन की देखभाल, बिजली, बगीचा, प्रेस विभाग, कैशियर का कार्य तथा को-ऑपरेटिव स्टोअर्स में श्री. शंकरराव व्यास की

सहायता करना। अन्य कार्यभार : श्री. चिंतामणराव — वाद्य-विभाग, शंकरराव व्यास - को-ऑपरेटिव स्टोअर्स, पट्टणकुडीकर-फर्निचर विभाग, शास्त्रीबुवा-ग्रंथालय।

डायरी के इस पृष्ठ से गांधर्व महाविद्यालय के अनुशासन और बहुआयामी प्रशिक्षण का सबल प्रमाण मिलता है। पं. विनायकराव जी १९२० से ही महाविद्यालय के प्राध्यापक के नाते कार्यरत हो गए थे। इसके पूर्व याने १९११ में 'प्रवेशिका' उत्तीर्ण होने के बाद इन सभी शिष्यों को पंडित जी ने प्राथमिक अध्यापक बना ही दिया था। पं. विनायकराव जी भी उनमें से एक थे। वे तो लाहौर से ही शिष्य मंडली में शामिल थे, अतः उपदेशक वर्ग के अंतर्गत उनका स्थान पहले दल में था। गांधर्व महाविद्यालय की परंपरा के अनुसार ज्येष्ठ कक्षा के शिष्य निम्न कक्षाओं को सिखाने का कार्य करते थे। तदनुसार बंबई के गांधर्व महाविद्यालय में आगे चलकर ख्याति पाये हुए कुछ गायकों को सिखाने का दायित्व भी विनायकराव जी को निभाना पड़ा था। इन गायकों में पं. नारायणराव व्यास तथा पं. ओंकारनाथ ठाकुर इत्यादि सत्‌शिष्य थे। कालांतर से इन शिष्यों को भी पं. विष्णु दिगंबर का मार्गदर्शन नियमानुसार मिलने लगा और भविष्य में विनायकराव जी, नारायणराव जी, ओंकारनाथ, वामनराव जी पाध्ये इत्यादि सभी की गणना पंडित विष्णु दिगंबर के ज्येष्ठ शिष्यों में होने लगी।

बात यह थी कि गांधर्व महाविद्यालय की शुरूवाली इमारत में पंडित जी का उत्साह और मनःस्वास्थ्य जोरों पर था। महाविद्यालय का निजी भवन बना और चंद ही वर्षों में पंडित जी के सामने भयानक आर्थिक संकट आ खड़ा हुआ। इसलिए १९१५-१६ के बाद उपदेशक वर्ग में जो अनेक शिष्य सम्मिलित हुए उन्हें पंडित जी का व्यक्तिगत मार्गदर्शन पहले जैसा मिलना दूभर हो गया। १९१५ तक शिष्यों के दैनंदिन कार्य पर उनकी कड़ी निगरानी रहती थी। शिष्यों को वे नियमित रूप से तालीम देते और वे ठीक से मेहनत कर रहे हैं या नहीं इसपर बारीकी से ध्यान देते। इसीलिए इस कालखंड में जो शिष्य तैयार हो गए उनका बड़ा नाम हो गया। विनायकराव जी इन्हीं भाग्यवान शिष्यों में थे।

इन शिष्यों को पंडित जी स्वयं शिक्षा प्रदान करते थे। शिष्यों को सिखाते समय वे उनके आवाजधर्म का भी ख्याल रखते। एक बार पंडित जी ने नारायणराव व्यास जी को राग गौड मलार की तालीम दी और समानांतर रूप से विनायकराव जी को मिया मलार की। गौड मलार के चपल-चंचल मोहक रूप से प्रभावित होकर विनायकराव जी ने गुरु से पूछा कि आपने मेरे लिए यह गंभीर प्रकृतिवाला मिया मलार क्यों चुना? मुझे भी गौड मलार की तालीम क्यों नहीं मिल रही है? तब पंडित जी ने समझाया कि नारायण की आवाज पतली और चपल है जब कि तुम्हारी आवाज में गंभीरता है। नारायण के गले में मिया मलार उतना फबेगा नहीं।

फिर भी इन समस्त शिष्यगणों में पं. विनायकराव जी का स्थान कई कारणों से विशिष्ट ही रहा। ऐसा मानने के लिए गुंजाइश है कि गुरुदेव का इस शिष्य पर विशेष अनुग्रह रहा। विनायकराव जी के गंभीर, आज्ञाकारी और कर्मठ स्वभाव ने उन्हें आश्वस्त किया होगा कि यह शिष्य मेरा 'मिशन' आगे सफलतापूर्वक चलाएगा। पंडित जी ने विद्या का वितरण सभी प्रशिष्यों में प्रायः समान रूप से ही किया होगा। परंतु अध्ययन समाप्ति के बाद 'स्वाध्याय' के लिए उन्होंने विनायकराव जी का अप्रत्यक्ष रूप से जो मार्गदर्शन किया वह अन्य शिष्यों के लिए दुर्लभ रहा। इस दुर्लभ मार्गदर्शन की कहानी अब जाननी है।

गणेश संगीत विद्यालय

विनायकराव जी के बंधपत्र के अनुसार उन्हें गुरु जी के पास १९१४ तक रहना था और उसके बाद तीन वर्ष तक मिरज में रहकर 'स्वावलंब-साधना' करनी थी। मिरज रियासत से मिलनेवाली छात्रवृत्ति की अवधि भी १९१४ में समाप्त होनेवाली थी। अतः गुरु जी के आदेश से वे अपने पैतृक गांव मिरज में उपस्थित हो गए। वहां उन्हें संगीत की साधना करनी थी और कुछ अध्यापन भी। संयोग ऐसा रहा कि जिन केशवराव पटवर्धन जी ने अपने भतीजे विनायक को १९०५ से१९०७ तक अपने गणेश संगीत विद्यालय में संगीत सिखाया था उसी गणेश संगीत विद्यालय के संचालन का अवसर उसे प्राप्त हुआ। विनायकराव जी उस समय केवल षोडशवर्षीय युवक थे। किंतु अपनी गंभीर प्रकृति, गहरी संगीत-साधना का सहज तेज और भारी भरभकम डील-डौल के कारण इस अल्प वयस में भी संगीत गुरु का दायित्व उन्होंने भली भांति निभाया। और यह स्वयं स्पष्ट है कि उनकी इस सफलता के पीछे पं. विष्णु दिगंबर के विराट् आयोजन की पृष्ठभूमि भी थी। १९१४ तक पंडित जी महाराज की कीर्ति देश के कोने कोने में फैल गयी थी। जनसाधारण के मन में इस काल तक संगीत साधना को लेकर एक तरह की जागृति पैदा हुई थी। संगीत की विधिवत् शिक्षा प्रदान करने का आश्वासन इस नूतन आंदोलन में अनुस्यूत था। क्योंकि ये विद्यालय विशिष्ट पाठ्यक्रम, समयसारिणी, पाठ्यपुस्तकें और परीक्षा तथा प्रमाणपत्रों के अनुशासन पर चलाये जाते थे। पं. विनायकराव जी ने पुराने गणेश संगीत विद्यालय को इस नवीन अनुशासन से संस्कारित किया। उनके चाचा श्री. केशवराव ने यह विद्यालय पुरानी पद्धति पर चलाया था, जिसमें गुरुमुख से जो सुनायी देगा उसीका अनुकरण करने पर बल था। रागों के नाम, उनके आरोह-अवरोह, वादी-संवादी, बंदिशों की स्वरलिपि या नोटेशन की शिक्षा को उसमें स्थान नहीं था। इस नयी व्यवस्थावाले संगीत विद्यालय का लाभ लेने के लिए मिरज के तथा आसपास के अनेक बालक एवं युवक आ गए। इनमें आज के

सुविख्यात संगीतवेत्ता तथा आगे चलकर पं. विष्णु दिगंबर के शिष्य प्रोफेसर बी. आर. देवधर भी थे।

गणेश संगीत विद्यालय का संचालन करने के साथ साथ विनायकराव जी 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' के उपदेश का परिपालन भी बड़े मनोयोग से कर रहे थे। इसमें कुछ अन्य मूल्यवान् संस्कारों का सुलाभ भी उन्हें गुरुदेव विष्णु दिगंबर के आशीर्वाद से प्राप्त हुआ। इनमें प्रथम था पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर की संगति में रहने का अवसर। पं. विष्णु दिगंबर ने विनायकराव जी को यह काम सौंपा था कि मेरे गुरुदेव के पास बैठकर हमारे घराने की जो बंदिशें मैंने तुम सबको सिखायी हैं उनकी शास्त्रीय शुद्धता का पुनरावलोकन कर लो और इन बंदिशों की उनके सही रूप में स्वरलिपि बनाओ। पं. विनायकराव जी के लिए यह एक सुवर्णावसर ही था और उन्होंने उसका पूरा पूरा लाभ उठाया। लगभग छः वर्ष तक उनका पं. बालकृष्णबुवा से संपर्क रहा। इस कालावधि में उन्होंने अनेकों महफिलों में तानपूरे पर इस गायनाचार्य का साथ दिया। पं. बालकृष्णबुवा के पास संगीत विद्या का समूचा भंडार वेदोक्त विद्या की तरह ज्यों का त्यों सुरक्षित था। उन्होंने इस मेधावी शिक्षार्थी को मालगुंजी, गुंजी कानडा, मालव, सामंत कल्याण, गांधारी, देवगांधारी इत्यादि खास खास रागों की खानदानी बंदिशें बतायीं। इससे विनायकराव जी का ज्ञान और भी समृद्ध हो गया। आगे नाटक मंडली में प्रविष्ट होने के बाद भी विनायकराव जी ने पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के साथ अपना संपर्क बनाए रखा था।

विनायकराव जी को दूसरा लाभ भूगंधर्व रहमतखां के साथ तानपूरे पर बैठने के कारण हुआ। उस्ताद रहमतखां रियासत कुरुंदवाड के दरबार गायक थे। मिरज से वहां पहुंचना विनायकराव जी के लिए बहुत ही आसान था। किंतु यह भी उन्होंने गुरुदेव के आदेश के बाद ही किया। और रहमत खां तो पं. बालकृष्णबुवा के एक तरह से गुरुबंधु ही थे। रहमतखां 'तराना' पेश करते समय 'दिल दिल' शब्दों का उच्चारण बड़ी चपल गति से किया करते। पं. विनायकराव जी ने तराना गायन की शैली रहमत खां से ही विशेष रूप से प्राप्त की। उनके 'दिल दिल' को उन्होंने 'दिर दिर' बनाया। वे दिर दिर को इतनी गतिमानता के साथ प्रस्तुत करने लगे की श्रोताओं के लिए वह एक अपूर्व अनुभव बनने लगा। इस संदर्भ में पं. विनायकराव जी की रूस यात्रा का स्मरण हो जाता है, जिसका ब्योरेवार विवरण पांचवें अध्याय में होनेवाला है। प्रस्तुत प्रसंग में एक दिलचस्प घटना का उल्लेख करना है। १९५४ में रूस के प्रेजिडेंट तथा अन्य श्रोताओं के सामने पं. विनायकराव जी का गायन हुआ। वहां उन्होंने अपना सधा हुआ तराना पेश किया। ज्यों ज्यों लय द्रुत से अणुद्रुत होती गयी त्यों त्यों 'दिर दिर' की गति कल्पना को भी लांघने लगी। रूस के

प्रेजिडेंट गौर से सुन रहे थे। तराना द्रुतलय की चरम सीमा पर जाकर समाप्त हुआ और श्रोताओं ने तालियों की वर्षा से उसका स्वागत किया। श्रोताओं के साथ प्रेजिडेंट महोदय भी इतने आश्चर्यान्वित हो गये थे कि उनसे रहा नहीं गया और उन्होंने विनायकराव जी से पूछा कि निश्चय ही आपने मुंह के अंदर कोई मशीन छिपाकर रखी है। विनायराव जी ने मंद स्मित किया और 'आप ही परीक्षा कीजिए' कह कर मुंह खोल दिखाया!

पं. भास्करबुवा बखले

इस प्रकार पं. विष्णु दिगंबर के अतिरिक्त ग्वालियर घराने के दो ज्येष्ठ दिग्गजों के अनुग्रह का लाभ विनायकराव जी को अपनी साधना के चरमोत्कर्ष के दिनों में मिला, जिससे उनकी तपस्या और फलीभूत हुई। इन दो संस्कारों के साथ साथ और एक दिव्य लाभ का बयान करना चाहिए। विनायकराव जी के शिक्षाकाल में बंबई में एक अत्युच्च कोटि के गायक ने अपने गायन से सभी गुनिजनों को अत्यंत प्रभावित किया था। वे थे लब्धप्रतिष्ठ गायनाचार्य पं. भास्करबुवा बखले। इनके गायन में ग्वालियर, आग्रा और जयपुर इन तीनों घरानों का अद्‌भुत परिपाक सिद्ध हुआ था, जो उनकी प्रतिभासंपन्न 'मधुकरी' वृत्ति का फल था। यों इनका प्रथम संगीत-संस्कार भी विष्णुबुवा पिंगले नामक एक कीर्तनकार द्वारा ही हुआ था। इसके बाद ये संगीत नाटकों में काम करने लगे। नाटक मंडली के इंदौर के निवासकाल में इनके मधुर कंठ और गानकौशल पर रीझकर विख्यात बीनकार उस्ताद बंदेअली खां ने अपने खर्चे से उन्हें अपना गंडा बंधवाया था। परंतु इनका वास्तविक शिक्षण बड़ौदा में ग्वालियर घराने के उस्ताद फैज मुहम्मद खां और उसके बाद आग्रा घराने के उस्ताद नत्थन खां के पास हुआ। तत्पश्चात् जब वे १८९५ में बम्बई आये तब खांसाहब अलादिया खां की जयपुर गायकी ने इन्हें प्रभावित किया और वे उनके भी शिष्य हो गए, शिष्य ही नहीं उनके लिए 'बेटा भास्कर' हो गए। विलम्बित खयाल गायकी के तो आप साकार मूर्ति ही थे। सभा गायन के सभी अच्छे अच्छे आदर्श उनकी महफिल में सजीव हो उठते थे। शास्त्रीयता और रंजकता का दुर्लभ सामंजस्य साधना उनके लिए एक सहज व्यापार था। आश्चर्य नहीं कि ऐसे सकलगुणमंडित गायन को सुनने के लिए गानरसिक बराबर ताक लगाए बैठते थे।

बम्बई के क्लबों में, धनाढ्य संगीत प्रेमियों के भवन पर तथा अन्य अनुकूल स्थानों में कभी प्रकट या कभी खानगी रूप में भास्करबुवा की अनेक बैठकें होतीं। विनायकराव जी अपने मोह को कैसे रोक सकते? किंतु भय था कि यदि गुरु महोदय मना करेंगे तो? इसलिए वे चोरी-चोरी ही ब्राह्मण सभा, ट्रिनिटी क्लब आदि स्थलों पर इन बैठकों में जाने लगे। लेकिन बात कहां तक छिपती? जब गुरु महोदय

ने शिष्य से इसके बारे में पूछा तब शिष्य चुप रहा। परंतु दूसरे ही क्षण उसका भय दूर हुआ और सो भी एक सुखद आश्चर्य के साथ। पंडित जी ने कहा— "फिर जब जाओगे तब मुझे बताकर जाना होगा और वहां से आने के बाद उस गायन की प्रमुख विशेषताओं को गाकर सुनाना होगा।"

विनायकराव जी को चुनौतियां स्वीकारना स्वभावतः ही प्रिय था। उन्होंने बिहाग की बंदिश 'कैसे सुख सोए' को ठीक भास्करबुवा की शैली में गाकर गुरु जी को आश्वस्त कर दिया। और जब गुरु महोदय ने देखा कि शिष्य में उस गायन को समझने की योग्यत है तब कहा– "तुम सिर्फ सुनो नहीं, उनके साथ तानपूरे पर संगत भी करो। लो मैं यह चिट्ठी लिख देता हूं।" द्रष्टा गुरु अपने सुयोग्य शिष्य के लिए क्या नहीं कर सकता? विनायकराव जी ने इस अवसर का भली भांति लाभ उठाया। उन्होंने पं. भास्करबुवा की लगभग २०० बैठकें सुनीं और अनेक बैठकों में उनके साथ तानपूरे पर संगत की। स्वरमंच पर प्रसन्न मुद्रा से आसीन होना, संगतकारों को प्रोत्साहित करना, स्वर के उस विशिष्ट रागांतर्गत व्यक्तित्व का खयाल रखना आदि बहुत-से गुण उन्होंने पं. भास्करबुवा से ग्रहण किये।

विनायकराव जी अपने शिष्यों के सामने पं भास्करबुवा के गायन की प्रशंसा प्रायः किया करते और कहते—"उनके केवल बंदिश प्रस्तुत करने में ही आधा रंग जम जाता था। ग्वालियर घराने के गायन में साजशृंगार करके पूजा के लिए जानेवाली किसी सुवासिनी का आभास होता है। भास्करबुवा के गाने में अभिसारिका का आकर्षण था।" परंतु ध्यान देने की बात यह है कि पं. विनायकराव जी भास्करबुवा से प्रभावित अवश्य हुए, किंतु उनका अनुकरण उन्होंने कभी नहीं किया। इस संदर्भ में उनके एक ज्येष्ठ शिष्य डॉ. वि. रा. आठवले का एक संस्मरण उद्बोधक है। एक समय आठवले जी ने पं. विनायकराव जी से अनुरोध किया कि हमें आप भास्करबुवा की गायनशैली का प्रदर्शन कर दिखाइए। विनायकराव जी ने भास्करबुवा की गायकी को मानों यथामूल ही प्रस्तुत करके दिखाया। डॉ. आठवले से रहा नहीं गया। उन्होंने पूछा— "गुरुमहोदय, आप इस गायकी को अपने गायन में क्यों नहीं समाविष्ट करते और हम शिष्यों को उसकी तालीम क्यों नहीं देते?" इसपर पं. विनायकराव जी ने जो उत्तर दिया वह उनके तत्त्वनिष्ठ व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। उन्होंने कहा— "देखो आठवले, संगीत में भी धर्मपालन की आवश्यकता रहती है। मैंने जिस परंपरा में संगीत-साधना की है वही मेरा धर्म है। गीता का वचन ही है न— स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

यहां जाते–जाते पं. विष्णु दिगंबर और पं. भास्करबुवा के स्नेहसंबंध का भी थोड उल्लेख करना अस्थान में नहीं होगा। १८९८ के अंत में पंडित जी उत्तरदिग्विजय के लिए दिल्ली गए थे तब श्रीमान तुलाराम जी ने उन्हें जालंधर के हरिवल्लभ संगीत

महोत्सव का निमंत्रण दिया। कुछ वर्ष उपरांत तुलाराम जी ने पंडित जी से अनुरोध किया कि महाराष्ट्र के किसी और अच्छे गायक का नाम सुझाइए। तब पंडित जी ने भास्करबुवा का ही नाम उन्हें बताया और तदनुसार १९०५ में पंडित भास्करबुवा का गायन हुआ और आगे उनका सिलसिला ही बन गया। पं. विनायकराव जी पर गुरु के इन गुणों का भी संस्कार हुआ था, जिसके प्रमाण अनेक घटनाओं में मिलते हैं। उनका बयान आगे के अध्यायों में होगा। एक अन्य प्रसंग भी रोमहर्षक है। बंबई के संगीत-रसिकों ने एक ही बैठक में पंडित जी महाराज और भास्करबुवा के गायन का आयोजन किया। शास्त्री हॉल में कार्यक्रम था। पं. भास्करबुवा का सम्मान रखने के हेतु पंडित जी का गायन पहले हुआ। यह गायन इतना अप्रतिम हुआ कि पं. भास्करबुवा ने कह दिया कि मैं आज नहीं गाऊंगा। मेरा गाना कल होगा। कैसी पारदर्शक कला-निष्ठा! ...परंतु किसी तात्त्विक बिंदु को लेकर इन 'दो अद्वितीय' गानमहर्षियों में कोई गलतफहमी पैदा हुई थी, जो दूर भी हो गयी। और वह सब देखने और उससे संस्कार प्राप्त करने का अवसर विनायकराव जी को प्राप्त हुआ। वह घटना इसी अध्याय में आगे आने ही वाली है।

इस प्रकार विनायकराव जी का यह सौभाग्य रहा कि उनके शिक्षाकाल में और तत्पश्चात् भी उनके आसपास उच्च कोटि के अनेक गुरुतुल्य गायक मौजूद थे और उससे बढ़कर सौभाग्य यह था कि अपने गुरु के सशक्त नेतृत्व में इन श्रेष्ठ कलाकारों के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला और उससे उनके सांगीतिक व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सका।

पुनः तपस्या

१९१४ से १९१७ के काल में विनायकराव जी ने 'गणेश संगीत विद्यालय' को सुचारु रूप से चलाया किंतु इसी बीच एक शारीरिक आपत्ति के कारण उनकी संगीत-यात्रा में अल्प-सा गतिरोध पैदा हो गया। गायक के लिए सबसे बडी न्यामत यदि कोई हो तो उसकी आवाज होती है। पुरुष गायकों की आवाज किशोर वय को पार करते करते फट ज़ाया करती है। गायक के लिए यह एक परीक्षा का समय होता है। इस प्राकृतिक आपत्ति पर उपाय भी कुछ नहीं रहता। विनायकराव जी सोलह वर्ष को पार कर गये थे और एक दिन अचानक उनकी आवाज में बिखराव की स्थिति पैदा हो गयी। तथापि विनायकराव जी ने अपना रियाज और छोटी-मोटी बैठकों में गाना जारी ही रखा। वे मिरज में हर समारोह में आवश्यकतानुसार हाजिरी बजाते। मंदिरों में और विशेष रूप से 'अंबामाता' के मंदिर में उनका गाना प्रायः हुआ करता। इसी प्रकार श्रीमंत मिरजकर को भी गाना सुनाकर अपनी प्रगति का परिचय उन्हें देना भी उनका एक

काम था। ऐसी ही एक बैठक में वे अपना गायन प्रस्तुत कर रहे थे और श्रोताओं में एक विशेष व्यक्ति उपस्थित थे — राष्ट्रीय कीर्तनकार डॉ. दत्तात्रेय पटवर्धन। पटवर्धन महोदय परम राष्ट्रभक्त, तेजस्वी, स्पष्टवक्ता और उग्र व्यक्तित्ववाले पुरुष थे। वे स्वयं भी अच्छे गायक थे और अपने कीर्तनों में गायन का बडा ही मनोहर समां बांधते थे। कीर्तनों में वे किसी न किसी राष्ट्रपुरुष की कथा को चुनते और अपनी प्रभावपूर्ण तथा नाट्यमय वाणी से तथा सुबद्ध संगीत से श्रोताओं को अत्यंत प्रभावित करते। जहां जहां वे जाते वहां उनके कीर्तन के लिये सैंकडों की संख्या में आबालावृद्धों की भीड़ जमा होती। इन पटवर्धन महोदय ने उपर्युक्त बैठक में विनायक का गायन सुना और व्यंगात्मक स्वर में कहा–"अरे इतनी लंबी तपस्या करके तुमने यही गाना पाया? तुम विष्णु दिगंबर का नाम क्या रोशन करोगे!" बस, बात लग गयी। विनायक राव जी के स्वभावगत जिद्दीपन के लिए यह हल्का-सा वाक्यप्रहार भी कम नहीं था। उन्होंने तपाक से जवाब दिया "दो ही वर्षों में मेरा जौहर देखिएगा।" यह घोषणा पं. विनायकराव जी ने की थी इसलिए उसे सच होकर ही रहना था। वे तपस्या में लग गए। अपनी मेहनत को उन्होंने और बढ़ाया और अपने काबू से छूटनेवाली कंठध्वनि को ठिकाने लाकर ही छोड़ा। कुछ दिन बाद राष्ट्रभक्त और हरिभक्तिपरायण डॉ. दत्तात्रेय पटवर्धन को उन्होंने अपना गायन सुनाया। पटवर्धन मन ही मन प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, "मैं सोचता था कि बेचारा उम्मीद हार बैठेगा, किंतु यह तो पक्का जिद्दी निकला।"

१९१७ का वर्ष समाप्त होने आया। विनायकराव जी ने गुरु को बंधपत्र में जो अवधि दी थी वह समाप्त हो गयी। किंतु यद्यपि यह बंधपत्र केवल नौ वर्ष के लिए था तथापि उसमें एक शर्त यह भी थी कि 'मैं आजीवन संगीत-साधना और संगीत-प्रसार के धर्म को निभाऊंगा'। विनायकराव जी इस प्रतिज्ञा से थोड़े ही हटनेवाले थे! गुरुदेव ने उन्हें संगीत-साधना में इतना तपाया था कि अब वही उनके लिए जीवनमंत्र था। दूसरी बात यह कि विनायकराव जी मात्र संगीत प्रवेशिका की पदवी पर संतुष्ट रहनेवाले नहीं थे। १९१७ के बाद तुरंत वे बम्बई के लिए रवाना हो गए और 'संगीत प्रवीण' परीक्षा की तैयारी में लग गए। इसके लिए तो वे पहले से ही प्रतिश्रुत थे। क्यों कि गांधर्व महाविद्यालय, बंबई में गुरुमहोदय ने इन विशिष्ट शिष्यों के सर्वांग विकास के अंतर्गत उन्हें प्रवीण परीक्षा के लिए तैयारी करने की प्रेरणा १९११ में ही दी थी।

अबतक विनायकराव जी ने संगीत का शास्त्रीय ज्ञान विपुल मात्रा में आत्मसात किया था। किंतु संगीत महज रियाज के दायरे में बंद नहीं रह सकता। उसका प्रति-फलन तो प्रस्तुतीकरण के द्वारा ही हो सकता है। जबतक कोई गायक स्वरमंच पर आरूढ़ होकर जानकार गुनिजनों को अपने गायन से प्रभावित और आनंदित नहीं

कर सकता, तबतक उसका संगीत-ज्ञान अधूरा ही माना जाएगा। पं. विष्णु दिगंबर ने, इसी हेतु, अपने इन विशेष शिष्यों को सभा-गायन का भी अभ्यास कराया। महफिल में सफल होने का गुरु-मंत्र क्या है, उसके लिए लय, स्वरालाप तथा तानक्रिया अत्यंत अचूक और साधिकार किस तरह प्रस्तुत होने चाहिए आदि सब बातों को गुरुदेव चार-चार घंटे के अभ्यास द्वारा समझाते और शिष्यों से यह सब दुहरा लेते।

संगीत-प्रदर्शन के अभ्यास के लिए बुजुर्ग गायकों के साथ तानपूरे पर संगत करना भी आवश्यक होता है। विनायकराव जी को अपने गुरुदेव के साथ तानपूरे पर संगत करने के सैकड़ों अवसर प्राप्त हुए। संगीत का नियत पाठ्यक्रम विधिवत् पूरा करने के बाद जबतक 'कुरुक्षेत्र पर भगवद्गीता सुनने' के अनेक अवसर नहीं मिलते तबतक वह शिक्षा अधूरी रहती है। पं. विनायकराव जी ने स्वयं लिखा है कि महफिल को जमाने और शास्त्रीय संगीत द्वारा श्रोताओं को आनंदित करने का ज्ञान मैंने गुरुदेव के अतिरिक्त भूगंधर्व रहमतखां, गायनमहर्षि बालकृष्णबुवा इत्यादि गायकों के साथ तानपूरे पर १०-१२ वर्ष बैठकर भरपूर प्राप्त किया।

संगीत-परिषदों से लाभ

इस सिलसिले में पं. विनायकराव जी को एक और बात का परम लाभ हुआ। महाराज पं. विष्णु दिगंबर के पास नूतन उद्भावनाओं की कमी नहीं थी। संगीत-प्रसार और संगीत अभ्युत्थान के लिए वे नित्यप्रति नए नए उपक्रम सोचते और उन्हें सफलतापूर्वक कार्यान्वित करते। १९१६ के मार्च में 'चतुर पंडित' विष्णु भातखंडे जी ने बड़ौदा रियासत के नरेश सयाजीराव गायकवाड़ की छत्रछाया में एक संगीत परिषद बड़ौदा में आयोजित की थी। उसमें उपस्थित रहने के लिए पंडित जी भी गए थे। वहां से वे यह विचार लेकर आए कि संगीत-परिषदों को राजाश्रय से लोकाश्रय की दिशा में उन्मुख करना परमावश्यक है। विचार का मन में कौंधना था कि तुरंत पंडित जी और उनके शिष्यगण उसके कार्यान्वयन में लग गए। १९१८ में पहली संगीत-परिषद संपन्न हुई और १९१९ में दूसरी और तत्पश्चात् कुछ और संगीत-परिषदें धूमधड़ल्ले के साथ होती रहीं।

१९१८ के मार्च महीने में गांधर्व महाविद्यालय के भवन में प्रथम संगीत-परिषद का आयोजन हुआ। इस परिषद के लिए भूगंधर्व रहमत खां को श्रीमंत अण्णासाहब कुरुंदवाड़कर ने भेजा था। इसके सिवा पं. बालकृष्णबुवा, पं. भास्करबुवा बखले, पं. रामकृष्णबुवा वझे, पं. अनत मनोहर, गायनाचार्य बालकृष्ण बुवा के शिष्य पं. गुंडूबुवा इत्यादि अनेक संगीत-साधक और विद्वान परिषद में सम्मिलित हुए थे। परिषद में प्रास्ताविक भाषण, अध्यक्षीय भाषण, सदस्यों का सहभाग, वाद्य-प्रदर्शनी तथा गायन-

वादन की महफिलें आदि आदर्श संगीत-परिषद के सभी अंगों की परिपूर्ति भलीभांति की गयी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विशाल आयोजन में शिष्य के रूप में सहभागी होने के कारण पं. विनायकराव जी को संगीत के व्यावहारिक पक्ष का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रचुरता से प्राप्त हुआ और उसका उपयोग उन्हें भावी जीवन में भली प्रकार हो सका। इस सिलसिले में गायनाचार्य भास्करबुवा बखले को परिषद के लिए ले आने का कार्य विनायकराव जी को सौंपा गया और इस मामूली काम में भी उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला।

जाने-माने गायक-वादकों से मिल लेने का काम पंडित जी स्वयं ही करते थे। सो आप गायनाचार्य भास्करबुवा बखले से मिलने गए। बात यह थी कि कुछ अर्से से इन दो महान कलाकारों के स्नेह में कुछ विक्षेप पैदा हो गया था। एक बार तो पं. भास्करबुवा ने ऐसा भी कह दिया था कि मुझे किसी पहाड़ी पर निर्जन में गाने के लिए बुलाइए लेकिन विष्णु दिगंबर के यहां मैं कतई नहीं गाऊंगा। फिर भी पंडित जी उनके यहां गए। भास्करबुवा ने टालमटूल के स्वर में कहा— "देखता हूं। आपको सूचित करूंगा"—वगैरह। तब पंडित जी ने कहा—"महाराज, पिछला सब भूल जाइए। आगे के कार्य पर, संगीत-प्रसार पर ध्यान दीजिए और इसी समय मुझे वचन दीजिए कि आप परिषद में उपस्थित रहेंगे। जब तक वचन नहीं लूँगा मैं यहांसे हटने-वाला नहीं।" भास्करबुवा भी सीधे आदमी थे। उनको हां कहना ही पड़ा। फिर नियत समय पर विनायकराव जी पं. भास्करबुवा को लेकर परिषद के मंडप में उपस्थित हुए। पं. विष्णु दिगंबर ने आदरपूर्वक उनकी अगवानी की। सभा ने भी जोरदार तालियों के साथ इस महान गायक का स्वागत किया। पं. भास्करबुवा ने अपना गायन आरंभ किया और सभा चित्रवत् स्थिर हो गयी। गायन में ऐसी रंगत आ रही थी कि सारा श्रोतृवृंद एकदम तल्लीन हो गया था। श्रोतृसमाज में रहमतखां, बाल-कृष्णबुवा, वझेबुवा, अनंत मनोहर इत्यादि बुजुर्ग गुनिजन उपस्थित थे। गाना समाप्त हुआ और पूरा मंडप तालियों की ध्वनि से देर तक गूंजता रहा। पं. भास्करबुवा ने विदा होते समय पंडित जी से हार्दिक भाव से कहा—"पंडित जी, बहुत ही जानकार श्रोतृवृंद जमा हुआ था। मैं नहीं सोचता था कि इतनी बड़ी संख्या में आए हुए ये श्रोता शास्त्रीय संगीत को इतना प्रेमपूर्वक सुन सकते हैं। विष्णुबुवा, सचमुच यह आपका प्रताप है। आप ही ने सुसभ्य समाज में संगीत का प्रसार कराया है, जिसका मधुर फल सब गायकों को मिल रहा है।" इस प्रकार की अनेकानेक घटनाओं के साक्षी रहने के कारण पं. विनायकबुवा के संस्कारशील मन का विकास अनेक दिशाओं में हो सका।

१९१९ में संपन्न दूसरी परिषद तो विनायकराव जी के लिए विशेष लाभदायक रही।

प्रो. बी. आर देवधर द्वारा लिखित महाराज की जीवनी में इस परिषद का सविस्तार वर्णन है। यह परिषद मई की ३, ४ और ५ को आयोजित थी। पंडित जी ने गायनाचार्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर को परिषद का अध्यक्ष मनोनीत किया था। पं. भास्करबुवा बखले के हाथों वाद्यों की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन हुआ। ३ मई को संध्या समय ५ बजे परिषद का आरंभ हुआ। पं. बालकृष्णबुवा का अध्यक्षीय भाषण पढ़कर सुनाया गया। दूसरे दिन प्रातः ९ बजे चर्चा का कार्यक्रम संपन्न हुआ। इसमें 'साहित्य और संगीत', 'नोटेशन पद्धति' आदि विषयों पर भाषण और चर्चा हुई। मराठी के विख्यात साहित्यकार तथा संगीतवेत्ता प्रा. ना. सी. फड़के ने सुझाव रखा कि नोटेशन के लिए देवनागरी के अक्षरों के स्थान पर स्वरों के चिह्नों का प्रयोग किया जाए। इसपर प्रा. कशाळकर ने उत्तर दिया कि हिंदुस्तानी देश की भाषा बनने जा रही है अतः इस सुधार की आवश्यकता नहीं। तब फड़के जी ने प्रतिवाद किया कि चिह्नों के कारण नोटेशन को जागतिक बोधगम्यता प्राप्त हो सकेगी। फिर इस चर्चा में पं. विष्णु दिगंबर जी ने भी भाषण दिया। पं. ओंकारनाथ ठाकुर का भी भाषण किसी दूसरे विषय पर हुआ। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के आयोजन पं. विनायक जी के वैचारिक विकास की दृष्टि से परम लाभदायक रहे। इसी प्रकार प्राचीन संस्कृत ग्रथों की प्रासंगिकता (रेलेवन्स), हिंदुस्थानी स्वरसप्तक इत्यादि विषय भी चर्चा के लिए सामने आ गए। पुणे नगरवासी संगीत-रसिक सरदार आबासाहब मुजूमदार ने 'भिन्न षड्ज' नामक राग पर एक अभिपत्र पढ़ा और उसी समय से संगीत-क्षेत्र में 'भिन्न षड्ज' राग का प्रचलन शुरू हो गया।

परंतु इन सबसे बढ़कर अत्यंत मूल्यवान लाभ पं. विनायकराव जी को हुआ, गायन-वादन के जलसों से। क्योंकि इन जलसों में स्वयं उन्हींको अपना गायन प्रस्तुत करने का सुवर्ण अवसर प्राप्त हुआ। इसे सुवर्ण अवसर इसलिए कहना चाहिए कि देश के उच्च कोटि के कलाकारों के सामने उनका गायन हुआ। जिस व्यासपीठ पर पं. बालकृष्णबुवा, पं. भास्करबुवा पं. विष्णु दिगंबर ने अपना गायन प्रस्तुत किया उसी व्यासपीठ पर बैठकर गाने का यह 'गुरुप्रसाद' ही मानो उनको प्राप्त हुआ। परिषद में विनायकराव जी को गायन के लिए आधा घंटा दिया गया था। इतने महान कलाकारों के सामने गाने के लिए एक नये स्नातक के वास्ते आधा घंटा कोई कम कालावधि नहीं। ऐसे अवसरों पर तो बड़ेबड़ों के छक्के छूट जाते हैं, लेकिन प. विनायकराव जी इस अवसर से लाभान्वित ही हुए। उन्होंने आत्मविश्वास से और शास्त्रशुद्ध रीति से अपना गायन सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया और उनका यह परिषद-गायन उनके भावी सुयश का आरंभबिंदु बन गया। वे स्वयं इस संदर्भ में लिखते हैं—" १९१९ की परिषद में मुझे आधा घंटा गाने का अवसर मिला और उस

दिन से मैं 'गायक' बनने की तैयारी में लग गया। उस दिन के बाद १९७३ तक मैंने हजारों की संख्या में गायन की बैठकों में सुयश प्राप्त किया। पूरे भारत भर घूम-कर श्रोताओं को संगीत सुनाने का प्रिय कार्य मैं कर सका। गुरुकृपा से मैं कृतार्थ हो गया। और मैं यह वास्तविक आधार पर कह रहा हूं, न कि अतिशयोक्ति का आधार लेकर।"

पं. विनायकराव जी के लिए १९१९ का वर्ष इसलिए भी महत्त्वपूर्ण रहा कि इसी वर्ष में वे 'संगीत प्रवीण' की उच्चतम परीक्षा उज्ज्वलतापूर्वक उत्तीर्ण हुए। उनके साथ उनके और भी बहुत-से सहाध्यायी 'प्रवीण' हो गए। इन सब शिष्यों ने, जो उपदेशक वर्ग के सदस्य थे, विद्यालय में अध्यापन का कार्य निभाते हुए ही इस परीक्षा के लिए अध्ययन किया था। गांधर्व महाविद्यालय की यह विशेषता ही थी कि वहां समूचा शिक्षण व्यावहारिक स्वरूप का था। यह तो बताया गया है कि शिष्यों के सर्वांग विकास पर पंडित जी कड़ी नजर रखते। इसलिए वेषभूषा, टांकटीप, सफाई, शिष्टाचार, शारीरिक कसरत, स्वास्थ्य-रक्षा, निर्व्यसनता इत्यादि अनेक बहुमूल्य गुणों का विकास शिष्यों में मात्र वातावरण के परिणाम से होता था। पं. विनायकराव जी के परिशुद्ध व्यक्तित्व का रहस्य यही था। मिरज की घटना है। विनायकराव जी को अपने गुरुवर के साथ राजवाड़े पर जाना था। मिरज के किला विभाग से ये गुरुशिष्य राजवाड़े पर जाने के लिए निकले। बहुत कुछ दूर चलने पर अचानक विनायकराव जी की छींक निकली और उन्होंने नाक पोंछने के लिए धोती के छोर को पकड़ लिया। तुरंत गुरुजी की डांट पड़ी—"अरे, यह क्या रूमाल नहीं रखा? दौड़कर जाओ और रूमाल लेकर आओ। तब तक मैं यही खड़ा होता हूं।" शिष्य गया, रूमाल ले आया तब यह जोड़ी आगे बढ़ी। गायक के व्यक्तित्व का पैमाना कहीं जरा भी नीचे नहीं आना चाहिए, इसका खयाल पंडित जी बराबर रखते।

इसी तरह की एक और घटना। एक समय सुविख्यात सितारिए उस्ताद बरकतु-ल्लाखां का सितार वादन सुनने के लिए विनायकराव जी अपने गुरुदेव समेत उपस्थित थे। खां साहब को अपनी विद्या पर अत्यधिक गर्व था, जो उनके अधिकार के अनुसार उचित ही थ। परंतु अपनी विद्या को अपने ही पास रखने का उनका स्वभाव था, इसलिए किसी जानकार के सामने वे प्रायः न बजाते। तथापि उस दिन उन्होंने सगर्व यह कहते हुए बजाना आरंभ किया कि यह न समझना कि मेरा बजाना सामान्य श्रोता के गले उतरेगा। महफिल के बीच उस्ताद जी ने एक चक्करदार तोड़ा बजाया। पंडित जी ने विनायकराव जी को आंखों से इशारा किया। विनायकराव जी ने तुरंत उस तोड़े की सरगम कर के सुना दी। खांसाहब उठे; नाराज हो बोले—"यहां तो सब चोर बैठे हुए हैं।"

बंबई के गांधर्व महाविद्यालय में पं. विनायकराव जी को ग्रंथलेखन करने तथा सभा में भाषण देने का भी अभ्यास हुआ जो उनके भावी जीवन के लिए परम उपादेय रहा। १९१७ से १९२२ तक के अंतिम कालखंड में पंडित जी ने 'संगीतामृतप्रवाह' पत्रिका के संपादन का बहुत-सा भार विनायकराव जी को सौंपा था। समय समय पर छोटेमोटे भाषण देने के भी अवसर निकल आते और विनायकराव जी को आगे बढ़कर भाषण देना पड़ता। इन सभी बातों के फलस्वरूप विनायकराव जी आगे की जीवन-यात्रा में अनेक संगीत-ग्रंथों के लेखक बन सके और इसीके साथ पुणे तथा बाहर के नगरों की उच्चस्तरीय सभा-बैठकों में भाषण देकर संगीत-प्रसार और संगीत-अभ्युत्थान के उद्देश्य की पूर्ति में अग्रसर हो सके।

नागपुर में प्रधानाचार्य

बंबई के गांधर्व महाविद्यालय के इस कालखंड में सन १९१७ में विनायकराव जी का ब्याह इचलकरंजी के श्री. बलवंतराव जोशी की कन्या के साथ हुआ। परंतु तीन ही वर्षों में २० जनवरी १९२० को ही उन्हें अपनी पत्नी का चिरवियोग सहना पड़ा। इसके बाद वे पंडित जी महाराज के आदेश से अप्रैल १९२१ में नागपुर गए और वहां की गांधर्व महाविद्यालय शाखा के प्रधानाचार्य के रूप में कार्यभार संभालने लगे। यह कार्य उन्होंने १९२२ की मई तक अच्छी तरह निभाया और अपने व्यक्तित्व एवं गायन से सबको प्रभावित किया। इस सिलसिले में विख्यात गानसाधिका श्रीमती डॉ. सुमति मुटाटकर अपने संस्मरणों में लिखती हैं– " हमारा परिवार तो संगीतप्रेमी और संगीतकारों का समादर करनेवाला था ही, और भी व्यवसायी लोग थे– सभी के मन अपनी संगीत-निपुणता, सुसंस्कृत आचार-विचार और कर्तृत्वशीलता से विनायकराव जी ने जीत लिए। उन्हें नागपुरवासियो का स्नेह और समर्थन भरपूर मिलने लगा। युवा होनेपर भी उन्हें सम्मानपूर्वक 'बुवासाहब' कहा जाने लगा। संस्था अच्छी चल पड़ी। "

विद्यालय में प्रतिमास ४५० रु. तक फीस जमा होती थी। विनायकराव जी वेतन के मद में ६० रु. और भोजनखर्च के १६ रु. लेने के अधिकारी थे। नागपुर में श्री. खाडिलकर के यहां वे भोजन लेते थे। (इस खाडिलकर परिवार से उनका परिचय दृढ़ हो गया और उसी परिवार के एक युवक मधुकर ने १९३२ में पुणे में उनका शिष्यत्व प्राप्त किया और आज एक मान्यताप्राप्त सारंगीवादक के रूप में श्री. मधुकर खाडिलकर मान्यता पा गए हैं।) इस खर्च के बाद बाकी राशि से विद्यालय का किराया और अन्य खर्च के लिए कुछ पैसा रखकर वे १५० रु. बंबई के गांधर्व महाविद्यालय को भेजते थे। नागपुर में उनके गायन के अनेक कार्यक्रम हुए। बैरिस्टर जैसे लोगों के यहां ५–६ स्थानों पर संगीत सिखाने का काम भी मिला। परंतु गुरुमहोदय की व्यवस्था

के अनुसार विनायकराव जी इस व्यक्तिगत कमाई के पैसे भी नागपुर के गांधर्व महाविद्यालय में ही जमा करते।

इन सभी दायित्वों के बीच विनायकराव जी देश की परिस्थिति के प्रति भी जागृत थे। १ अगस्त १९२१ को १ करोड़ का लोकमान्य तिलक फंड देशभर में जमा होनेवाला था। विनायकराव जी ने अपने खर्चे की रकम में से केवल २ रु. अपने लिए रखकर बाकी सब पैसे तिलक फंड में जमा कर दिए। उनकी तिलकभक्ति बहुत गहरी थी। १ अगस्त १९२० को बंबई में लोकमान्य के निधन पर उनकी अर्थी में बरसात के बावजूद वे अंततक रहे थे और बाद में बीमार भी हो गए थे।

विद्यालय वियोग

शिष्य के जीवन में कभी न कभी शिष्यत्व की समाप्ति का क्षण आता है और आना ही चाहिए। गुरु कितना भी महामहिम हो सदैव उसकी छाया में रहकर शिष्य का विकास हो नहीं पाता। १९१९ बीत गया और गांधर्व महाविद्यालय के जीवन में परिवर्तन की हवाएं बहने लगीं। एक तो यही हुआ था कि स्वयं पंडित जी का मन रामभक्ति में ही अधिकाधिक केंद्रित होता जा रहा था। उनके सिर पर विद्यालय के नए भवन के ऋण का भारी बोझ था। उससे मुक्ति पाने के लिए उनके पास संगीत के जलसों और विद्यालय की कक्षाओं के सिवा और क्या उपाय था? इस परिस्थिति ने उनमें ऐसी मानसिकता पैदा कर दी कि जहांतक हो सके सभी विद्यालय में ही रहें, कक्षाएं चलाएं और फीस का पैसा विद्यालय में जमा करें। उन्होंने शिष्यों को समझाया था कि विद्यालय में तुम्हें सिर्फ ३० रु. वेतन के रूप में मिलेंगे। शेष सारी राशि तुम्हें विद्यालय में जमा करनी होगी। यदि तुम लोग प्राइवेट कक्षा लेते हों तो उसकी फीस भी विद्यालय में ही जमा करनी होगी।

तत्त्व की दृष्टि से यह सब ठीक ही था। किंतु व्यवहारतः इसमें कई अड़चनें थीं। बहुत-से शिष्य अब विवाहित थे। उनपर परिवार का भार था। इतने कम धन में बंबई जैसे शहर में गृहस्थी चलाना सरल काज नहीं था। शिष्यों के लिए भी बंबई के बाहर संगीत के दूसरे क्षेत्र खुल रहे थे। वे वहां जाने को उत्सुक थे। स्वयं पंडित जी ही कुछेक को आदर्श गुरु के नाते बाहर भेजने में पहल कर चुके थे। इनमें विनायकराव जी एक थे। पंडित जी के ही आदेश से वे नागपुर गये थे और वहां के गांधर्व महाविद्यालय की नयी शाखा के संचालक बने थे। जून १९२२ में विनायकराव जी नागपुर से फिर बंबई आ गए। इस समय तक पं. विष्णु दिगंबर के कतिपय शिष्य इधर उधर बिखर गए थे। विनायकराव जी ने आते ही बंबई विद्यालय के कार्य में दखल देना आरंभ किया।परंतु पंडित जी के कठोर नियमों को स्वीकारना परिस्थितिवश उन्हें

मुश्किल गुजरनेलगा। ईमानदारी तो कूट कूट कर भरी थी, जो लौटकर पंडित जी के ही संस्कारोंका फल था। जहां से भी जो धन मिलता, उसका हिसाब गुरु को बताना नियम ही था। और विनायकराव जी तथा और शिष्य उसका पालन मनोयोग से करते। गुरु महोदय ने फिर वही ३० रु. वाली बात छेड़ कर कहा कि तुम उतना ही ले सकते हो और बाकी सब तुम्हें विद्यालय में जमा करना होगा। इस बिंदु पर शिष्य का संयम ढीला पड गया। उनका जन्मजात स्वाभिमान जाग उठा। मन में अनेक प्रश्न कौंध उठे। एक तो उनके दूसरे व्याह की समस्या थी। उनके चाचा डॉ. हरिभाऊ, (जिनका विशेष उल्लेख अगले अध्याय में होगा, उन्हें दूसरा ब्याह कर लेने के लिए आग्रह कर रहे थे। ब्याह करना हो तो पास में कुछ जमा तो होनी चाहिए। और इधर तो अपने कमाए हुए धन से वंचित होना पड़ रहा है। इसके सिवा पं. विष्णु दिगंबर का यह भी आग्रह था कि विनायक को अब अविवाहित रहकर विद्यालय की सेवा में लग जाना चाहिए। इस सारी पृष्ठभूमि के कारण उस विशिष्ट क्षण को विनायकराव जी का संयम ढीला पड़ गया। वे बोल उठे– "तो क्या आप हमें विद्यालय के गुलाम मानते हैं?" "हां, तुम कुछ भी कहो। मैंने तुमको बनाया है, उसका लिहाज रखना ही होगा।"

"अगर यही बात है तो मेरा निब्राह नहीं हो सकता। मुझे खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाऊंगा।"

"जाना हो तो जाओ। मैं अपने पैरों पर खड़ा रह सकता हूं।"

यह एक छोटा-सा प्रसंग था। परंतु इस प्रसंग में भावी इतिहास के बीज छिपे थे। पं. विनायकराव जी गुरुदेव का चरण-स्पर्श करके चल पड़े। इसी बीच पत्नी के देहांत का दारुण समाचार भी मिला था। ऐसी दुखमय दशा में मानसिक संतुलन का डांवाडोल होना स्वाभाविकही था।

पं. विनायकराव जी बंबई से निकले, मिरज और वहां से कोल्हापुर गए। और चाचा हरिकृष्ण पटवर्धन के पास पहुँचे उनकी यह कोल्हापुर यात्रा उनके जीवन को नयी दिशा प्रदान करनेवाली सिद्ध हुई। यहां कुछ ऐसी घटनाएं हुई जिनसे पं. विनायकराव जी को एकदम पारिवारिक और आर्थिक स्थिरता प्राप्त हो गयी और बहुत कुछ सम्मान भी मिला। इनमें एक घटना तो स्वाभाविक थी, लेकिन दूसरी नितांत अनपेक्षित।

३

रंगमंच और संगीतमंच

गुरुदेव की पितृतुल्य छत्रछाया में १५ वर्ष तक रह कर पं. विनायकराव जी ने संगीत का सर्वांगज्ञान प्राप्त किया और संगीत के साथ ही व्यक्तित्व का समुचित विकास भी साध लिया। गांधर्व महाविद्यालय तो उनके लिए एक घर जैसा बन गया था। उन गुरुदेव से और उस पुण्यपावन वास्तु से अलग होते समय पं. विनायकराव जी की मनोदशा कैसी रही होगी! क्योंकि यह अलग होना साधारण 'अलग होने' से कुछ अलग था। हल्का-सा क्यों न हो, मतभेद हुआ था और क्रोधप्रदर्शन भी। दरअसल गुरु का ही नहीं तो किसी भी वरिष्ठ व्यक्ति का अपमान करने की प्रवृत्ति विनायकराव जी में स्वभावतः ही नहीं थी। उनके संपूर्ण जीवन को देखने के बाद यह गुणविशेष स्वयंप्रकाशित हो जाता है।

परंतु विद्यालय से अलग हो जाने का निर्णय घोषित करते समय उनकी मनोदशा बहुत ही नाजुक थी। इधर विवाह के बाद तीन वर्ष में ही पत्नी का देहान्त हो गया था, उधर अपने परिवार की चिंता भी थी और सबसे बढ़कर यह कि पच्चीस की उम्र में जोर मारनेवाली निर्भयता ने सिर उठाया था। उनसे रहा नहीं गया और उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय से विभक्त होने का अपना निश्चय घोषित कर दिया। वे बंबई से निकलकर पहले मिरज पहुंचे। इस समय उनका दूसरा विवाह होना आवश्यक था। यह कार्य परिवार का कोई वरिष्ठ सदस्य ही कर सकता था। और विनायकराव जी के चाचा श्री. हरि कृष्ण पटवर्धन के कारण यह दूसरा विवाह कोल्हापुर में संपन्न हुआ। उस जमाने की दृष्टि से प्रथम पत्नी की मृत्यु पर पुरुष का दूसरा विवाह होना एक आम बात थी, किंतु पं. विनायकराव जी के लिए विवाह की यह घटना एक अप्रत्याशित संयोग के कारण परम लाभदायक सिद्ध हुई। इस दृष्टि से उनका यह दूसरा विवाह उनके जीवन की एक विशेष संस्मरणीय घटना है। श्रीमान हरि कृष्ण ऊर्फ हरिभाऊ

प्रथम विभाग

छायाचित्र मालिका

पटवर्धन कोल्हापुर के एक लब्धप्रतिष्ठ होमिओपॅथ डॉक्टर थे। उनकी प्रैक्टिस भी बड़ी तगड़ी थी। डॉक्टर होने के साथ ही वे अच्छे कलारसिक भी थे और संगीत में विशेष रुचि रखते थे। उस जमाने के संगीतयुक्त नाटकों का शौक भी उन्हें कम नहीं था। इस कलारसिकता के कारण विनायकराव जी के प्रति उन्हें विशेष स्नेह था। अपने भतीजे की संगीतविषयक तथा अन्य गतिविधियों पर उनका बराबर ध्यान था। विनायकराव जी के दूसरे ब्याह के बारे में वे प्रयत्नशील थे और जब इसी बीच स्वयं विनायकराव जी उपस्थित हो गए तब इस विचार को अधिक गति मिली।

गतिरोध और उपाय

विनायकराव जी के विवाह के इस विचार के साथ ही एक दूसरी समस्या भी खड़ी थी, जिसने चाचा हरिभाऊ को सोच में डाल दिया था। विनायकराव जी गांधर्व महाविद्यालय से विभक्त होकर आये थे। अब ब्याह से बढ़कर उनके योगक्षेम का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था। हो सकता है, विनायकराव जी अपनी संगीत-सामर्थ्य के कारण उसके बारे में निश्चिंत रहे हों। परंतु डॉ. हरिभाऊ व्यावहारिक दृष्टि से सोचनेवाले व्यक्ति थे। उनके विचार में मात्र संगीत की बैठकों में गाकर या दो-चार लड़कों को सिखाकर अच्छी तरह गृहस्थी निभाना संभव नहीं था। उस काल में जानेमाने गायकों को भी संगीत-प्रस्तुति के लिए पचास-साठ से अधिक मानधन मुश्किल से मिलता था। गान सिखाने की फीस भी अत्यल्प रहती थी। एक दूसरी बाधा यह थी कि संगीत का 'करिअर' चुनने के कारण विनायकराव जी उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाए थे। फलतः उन्हें सरकारी या दूसरी नौकरी मिलना असंभव था।

इस गतिरोधात्मक स्थिति में एक मार्ग निकल सकता था और डॉ. हरिभाऊ अपने भतीजे को उसी प्रशस्त मार्ग का अवलंब करने के लिए कहना चाहते थे। वह मार्ग था गायक-अभिनेता के रूप में किसी अच्छी नाटक मंडली में नौकरी प्राप्त करना। १९२० के आसपास महाराष्ट्र में संगीत नाटकों का बड़ा बोलबाला था। संगीतयुक्त नाटकों का मंचन करनेवाली अनेक मंडलियां उस काल में विद्यमान थीं। "संगीत नाटक' महाराष्ट्र की एक विशिष्ट कला-प्रस्तुति रही है, जिसमें गद्य संवादों के बीच शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत गाए जाते हैं, जो संवादों के ही एक अंग हुआ करते हैं। हिंदी में भी ऐसे नाटक भारतेंदु तथा जयशंकर प्रसाद की परंपरा में मिलते ही हैं। परंतु हिंदी-मराठी संगीत नाटकों में अंतर यह है कि हिंदी के नाटकों का मंचन मराठी के समान व्यापक पैमाने पर कदापि नहीं हुआ। महाराष्ट्र में सन १८८० से ही ऐसे नाटकों का मंचन आरंभ हुआ और बिलकुल आरंभिक क्षण से ही उसकी जड़ें इतनी जम गयीं कि आजतक इस प्रदेश में संगीत नाटकों की

लोकप्रियता बनी हुई है।

सन १९२० के उस दशक में संगीत नाटक मंडलियां व्यावसायिक दृष्टि से बहुत अच्छी स्थिति में थीं और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसे नाटकों में सर्वाधिक महत्त्व गायक अभिनेता का ही था। सुगठित और सुंदर व्यक्तित्ववाले गानकुशल युवक को इन संगीत नाटक मंडलियों में सुखपूर्वक प्रवेश मिल सकता था और उसका योगक्षेम बड़ी अच्छी तरह चलता था। एक तो वेतन ५०–६० तक मिलता था। (याने आज के हिसाब से ढाई हजार) और उसके अतिरिक्त कंपनी की तरफ से रहने-खाने की सुविधा भी। इसके सिवा यदि कलाकार संगीत-अभिनेता हो तो औरों की अपेक्षा उसकी पूछ अधिक रहती। संगीत-अभिनेताओं में भी प्रधानतः दो व्यक्तियों को सर्वाधिक सम्मान मिलता था– हीरो याने नायक और हीरोइन याने नायिका। और जाते जाते यह भी बताना आवश्यक है कि उस काल में नायिका की भूमिका पुरुष अभिनेता ही अदा करते थे। उसे महाराष्ट्र में ' स्त्री-पार्टी नट ' कहा जाता था। और नाटक मंडली के स्वामीगण इस 'स्त्री-पार्टी' को अन्य सब अभिनेताओं से अधिक महत्त्व देते थे। यह भी मानना होगा कि नाटक में काम करनेवालों को नाटकवाला कहकर नीची निगाह से भी देखा जाता था। तथापि यह भी सच है कि प्रतिष्ठित नाटक मंडली के अभिनेताओं के प्रति रसिक समाज में एक सुप्त कुतूहल और आकर्षण भी कम नहीं था। इस दृष्टि से अच्छी नाटक मंडली में प्रमुख अभिनेता की नौकरी मिलना याने ऊंचे जीवन-स्तर का आश्वासन ही था। इस प्रलोभन के फल-स्वरूप कुछ महफिली गायकों ने साझेदारी में या नौकरी के तौर पर संगीत नाटकों में प्रवेश पाया था, तो कुछ गवैयों ने अपनी ही एक मंडली स्थापित कर दी थी। उल्लेखनीय है कि इसमें पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के तीन प्रधान शिष्य भी थे – पं. मिराशीबुवा, पं. गुंडूबुवा इंगळे तथा पं. भाटेबुवा। उन्होंने नाट्यकलाप्रवर्तक नामक नाटक – मंडली चलायी थी और संगीत नाटकों की धूम मचायी थी। मतलब यह कि महफिली गवैयों को संगीत नाटकों में सहभागी होने के लिए पहले ही मार्ग बन गया था।

उपर्युक्त सारी कारण-परंपरा को ध्यान में रखकर ही डॉ. हरिभाऊ चाहते थे कि विनायकराव जी को किसी संगीत नाटक-मंडली में प्रवेश प्राप्त करना चाहिए। परंतु पं. विनायकराव अपने चाचा जी के इस विचार से सहमत हो ही नहीं सकते थे। संगीत-सेवा और संगीत-प्रसार के जीवनादर्श से वे कैसे विचलित होते? नाटक की दुनिया उनकी शुचिर्भूत और अनुशासनबद्ध जीवनप्रणाली के अनुकूल नहीं बैठती थी तिसपर वे अपने गुरुदेव को वचन दे चुके थे कि संगीत-साधना की यात्रा में चरित्र को विचलित करनेवाले किसी भी प्रलोभन में नहीं फंसूंगा। और नाटक तथा नाटक-मंडली

का वातावरण याने तरह तरह की आदतों, लतों और असंगतियों का आश्रय-स्थान। ऐसे वातावरण में नाट्याभिनेता के रूप में विनायकराव जी का निबाह होना कैसे संभव था? रोम जानेपर रोमन्स की तरह रहने के पक्ष में वे कभी नहीं हो सकते थे।

परंतु ऐसी दुविधामय मनःस्थिति के रहते हुए भी विवाह-समारोह नहीं रुक सकता था। यह उस कालखंड की विशेषता थी। विवाह पहले हो जाना चाहिए, पेट पालने का सवाल आगे अपने आप हल हो जाएगा। तो विवाह-समारोह यथायोग्य रीति से संपन्न हुआ। मिरज से कुछ १०० कि. मी. स्थित वाई गांव के श्रीमान गोविंदराव मराठे की कन्या से विनायकराव जी विवाहबद्ध हुए और उनके जीवन का एक नया अध्याय आरंभ हो गया। परंतु इस विवाह-समारोह में एक ऐसा संयोग उपस्थित हो गया कि उसके कारण विनायकराव जी के जीवन को एकदम नयी दिशा प्राप्त हो गयी और इससे डॉ. हरिभाऊ भी अच्छी तरह आश्वस्त हो गए।

विवाह-समारोह में जो अनेक गण्यमान्य आमंत्रित पधारे थे, उनमें एक विशेष व्यक्ति थे नटसम्राट बालगंधर्व। यही वह महापुरुष थे जिनके कारण पं. विनायकराव जी के जीवनक्रम ने एकदम नयी दिशा प्राप्त कर ली और जिनके बारे में विनायकराव जी के मन में आजीवन गहरी कृतज्ञता का भाव सदैव जागृत रहा। विनायकराव जी के जीवन के संदर्भ में श्रीमान बालगंधर्व के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इसी प्रसंग में उनकी महानता और विशिष्टता का संक्षेप में बयान करना आवश्यक है।

बालगंधर्व

श्रीमान बालगंधर्व (१८८८–१९६७) का असली नाम था नारायणराव राजहंस। उस काल की सभी संगीत नाटक-कंपनियों की सिरमौर जो 'गंधर्व नाटक मंडली' थी, उसके करता-धरता बालगंधर्व ही थे। वे स्वयं एक कुशल अभिनेता थे और उससे बढ़कर एक जन्मजात सदाबहार गायक थे। उनके बालवयस में ही उनका स्वर्गीय गायन सुनकर स्वयं लोकमान्य तिलक जी ने उन्हें सहजभाव से 'बालगंधर्व' की उपाधि प्रदान की थी। उनमें गायन की जो मौलिक प्रतिभा थी उसका विकास आगे चलकर १९१४ के बाद हुआ, जब एक नाटक के संगीत-निर्देशन के सिलसिले में उन्हें गायनाचार्य पं. भास्करबुवा बखले की तालीम प्राप्त हुई और उनकी निजी गायनशैली में चार से भी अधिक चांद लग गए। फिर तो बालगंधर्व के नाट्य-गायन ने शास्त्रीय गायन के अभिरंजक पक्ष को इतना उजागर किया कि आजतक महाराष्ट्र में उनके टक्कर का दूसरा अभिजात रंगमंच–गायक पैदा नहीं हो सका। ऐसे अद्वितीय संगीत-अभिनेता के नेतृत्व में चलनेवाली 'गंधर्व नाटक मंडली' का नाम ही नाम होना

स्वाभाविक था। नाटकों में बालगंधर्व नायिका की भूमिका निभाते थे और विधाता ने मानो इसी कार्य के लिए उन्हें गढ़ा था। उनका रूपसौंदर्य, उनकी अमृतोपम कंठ-ध्वनि, सर्वांगसुंदर संगीत-प्रस्तुति और देह में कूट कूट कर भरी हुई नारीसुलभ अभिनय-निपुणता के कारण पुरुष पात्र के रूप में उनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। उनकी 'गंधर्व नाटक मंडली' के नाटक महाराष्ट्रभर के शहरों में धूमधाम से होते और हर प्रयोग को 'हाऊसफुल' का श्रेय मिलता। श्रीमान बालगंधर्व तो महाराष्ट्रीय रसिकों के कंठमणि ही बने थे। उन दिनों उन्हें इतना सम्मान प्राप्त था कि आज के प्रथम क्रमांक के फिल्मी अभिनेता का सम्मान भी उसके सामने फीका है। इस सम्मान की एक और विलक्षणता यह थी कि महाराष्ट्र के बड़े बड़े नेता, लेखक, रियासत के महाराजा, संभ्रांत परिवारों के रसिकगण और सबसे बढ़कर अभिजात संगीत के बुजुर्ग कलाकार इत्यादि सबका प्रेम और आदर बालगंधर्व को प्राप्त होता रहा और आज भी वह प्रेमादर की भावना ज्यों की त्यों अविकल रही है।*

'गंधर्व नाटक मंडली' का सारा कारोबार राजा-महाराजाओं के समान बड़ी ही शानशौकत से भरा रहता था। विशेष रूप से १९२०-२१ से ३१-३२ तक का दशक मंडली के लिए परम भाग्योत्कर्ष का काल रहा। इस काल में मंडली की हर महीने की आमदनी तेरह हजार से अधिक रहती थी। संगीत नाटक मंडलियों को हमेशा नए नए तैयार गायक की आवश्यकता बराबर रहा करती है। और १९२२ के आसपास 'गंधर्व नाटक मंडली' को ऐसे पक्के गायक की जरूरत विशेष तौर पर महसूस हो रही थी, जिसे धीरे धीरे अभिनय में प्रशिक्षित करके आगे प्रमुख भूमिकाएं देने की योजना थी, जैसा कि उस काल की सभी नाटक कंपनियों की परिपाटी थी। डॉ. हरिभाऊ के कानों तक यह बात पहुंची ही थी और वे किसी उपाय से श्रीमान बालगंधर्व से विनायक के बारे में बात छेड़ने की सोच रहे थे।

और संयोग ऐसा रहा कि स्वयं बालगंधर्व विवाह-समारोह में उपस्थित हुए। समारोह की उस धूमधाम में से समय निकालकर डॉ. हरिभाऊ ने ढाढ़स करके श्री नारायणराव राजहंस ऊर्फ बालगंधर्व से पूछा—

"नारायणराव जी, मेरा भतीजा विनायक बहुत अच्छा गायक है। पं. विष्णु दिगंबर से इसने नौ साल शिक्षा पायी है। आपने उसे देखा ही है। क्या आप इसे आपकी मंडली में ले सकेंगे ?"

* श्रीमान बालगंधर्व का जन्म १८८८ में होने के उपलक्ष्य में १९८७ में उनकी जन्मशती महाराष्ट्र भर में शासकीय तथा अशासकीय सूत्रों-द्वारा धूमधाम से मनायी गयी।

ऊपर कहा ही है कि बालगंधर्व किसी सुगठित और सुंदर व्यक्तित्ववाले गानकुशल प्रौढ़ युवक की ताक में थे। विनायकराव जी की शरीरयष्टि रंगमंच के सर्वथा अनुकूल थी। परंतु गाना कैसा होगा ? उन्होंने डॉक्टरसाहब से कहा—

"देखने में तो वे अच्छे हैं। लेकिन इनका गाना..."

"गाना भी सुन लीजिए। कहिए तो आज रात को ही गाने की बैठक हो जाए।'

पं. विनायकराव जी के लिए गायन जैसी दूसरी प्यारी वस्तु क्या थी ? गुरुदेव से भरपूर शिक्षा पा कर तथा पं. बालकृष्णबुवा, रहमत खां और भास्करबुवा के संपर्क में रहकर 'नाद ब्रह्म अपार' का कोना कोना वे झांक आए थे। फिर उम्र पच्चीस का वह दुर्दमनीय उत्साह ! और नारायणराव राजहंस जैसे साक्षात् गंधर्व श्रोता ! खूब जम कर गाए। बालगंधर्व ने विनायकराव जी का वह विशुद्ध घरानेदार गाना सुना और वे बहुत प्रभावित हुए। पं. बालकृष्णबुवा को तो वे पहले से ही जानते थे और उनका मनसा बहुत आदर करते थे। पं. विष्णु दिगंबर का नाम तो दिगंत में फैल चुका था। उन्हींका यह शिष्य है। ऐसा रोबीला, गटीला व्यक्तित्व, लंबा कद, भारी डील–डौल और निर्दोष गायन और ऐसी बुलंद, सुरीली आवाज। रंगमंच पर बाल-गंधर्व का सर्वोत्कृष्ट गायन भी तभी खिल सकता था जब उनके साथवाले अभिनेता भी उत्कृष्ट गायक हों। और इधर एक तपःपूत तैयार गायक अनायास उनके हाथ लग गया था। उन्होंने उसी वक्त तय कर दिया कि इस तरुण गायक को हम अपनी नाटक मंडली में जरूर रख लेंगे और आगे चलकर उसे प्रमुख संगीत अभिनेता का काम भी सौंपेंगे। उन्होंने अपना निश्चय हरिभाऊ जी को बता दिया। हरिभाऊ की खुशी का पारावार नहीं रहा। उन्होंने मन ही मन भगवान को धन्यवाद दिया और कहा अब विनायक का भाग्योदय हो गया।

और डॉ. हरिभाऊ का हर्षित होना स्वाभाविक ही था। 'गंधर्व नाटक मंडली' में हीरो की भूमिका तो क्या, कोई हल्की सी भूमिका मिलना भी एक देवदुर्लभ अवसर था। बड़े बड़े गुनी लोग प्रार्थनापत्र लिखकर या किसी वजनदार व्यक्ति से कहलवाकर गंधर्व नाटक मंडली में प्रवेश पाने की आशा लगाए बैठते थे। क्योंकि इस 'मंडली' में अभिनेता का काम मिलने का मतलब था उत्कृष्ट योगक्षेम का अलिखित आश्वासन। महीना साठ–सत्तर रुपये मिलना तो एकदम निश्चित था। उसके साथ ही निवास और हररोज का राजसी भोजन मुफ्त में। महाराष्ट्र भर में कंपनी के खर्चे से घूमने की सुविधा। इसके सिवा गंधर्व कंपनी का सदस्य बनना प्रतिष्ठा की एक निशानी थी। इसलिए गंधर्व कंपनी अपनी तरफ से किसी कलाकार के पास नहीं जाती थी। कलाकार को ही कंपनी के पास आना पड़ता।

माउण्टन कैसे मुहम्मद के पास जाएगा ? और यहां तो शुरू से ही मंडली के स्वामी नारायणराव राजहंस का निमंत्रण बिना विशेष याचना के मिल रहा था। इसमें कितना गौरव था ! और इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि गंधर्व कंपनी के इतिहास में पं. विनायकराव जी ही अकेले कलाकार थे जिन्हें श्रीमान बालगंधर्व ने अपनी तरफ से नाटक मंडली में आने के लिए निमंत्रित किया हो।

कैसी दुविधा !

यह तो सब उस कालखंड की परिस्थिति की दृष्टि से तथा बालगंधर्व और डॉक्टर हरिभाऊ की दृष्टि से ठीक ही था। परंतु स्वयं विनायकराव जी की मानसिकता का क्या? उन्हें यह प्रस्ताव कहांतक स्वीकार था ? रंगमंच का अभिनेता बनने की बात उन्होंने सपने में भी नहीं सोची थी। गांधर्व महाविद्यालय से निकलने के बाद अपने बलबूते पर संगीत का प्रसार करने और भारतभर में संगीत की सभाओं में अपने गायन का जौहर दिखाने का निश्चय करके ही वे गांधर्व महाविद्यालय से निकल पड़े थे। और यहां तो उनके सामने एक अप्रत्याशित प्रलोभन हाथ जोड़ कर खड़ा था। लेकिन हां, प्रलोभन यह औरों की नजरों में हो सकता था, किंतु विनायकराव जी के लिए वह एक तरह से संकट ही था। वे स्वेच्छापूर्वक नाटक मंडली में प्रविष्ट होना कभी नहीं चाहते थे। यद्यपि गुरुवर पं. विष्णु दिगंबर के गुरुबंधुओं की 'नाट्यकला प्रवर्तक मंडली' का उदाहरण उनके सामने था, तथापि गुरुदेव की ध्येयनिष्ठा का संस्कार उनके मन पर इतना दृढ़ था कि संगीत-साधना के व्रत और संगीत-प्रसार की शपथ के निर्वाह से वे विचलित हो ही नहीं सकते थे। इसीके साथ एक और कारण भी था। पं विनायकराव जी के व्यक्तित्व में अभिनयकला की अभिवृत्ति नहीं के बराबर थी और इसे वे स्वयं अच्छी तरह जानते थे। वे स्वभावतः ही सत्यवादी-स्पष्टवादी और गंभीर प्रकृतिवाले पुरुष थे। अभिनेता के लिए जो तरल और लचीला देह-स्वभाव चाहिए उसका उनमें अभाव था। यही नहीं बल्कि अभिनय के बारे में उनका एक विशेष पूर्वग्रह था कि यह एक झूठ का व्यवहार है। इसलिए उनके स्वभाव में ही अभिनय के प्रति अरुचि थी।

परंतु परिस्थितियां ही कुछ ऐसी उत्पन्न हुई थीं कि विनायकराव जी को इस प्रस्ताव के लिए हां करना ही पड़ा। उनके सामने त्रिविध समस्या खड़ी थी। उन्हें नयी गृहस्थी बसानी थी और शून्य आमदनी से यह होना असंभव था। संस्था का आधार छूट चुका था। और अकेले के बलबूते पर संगीत सिखाकर या महफिलों में गाकर उदरनिर्वाह निभाना दुष्कर था। और जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ है, उच्च शिक्षा प्राप्त न हो सकने के कारण उन्हें सरकारी या अन्य अच्छी नौकरी मिलना भी मुश्किल था। फिर भी यहां रेखांकित करना आवश्यक है कि विनायकराव जी की पहली प्रतिक्रिया

इन्कार की ही रही। उनके चाचा डॉ. हरिभाऊ ने उनको मनाया और समझाया। स्वयं बालगंधर्व जी ने उन्हें आश्वासन दिया कि आप कंपनी में रहकर भी संगीतसाधना और संगीत-प्रदर्शन को जारी रख सकेंगे। वेतन भी उन्हें आरंभ में ही रु. ६० मिलना तय हो गया। पं. विनायकराव जी ने यह सारी अनुकूलता देखकर तथा परिस्थिति का खयाल करते हुए 'गंधर्व नाटक मंडली' में प्रविष्ट होना स्वीकार कर लिया। और ६ अगस्त १९२२ को पंडित विनायकराव जी के जीवन का नया अध्याय आरंभ हुआ।

नाट्यमय घटना

पं. विनायकराव जी का रंगमच प्रवेश बेशक एक नाट्यमय घटना थी। निःसंदेह यह नियति-नटी का ही पराक्रम था। जिस ध्येयदृष्टि के साथ उन्होंने अपने गुरुवर के मार्गदर्शन में अपने भावी जीवनक्रम की पूर्वतयारी की थी उसे निरुपाय होकर किनारे रख देने की बारी उनपर आ गयी। उनकी स्थिति किसी अभिजात नाटक के धीरो-दात्त नायक के समान हुई। अपने उसूलों से समझौता करने की नौबत आ जाने पर ऐसे नायक को जिस अंतर्द्वन्द्व से गुजरना पडता है, उसी अंतर्द्वन्द्व का अनुभव पंडित विनायकराव जी उन दिनों ले रहे थे। गहनतम संगीतशास्त्र में अवगाहन करने तथा अपनी गानतपस्या से गुनिजनों को प्रभावित करने का आत्मिक आनंद उपभोगना छोड़कर नाटक की कृत्रिम दुनिया में कृतक अभिनय और लोकानुरंजक गायन करके वास्तविक संगीत कला से विद्रोह करने का धर्मसंकट उनपर आ गया था। इसीके साथ संगीत-प्रसार और संगीत प्रशिक्षण का कार्य ठप होने की वेदना भी थी। और हुआ भी वही। पूरे दस वर्ष तक इस धर्मसंकट का सामना उन्हें करना पड़ा। १३ अगस्त १९२२ को उनका रंगमंच पर प्रथम पदार्पण हुआ और ३१ जुलाई १९३२ को गंधर्व नाटक मंडली से वे अलग हुए (और उनका यह अलग होना भी कम नाट्यपूर्ण नहीं था, जिसका बयान आगे होना ही है)। प्रस्तुत सदर्भ में इतना उल्लेखनीय है कि यद्यपि पं. विनायकराव जी १९३२ में मंडली से विभक्त हुए तथापि इन दस वर्षों में वे पानी के कमलपत्र के समान नाटक मंडली में रहकर भी उसके माहौल से अलग ही रहे। अपने इस अलगाव के कारण समय समय पर वे टीका–टिप्पणी का विषय भी बने। परंतु उन्होंने अपने आत्म–अनुशासन को कभी भी शिथिल होने नहीं दिया। इस संघर्षमय स्थिति से गुजरते हुए पं. विनायकराव जी के जीवन में जो जो विशेष घटनाएं घटित हुईं वे भी एक तरह से नाट्यमय थीं। परंतु पंड़ित जी के रंगमंच प्रवेश के बारे में एक दूसरे प्रश्न पर पहले कुछ सोचना होगा। प्रश्न यह है कि यदि विनायकराव जी में अभिनयगुण का अभाव था तो श्री नारायणराव राजहंस ने उन्हें अपनी नाटक मंडली में भावी हीरो के रूप में क्योंकर चुना? प्रश्न बहुत सार्थक है और

इस प्रश्न का उत्तर तत्कालीन महाराष्ट्रीय संगीत रंगमंच की स्थिति-गति का विहंगमावलोकन किए बिना नहीं मिल सकेगा।

महाराष्ट्र का संगीत रंगमंच

महाराष्ट्र की कला-साधना में नाटक और रंगमंच का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस रंगमंच का इतिहास सौ वर्षों से अधिक पुराना है और हिंदी की दृष्टि से भारतेंदु हरिश्चंद्र के समानांतर उसका श्रीगणेश हुआ है। हिंदी प्रदेश में जिस कालखंड में (१८८० के आगे-पीछे) भारतेंदु अपने नाटकों का मंचन कर रहे थे, उसी काल में महाराष्ट्र में सांगली, कोल्हापुर, पुणे, बंबई में अलग अलग नाटक मंडलियां अपने नाटक मंचित कर रही थीं। इसमें गौर करने की बात यह है कि महाराष्ट्र के नाटकों का सूत्रपात संगीत नाटकों के द्वारा ही हुआ। १८४३ में श्रीमान विष्णुदास भावे ने सूत्रधार द्वारा गाए जानेवाले पदों के आधार पर तात्कालिक संवादों के सहारे देव-दानवों की कथावाले नाटक मंचित किये। तत्पश्चात् सन १८८० में श्री. अण्णासाहब किर्लोस्कर ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के मराठी नाट्यरूपांतर का प्रस्तुतीकरण किया, जिसमें शकुंतला दुष्यंत आदि पात्र अपने अपने गीत स्वयं गाते थे और (जैसा कि पहले बताया गया) इन सभी नाटकों में स्त्रियों का पार्ट पुरुष ही अदा करते थे।

फिर १८८४ में किर्लोस्कर जी ने महाभारत और भागवत की कथा पर आधारित 'अर्जुनद्वारा सुभद्राहरण' के संविधानक पर 'संगीत सौभद्र' नाटक लिखकर मंचित किया। इस नाटक ने मानो मराठी रंगमंच में एक क्रांति ही जगा दी। यह सौभद्र नाटक संगीत और नाटक के रसिकों को इतना पसंद आया कि आज तक उसकी यह रसिकमान्यता अक्षुण्ण रही है। इस सुयश का रहस्य यह है कि इसमें नाटक और संगीत का कलात्मक रूप में समन्वय साध लिया गया है। आगे इस नाटक का संदर्भ अनेक बार आनेवाला है, अतः यहीं पर इस नाटक के स्वरूप के बारे में थोड़ा बता देना चाहिए। 'श्रीकृष्ण और बलराम की बहन सुभद्रा और पांडुपुत्र अर्जुन एक दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। इसी बीच धर्मराज और द्रौपदी को अंतःपुर में एकांत करते हुए देखने का पाप करने के कारण नारदमुनि के आदेश से अर्जुन को वनवास ग्रहण करना पड़ता है। इधर बड़े भैया बलराम सुभद्रा का ब्याह धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के साथ तय कर देते हैं। नारद जी यह समाचार अर्जुन को देते हैं और यहीं से नाटक का प्रारंभ हो जाता है। इसके बाद श्रीकृष्ण की अनेक युक्तियों के कारण अर्जुन और सुभद्रा का ब्याह सपन्न हो जाता है।' इस प्रकार १०० वर्ष पूर्व के इस नाटक में हमें एक सुंदर प्रेमकथा का आधुनिक नाट्यरूप देखने को मिलता है। पात्रयोजना, संवाद, पारिवारिक वातावरण, उत्कट प्रणयभाव इत्यादि अनेक विशेषताओं के साथ ही साथ भावानुकूल एवं प्रसंगानुकूल संगीतनियोजन के कारण यह

आदर्श संगीत नाटक समस्त मराठी संगीत नाटकों के लिए एक मार्गदर्शक मापदंड सिद्ध हुआ है।

पं. विनायकराव जी का प्रथम रंगमंच पदार्पण इस नाटक से ही हुआ। प्रस्तुत नाटक में सुभद्रा, अर्जुन, नारद श्रीकृष्ण आदि गानेवाले पात्र हैं और उनके कुछ गाने रंगमंचीय संगीत की दृष्टि से बहुत ही रंजक बन पड़े हैं। इन गीतों की तर्जों में महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा गुजरात का लोकसंगीत एवं ठुमरी-टप्पा जैसे सुबद्ध संगीत को अपनाया गया है। नाटक का संविधानक और उसके वार्तालाप भी काफी रोचक और रंजक हैं। अतः उस जमाने में यह नाटक रात के नौ बजे से लेकर सबेरे ४–५ बजे तक चलता था। इस संदर्भ में पं. विनायकरावजी के एक शिष्य पुणे के प्रसिद्ध हारमोनियमवादक स्व. पं. बब्नराव कुलकर्णी अपने संस्मरण में लिखते हैं "एक बार श्रीमान बालगंधर्व का स्वास्थ्य ठीक न होने से मंडली के अन्य पात्रों ने सौभद्र का खेल पेश किया। उसमें विनायकबुवा अर्जुन थे। सुभद्रा का पार्ट मास्टर कृष्णराव ने अदा किया था। यह नाटक दोपहर ३ बजे आरंभ हुआ और रात को ११ बजे समाप्त हुआ। दर्शक–श्रोता आखिर तक बैठे हुए थे।"

वस्तुतः सौभद्र नाटक को विधिवत् मंचित किया जाए तो वह संवाद और गीतगायन के साथ भी ४ घंटों में समाप्त हो सकता है। स्पष्ट है कि इस विलंब के लिए संगीत का अनावश्यक विस्तार जिम्मेदार था। सौभद्र के आरंभिक प्रयोगों से ही यह सिलसिला बन गया था। इन प्रयोगों में गायक-नट इतना बढ़िया गाते कि दर्शकगण उनसे 'वन्स मोअर' का आग्रह करते और वे भी इस आग्रह को अपना सम्मान समझकर दुगुने जोश से उसी गीत को पुनश्च साभिनय प्रस्तुत करते। इस 'वन्समोअर' के कारण नाटक की कालावधि रबड़ की तरह बढ़ती और प्रायः संगीत को अग्रस्थान देने के दौरान गद्य संवादों और नाटक के प्रवेशों में कटौती करनी पड़ती। दर्शकों को भी उसके लिए कोई शिकायत नहीं रहती थी। वे मानो संगीत का आनंद लूटने के लिए ही नाटक देखते थे। गद्य-संवाद, नाटकीय संघर्ष, गहरा नाट्यानुभव आदि पर ध्यान देने की उन्हें फुरसत ही नहीं रहती थी।

ऊपर से देखने पर दर्शकों का यह रवैया कुछ पिछड़ेपन का लगेगा। किंतु इसके पीछे जो सांस्कृतिक कारण है उसे जानना होगा। महाराष्ट्र के जनों में शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत के प्रति पहले से ही आकर्षण है। इसकी परिपूर्ति कुछ मात्रा में कीर्तनों के द्वारा वे कर लेते थे। किंतु बात यह है कि आध्यात्मिकता और उपदेश आदि के कारण कीर्तनों का संगीत उतना उभर कर प्रस्तुत न हो पाता। संगीत वहां एक साधन रहता है—रामनाम की अलख जगाने के लिए, भक्तिभाव जगाने के

लिए। संगीत का सच्चा रसिक संगीत के आनंद को लौकिक वातावरण में तथा लौकिक संदर्भ में ही प्राप्त करना चाहता है। क्योंकि वहां उसके मन पर किसी पारलौकिक संवेदना का बोझ नहीं रहता। ऐसा संगीत उस कालखंड में या तो राज-दरबारों में, या वेश्याओं के पास अथवा उत्तान शृंगारिक नौटंकियों में सुनने को मिलता था। उसका आस्वाद लेना सभ्य समाज के सामान्य जनों को असंभव था— राजदरबार में प्रवेश–निषेध के कारण और दूसरे दो स्थानों में प्रतिष्ठाभय के कारण। तिसपर नौटंकियों का (मराठी में तमाशों का) जो संगीत था वह एकरस लावनियों से ही भरा रहता था। राग, ताल, पद्य, प्रसंग, पात्र आदि का वैविध्य उसमें नहीं आ सकता था। मराठी के संगीत नाटकों ने रसिकजनों की इस चाह को बहुत सफलता पूर्वक और बड़े पैमाने पर पूरा कर दिया।

यही कारण था कि श्रीमान बालगंधर्व ने पं. विनायकराव जी के रूपगुण और गायन को ही महत्त्व दिया, उनके अभिनयगुण के विषय में पूछा तक नहीं। पं. विनायकराव जी को उपर्युक्त रंगमंचीय परिस्थिति का लाभ भलीभांति हुआ और अपने दमदार और बुलंद गायन से दस वर्ष तक वे मराठी संगीत रंगमंच पर न केवल जमे रहे बल्कि उभरते गए।

शास्त्रीय गायन का अधिराज्य

पं. विनायकराव जी ने रंगमंचीय जीवन के दस वर्षों में जो सफलता पायी उसके लिए एक अनुपूरक घटना कारणीभूत हुई थी, जिसने समस्त मराठी संगीत रंगमंच में ही एक ऐसा परिवर्तन–बिंदु उपस्थित कर दिया कि उसके फलस्वरूप रंगमंचीय संगीत को अपनी आरंभिक लोकसंगीत प्रणाली से निकलकर शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत के प्रांगण में प्रविष्ट होना पड़ा। श्रीमान किर्लोस्कर लिखित और निर्देशित 'सौभद्र' जैसे नाटकों के गीत अधिकतर लावनी और अन्य लोकप्रचलित छंदों पर आधारित थे। राग-रागिनियों पर आधारित गीत उनमें भी थे, किंतु उनकी संख्या अपेक्षाकृत अल्प थी। और उनपर भी कीर्तनपरंपरा की हरिदासी गायन-शैली का प्रभाव था। उस प्रभाव से यह संगीत मुक्त नहीं हो पाया था। सन १९११ में इस परंपराभुक्त नाट्यसंगीत की गांठ खुल गयी और इस नाट्यसंगीत पर इंद्रिय सुखोन्मुख पूरब बाज की ठुमरी-कजरी का प्रभाव अंकित हो गया। 'किर्लोस्कर नाटक मंडली' ने १९११ में 'मानापमान' नाटक प्रस्तुत किया। यह नाटक लिखा था लोकमान्य तिलक के सहयोगी और दैनिक केसरी के सहसंपादक श्री कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने। इसका संगीत निर्देशन पूर्वपरंपरा के अनुसार स्वयं नाटककार ने नहीं किया था, बल्कि इसके लिए खास संगीत-निर्देशक की योजना हुई थी। इस नाटक को संगीत दिया था उस जमाने के विख्यात संगीत-

कलाकोविद, प्रसिद्ध हारमोनियम-वादक तथा उस्ताद अल्लादिया खां एवं पं. भास्कर-बुवा के शागिर्द और 'किर्लोस्कर नाटक मंडली' के साझेदार एवं अभिनेता श्रीमान गोविंदराव टेंबे ने। टेंबे जी ने घरानेदार बंदिशों और गौहरजान मलिकाजान, मोईजु-द्दीन खां इत्यादि गुनिजनों के कंठों से निकली पूरबी ठुमरियों और कजरियों की स्वर-रचना में मराठी शब्दों को बिठलाकर उन मराठी गीतों को इस उस्तादी गायन का जामा पहना दिया। इस नूतन संगीत के कारण मराठी नाट्यसंगीत-रसिकों को मानो मुंहमांगा वरदान मिल गया और लौकिक इंद्रियसुख के संस्पर्श से अनुप्राणित संगीत सुनने की उनकी अनजान सुप्त आकांक्षा पूरी हो गयी। इसीके फलस्वरूप यह नाटक अपने आरंभिक प्रयोगों में ही लोकप्रियता के उत्तुंग शिखर को भी लांघ गया और आज तक उसकी रसिकमान्यता ज्यों की त्यों बनी हुई है। कहना न होगा कि इन गीतों की बंदिशों में गायन के लिए अनंत विस्तार की गुंजाइश थी और अभिनेताओं ने और खासकर बालगंधर्व ने उससे पूरा पूरा लाभ उठाकर दर्शकों के कान तृप्त कर दिए। इस घटनाक्रम का नतीजा यह निकला कि मराठी रंगमंच पर जहां पहले गायन था वहां 'गायकी' ने प्रवेश पा लिया और आनेवाले दिनों में (और कुछ हदतक अद्यावधि भी) रंगमंचीय संगीत की स्थिति नाटक के लिए संगीत की न रहकर संगीत के लिए नाटक की हो गयी।

'मानापमान' नाटक में पं. विनायकराव जी ने आगे चलकर नायक की भूमिका निभायी। इस नाटक की नायिका भामिनी एक धनसंपन्न पिता की कन्या है। उसके पिता उसका ब्याह धैर्यधर नामक एक सिपहसालार से करना चाहते हैं। भामिनी धनहीन कहकर उसे अपमानित करती है। फिर लक्ष्मीधर नामक धनकुबेर गोबरगणेश की ओर वह आकृष्ट होती है। किंतु कुछ साहसिक प्रसंगों में लक्ष्मीधर की पोल खुलती है और नायिका को धैर्यधर के पराक्रम का सबूत मिलता है। अंततः उस अपमान का परि-मार्जन वह धैर्यधर को वरमाला पहनाकर करती है। नाटक में भामिनी और धैर्यधर के बात बात पर गाने का सिलसिला आद्योपांत चलता रहता है और इस विशिष्ट शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत-प्रस्तुति के कारण दर्शकों को किसी महफिल के जैसा आनंद उस नाटक को 'सुन' कर प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि यहां नायक-नायिका को अभिनय के साथ ही (सच कहें तो उससे बढ़कर) तालीमप्राप्त संगीत कलाकार होना आवश्यक था। बालगंधर्व का तो सवाल ही अलग था, किंतु नाटक मंडली के लिए गाननिपुण और व्यक्तित्वसंपन्न धैर्यधर की भूमिका के लिए योग्य व्यक्ति मिलने की समस्या थी। १९११ से लेकर बालगंधर्व को अनेक धैर्यधर बदलने पड़े। इनमें आगे चलकर पं. विनायकराव जी ही दीर्घकाल तक एक प्रभावी नायक के रूप में 'गंधर्व नाटक मंडली' को प्राप्त हुए और मानापमान के साथ साथ दूसरे अनेक संगीत नाटकों मे पुरुषपात्रों

के गायन का बहुत बड़ा दायित्व उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया।

मानापमान नाटक में नायिका के गीत नारीसुलभता की दृष्टि से अधिकतर ललित-मनोहर ठुमरी-कजरी की तर्जों में निबद्ध थे और मर्दाना नायक के गीत अड़ाणा, हंसध्वनि, भीमपलास जैसे शास्त्रीय रागों की बंदिशों पर आधारित थे। कहना न होगा कि इसके पीछे संगीत निर्देशक श्री टेंबे जी की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि थी। प्रस्तुत संदर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि नायक के ये गीत पं. विनायकराव जी की सांगीतिक प्रकृति के लिए सर्वथा अनुकूल थे; फलतः इन गीतों की प्रस्तुति में अपना कौशल प्रकट करने का भरपूर अवसर उन्हें प्राप्त हो सका। पंडित जी को ठुमरी, कजरी, टप्पा, कव्वाली जैसे संगीत-प्रकारों के प्रति चरम अरुचि थी। अपने महफिली गायन में भूलकर भी कभी उन्होंने इन गीत-प्रकारों को प्रस्तुत नहीं किया। यदि ठुमरी भी गाते तो वह 'अब की टेक हमारी', 'राखो लाज हमारी' जैसी भक्ति-रसाश्रित रचना ही गाते। इसे भगवान की कृपा ही मानना चाहिए कि अपने रंगमंचीय कार्य-काल में पं. विनायकराव जी के हिस्से में आभिजात्य संगीत की ही तर्जें आयीं। अस्तु।

यहां संदर्भ की बात यह है कि १९११ के बाद याने 'मानापमान' नाटक के मंचन के साथ महाराष्ट्रीय संगीत रंगमंच पर शास्त्रीय गायन की नाट्यमय प्रस्तुति का जो युग उपस्थित हो गया उसका लाभ पं. विनायकराव जी को अच्छी तरह मिला। वह एक तरह से गवैया–अभिनेताओं का ही कालखंड था। 'नाट्यकला प्रवर्तक मंडली' में तो पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के चार शागिर्द सहभागी थे और आगे चलकर १९२९ में उस्ताद अब्दुल करीम खां के गंडाबंध शिष्य रामभाऊ कुंदगोळकर ऊर्फ सवाई गंधर्व भी थे। इन सभी वरिष्ठ गायकों की खासियत यह रही कि (एकाध अपवाद छोड़ दें तो) इन्होंने अपने महिफली गायन को नाटक की भेंट होने नहीं दिया। अभिनेता के रूप में वे उतने कीर्तिमान न हुए हों (यानी हुए ही नहीं) लेकिन संगीत की महिफलों में विजयी वीर का गौरव पाते रहे।

पं. विष्णु दिगंबर के गुरुबंधु पं. मिराशीबुवा तो गवैया भी थे और ग्वालियर घराने के चलते फिरते ज्ञानकोष भी। सवाई गंधर्व किराना घराने के देदीप्यमान रत्न थे। उनके लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है कि पं. भीमसेन जोशी और श्रीमती गंगूबाई हनगल उन्हींके शिष्य हैं। और रहे मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर, जिनका उल्लेख 'गंधर्व नाटक मंडली' के साथ ही होना चाहिए था। ये जयपुर घराने के पक्षपाती और उस्ताद अल्लादिया खां के भक्त गायनाचार्य भास्करबुवा बखले के शिष्योत्तम थे और अपने सकलगुणमंडित गायन से महफिल में रंग ही रंग भर देते थे। शुरू में ये 'ललित-कलादर्श नाटक मंडली' में रहे, तत्पश्चात् १९१६ में 'गंधर्व नाटक मंडली' में दाखिल

हो गए। वहां उन्होंने संगीत–अभिनेता के रूप में और उससे भी बढ़कर संगीत निर्देशक के रूप में बहुत संस्मरणीय और सराहनीय कार्य किया। इस प्रकार पं. विनायकराव जी के रंगमंचीय कार्यकाल में महाराष्ट्र के संगीत–रंगमंच पर ग्वालियर, किराना और जयपुर घराने की गायकी ने अपना प्रभाव जमा दिया था। अनुमान किया जा सकता है कि नाट्यक्षेत्र में अपने ही समान श्रेष्ठ महफिली गायकों को सहयोगी के रूप में पाकर पं. विनायकराव जी मन–ही-मन कुछ आश्वस्त रहे होंगे और उन्हें सालनेवाली उस अपराध–भावना की धार कुछ मंद हुई होगी।

यहां पर पंडित जी के 'गंधर्व नाटक मंडली' में प्रवेश के संबंध में दो–एक घटनासूत्रों का बयान कर लिया जाए। इसके पूर्व यह बताया जा चुका है कि नारायणराव राजहंस ने विनायराव जी का चुनाव अपनी ओर से कर दिया। परंतु गुरुदेव विष्णु दिगंबर की अनुज्ञा आवश्यक थी और यह काम उतना सरल नहीं था। गुरुदेव का पक्का मत था कि विनायक का नाटक मंडली में जाना याने एक प्रकार से वचनभंग ही है। एक तो यह कि नाटक में जाने पर संगीत की साधना और ज्ञानवितरण ठप हो जानेवाले थे और दूसरे यह कि उस मोहमयी मयसभा में शुद्ध आचरण की रक्षा होना असंभव था। फिर भी डॉ. हरि कृष्ण पटवर्धन और स्वयं बालगंधर्व पं. विष्णु दिगंबर से जाकर बंबई में मिले। पर्याप्त बहस के बाद पंडित जी महाराज ने अनुज्ञा दी और वह भी तब दी जब बालगंधर्व ने उन्हें आश्वासन दिया कि आपके शिष्य की संगीत-साधना में बाधा उपस्थित नहीं की जाएगी और उन्हें जब जब अवसर मिलेगा तब तब संगीत की बैठकों में गाने की छूट दी जाएगी। और उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने अपना यह वचन अंततक निभाया।

गुरुदेव की अनुज्ञा की कठिन समस्या को पार करने के बाद पं. विनायकराव जी अपने आश्रयदाता श्रीमंत बालासाहेब मिरजकर से आशीर्वाद मांगने गए। श्रीमंत ने पूछा—"अरे विनायक, असली संगीत-साधना को छोड़ कर नाटक की नकली दुनिया में घुसने की तुम्हें क्या जरूरत पड़ी?" इस प्रश्न के लिए विनायकराव जी के पास कोई तर्कसंगत उत्तर तो था नहीं। अतः जवाब के वास्ते जवाब देने के बहाने बोले— "महाराज, आप तो हकीकत में महाराज हैं। मैंने सोचा नाटक में जाऊंगा तो कम से कम ३–४ घंटों के लिए तो महाराज बनने का मौका पाऊंगा!"

इस प्रकार सब ओर से आश्वस्त होकर पं. विनायकराव जी पुनश्च कोल्हापुर आ गए और कुछ ही दिनों में गंधर्व नाटक मंडली का पत्र मिला कि आप ६ अगस्त १९२२ को बंबई में नाटक मंडली के स्थान पर उपस्थित हो जाइए। विनायकराव जी चार अगस्त को बंबई पहुंचे और छह अगस्त को प्रातः उठकर स्नान से निबटकर

और गुरुदेव को प्रणाम करके तथा एक बैग में कपड़े और बिछावन तथा साथ में तानपूरा लेकर सबेरे आठ बजे निकले और साढ़े आठ तक बंबई के नाना चौक में स्थित नाना शंकरशेट मंदिर में दाखिल हो गए। नाटक मंडली के निवास में एक सहभागी के रूप में प्रवेश करते समय क्षण–दो क्षण कुछ बेचैनी भी उन्होंने महसूस की। सबेरे दस बजे नटसम्राट बालगंधर्व विनायकराव जी से मिलने आए और यह तय हुआ कि पांच ही दिन बाद प्रस्तुत होनेवाले 'सौभद्र' के 'खेल' में विनायक-राव जी नारद का पार्ट अदा करेंगे।

पं. विनायकराव जी के रंगमंच प्रवेश को लेकर सामान्य और विशिष्ट सभी प्रकार के दर्शकों में तीव्र कुतूहल था। क्योंकि 'गंधर्व नाटक मंडली' की साधारण–सी घटना भी नाट्यरसिकों में उत्तेजना फैला देती थी और यहां तो एकदम नवीन संगीत अभिनेता का पदार्पण होनेवाला है। यह अभिनेता देखने में कैसा है? उसका गायन बालगंधर्व जैसा आनंद हमें दे सकेगा या नहीं? अभिनय में वह कहांतक निपुण है? ऐसी अनेकों जिज्ञासाओं से भरे दर्शकों के सामने पं. विनायकरावजी ने 'सौभद्र' नाटक के नारद के वेष में बंबई के सुप्रसिद्ध 'पीलहाऊस' विभाग में स्थित 'न्यू एलफिन्स्टन थिएटर' में पहला रंगमंच–पदार्पण किया। इस नाटक में नारद की भूमिका का एक विशेष महत्त्व है। मिथकीय संदर्भों में नारद का चरित्र भक्त, गायक, त्रिलोकयात्री, देवीदेव-ताओं तथा राजामहाराजाओं के सहायक और अपने मुक्त हंसोड़ स्वभाव से झूठमूठ के झगड़े मचाकर उसकी मधुर परिणति के साक्षी बननेवाले एक अनोखे आदरणीय चिरतरुण 'मध्यस्थ' के रूप में प्रस्थापित हो चुका है। 'सौभद्र' नाटक के नारद भी ऐसे ही हैं। वह रंगमंच पर अनंत विस्तारक्षम यमनकल्याण राग में एक भक्तिगीत गाते गाते ही प्रवेश करते हैं– 'राधाधर मधु मिलिंद जय जय। रमारमण हरि गोविंद जयजय।' उसी समय मंच पर अर्जुन गुस्से से भर कर खड़ा है। उसे 'भरतपुत्र' सूत्रधार की बातों से पता चला है कि सुभद्रा का दुर्योधन से ब्याह निश्चित हुआ है। वह नारद से सहानुभूति की कामना करता है तो उलटे नारद ही उसे गीत में बताते हैं कि– "मैं उसी ब्याह में उपस्थित होने के लिए द्वारकापुर जा रहा हूं।" अर्जुन कहता है "मुनि महाराज, इस कृष्ण ने मुझे कितने कितने वचन दिए थे।" तब नारद फिर गीत में कहता है– "हन्त! प्यारे अर्जुन, अब यही समझ लो कि तुम्हें वचन दे–दे कर कृष्ण ने तुम्हें बस उल्लू बना दिया है।" गौर से देखने पर ध्यान में आएगा कि नारद का पार्ट खेलनेवाले अभिनेता में गायन के साथ ही उन्मुक्त तरल अभिनय की और हंसमुख चंचलता की गुणसंपदा होनी चाहिए। विनायकराव जी के पास सिर्फ गायन था। इसलिए उनके 'राधाधर मधुमिलिंद' को दर्शकों ने पसंद किया। किंतु नारद के स्वभाव का प्रतिबिंब उन्हें विनायकराव जी के गंभीर गद्य

व्यक्तित्व में नहीं मिल सका। उस समय के एक समीक्षक ने उसपर लिखा है " अर्जुन को चिंताक्रांत करने के लिए आया हुआ नारद स्वयं ही भयाक्रांत बन गया था।"

और यही वह बिंदु था जिसने पं. विनायकराव जी के स्वभाव में स्थित जिद्दीपन को चुनौती दी। विनायकराव जी में जन्मजात अभिनयगुण नहीं था और उन्होंने कभी उसका अभ्यास भी नहीं किया था। अपने प्रथम रंगमंचीय पदार्पण के इस अनुभव से उन्होंने हिम्मत नहीं हारी, बल्कि अभिनय के सिर पर सवार होकर उसे अपनी मुट्ठी में कर लेने के लिए उन्होंने कमर कस ली। लेकिन उनका मार्ग इतना सरल नहीं था। प्रायः उस कालखंड की सभी नाटक मंडलियों में अभिनय सिखाने के लिए कोई न कोई निर्देशक नियुक्त रहता था, जिसे 'तालीम मास्टर' कहा जाता था। गंधर्व मंडली में यह काम पहले तो स्वयं नाटककारों ने किया था, बाद में मंडली के एक बुजुर्ग अनुभवी अभिनेता और साझेदार श्री गणपतराव बोड़स यह दायित्व निभाते थे। परंतु वह भी १९२२ में कंपनी को छोड़ अपने गांव सांगली में जा टिके थे। तथापि विनायकराव जी हार माननेवाले नहीं थे। उन्होंने सोचा अगर गणपतराव कंपनी में न हों तो मुझे उनके पास जाना होगा। सांगली तो मिरज के पड़ोस में ही पड़ता है। वे समय निकाल निकाल कर सांगली जाते रहे और गंधर्व मंडली के नाटकों के प्रमुख पुरुष पात्रों के अभिनय की तालीम बोड़स जी से लेने में लग गए। लेकिन यह सारा प्रशिक्षण इकतरफा था। नाट्याभिनय का ज्ञान नाटक के पूर्वाभ्यास या 'रिहर्सल' के समय सबके साथ काम करते करते मिलना चाहिए तभी उसकी तालीम पक्की होती है। और विनायकराव जी के सौभाग्य से ऐसा अवसर उन्हें अपने आप ही प्राप्त हो गया।

'गंधर्व नाटक मंडली' में. पं. विनायकरावजी ने अपने व्यक्तिगत अनुशासन को जरा भी शिथिल होने नहीं दिया। सबेरे जल्दी जाग कर स्नान-संध्या, सूर्यनमस्कारादि व्यायाम और उसके बाद संगीत के रियाज की उनकी परिपाटी यहां भी अक्षुण्ण रूप से जारी रही। नाटकों के कारण रात को समय पर सोना नहीं हो सकता था, फिर भी कंपनी में रहते हुए विनायकराव जी दोपहर को सोते नहीं थे। वे अपने संगीत–विषयक कार्य में व्यस्त रहते थे। उनकी यह सारी दिनचर्या 'गंधर्व नाटक मंडली' के अन्य कलाकारों की तुलना में " तीन लोक से मथुरा न्यारी' की तरह ही थी। एक बार मराठी के इतिहासाचार्य विद्वान श्रीमान् चिंतामणराव वैद्य किसी कार्यवश मंडली के स्थान पर प्रातःसमय उपस्थित हुए। वह महाशिवरात्रि का दिन था। कंपनी के बहुत से सदस्य शांभवी प्राशन करके धुत्त हो गए थे। वातावरण में एक तरह की शिथिलता आ गयी थी। वैद्य जी थोड़े अप्रतिभ हो रहे थे, इतनेमें उन्होंने एक व्यक्ति को सूर्य–नमस्कार का व्यायाम करते हुए देखा और प्रसन्नतापूर्वक पूछताछ की

तो पता चला कि वे पं. विनायकराव जी थे।

संगीत-साधना और प्रशिक्षण

नाटक मंडली में रहते हुए भी पं. विनायकराव जी संगीतविषयक कार्यों में बराबर व्यस्त रहे। संगीतसाधना और संगीत-प्रसार का जो वचन उन्होंने अपने गुरुदेव को तथा सभी अभिभावकों को दिया था उसके परिपालन के लिए वे अपना रहा-सहा सभी समय दे देते। उनका यह कार्य तीन प्रकार का था— संगीत-प्रदर्शन, संगीत-प्रशिक्षण और संगीत-ग्रंथलेखन। नाटक-मंडली के स्वामी बालगंधर्व ने उन्हें यह अनुज्ञा दी थी कि नाटक के काम को संभालने के बाद आप गायन की बैठकों में भाग ले सकेंगे। हो सकता है कि इसके पीछे उनकी एक सुप्त व्यवसायिक दृष्टि भी होगी कि इससे मंडली का महत्त्व बढ़ेगा। इस तरह जमखिंडी, सांगली, बंबई, सोलापुर इत्यादि कई स्थानों पर पं. विनायकराव जी की महफिलें सजतीं। बंबई जैसे शहर में तो कभी कभी दिन में तीन तीन महफिलें होतीं। एकाध बार नाटक में पं. विनायकराव जी की आवाज बैठ जाती तब मालिक के नाते बालगंधर्व यह टिप्पणी भी कस देते कि बाहर महफिलें जमाते रहेंगे तो यही होना है। किंतु उनका यह विरोध क्षणिक रहता था। तथापि कंपनी के नियुक्त व्यवस्थापक तथा अन्य कुछ कलाकारों को विनायकराव जी की ये बैठकें बहुत अखरतीं। इसके फलस्वरूप यदि महफिल के लिए बाहर का कोई निमंत्रण आता तो मंडली के व्यवस्थापक वही दिन नाटक के प्रदर्शन के लिए चुनते। सारांश यह कि संगीत-प्रस्तुति के मार्ग में विनायकराव जी को कुछ अड़चनें भी सहनी पड़ीं। फिर भी उन्होंने जब जब अवसर मिला तब तब अपना सभा-गायन का अधिकार चला ही लिया। नाटक मंडली में प्रविष्ट होने के दूसरे ही वर्ष में १९२३ में बंबई में गांधर्व महाविद्यालय की संगीत-परिषद में पं. विनायकराव जी श्रेष्ठ गायिका हीराबाई बड़ोदेकर, पं. ओंकारनाथ आदि के साथ गाए। आजतक श्रीमती हीराबाई के मन में उस परिषद का स्मरण ताजा है। उन्होंने अपने लिखित संस्मरण में बताया है कि उस परिषद में विनायकराव जी का गाना बहुत सुंदर हुआ था। इसी प्रकार १९२८ के अप्रैल महीने में पुणे में विनायकराव जी के गुरुबंधु पं. गोविंदराव देसाई ने एक संगीत – परिषद आयोजित की थी। गुरुवार से शनिवार तक यह परिषद चली। पहले दिन तथा अंतिम दिन पं. विष्णु दिगंबर स्वयं गाए। गुरुवार को तानपूरे पर विनायकराव जी तथा नारायणराव व्यास बैठे थे। उस परिषद में पं. जनार्दन मराठे उपस्थित थे (जिनका जिक्र दूसरे संदर्भ में आगे होगा) उस संगीत-सभा में गुरु और शिष्य के संगीतसंवाद बड़े श्रवणीय रहे। इस पूरी परिषद में उपस्थित रहने का अवसर पं. विनायकराव जी को मिला, क्योंकि गंधर्व मंडली का मुकाम उन दिनों पुणे में ही था। इसीलिए शनिवार के दिन नाटक की वजह से वे गुरु

के साथ तानपुरे पर नहीं बैठ सके।

प्रश्न हो सकता है कि विनायकराव जी नाटक मंडली में वेतनभोगी सदस्य के रूप में रहे थे, फिर भी संगीत–प्रशिक्षण का कार्य वे किस प्रकार निभा सके? नाटक मंडली का डेरा आज यहां तो कल वहां। ऐसे शिष्य तो नहीं मिल सकते थे कि जो गुरु के साथ इस शहर से उस शहर घूमते रहें। विनायकराव जी को यह संगीत प्रशिक्षण का अवसर एक विशेष संयोग के कारण ही प्राप्त हुआ। 'गंधर्व नाटक मंडली' में १९२२ के लगभग विष्णु घाग नामक एक बाल अभिनेता था, जिसे मास्टर विष्णु कहते थे। इस विष्णु के बड़े भाई भी मंडली में ही काम करते थे। विष्णु का गला मधुर था और उसके बड़े भाई ने सोचा कि पं. विनायकराव जी जैसा गुरु इसे मिल जाएगा तो संगीत में यह अच्छी तरक्की करेगा। उन्होंने पंडित जी के पास प्रस्ताव रखा। विनायकराव जी तुरंत तैयार हो गए और विष्णु घाग का संगीत–प्रशिक्षण नाटक मंडली में ही आरंभ हुआ। विष्णु के साथ एक दूसरा बाल अभिनेता शिष्य भी आ गया, जनार्दन मराठे। विष्णु के बड़े भाई ने ही उसे इसके लिए प्रेरित किया। और इस प्रकार नाटक मंडली के साथ रहते हुए भी संगीत सिखाने का व्रत निभाने का प्रिय अवसर पं. विनायकराव जी को प्राप्त हुआ। यह संगीत-प्रशिक्षण १९२२ से १९३१ तक दस वर्ष अबाधित रूप से चलता रहा। आगे चलकर इन दोनों शिष्यों ने संगीत के ज्ञाता और शिक्षक के रूप में काफी नाम कमाया। दोनों ने अपना स्वतंत्र संगीत विद्यालय चलाया और अनेक शिष्यों को सिखाकर परीक्षाओं में बिठाया।*

नाटक मंडली में चलनेवाला संगीत–शिक्षा का यह कार्य पर्याप्त अनुशासन के साथ चलता। प्रायः यह अध्यापन सबेरे तथा दोपहर अथवा संध्या को चलता। गंधर्व मंडली का सारा कारोबार ही दिव्य और भव्य रहता था। मंडली जहां जाती वहां एक साथ तीन या चार महीने उसका मुकाम रहता। इसलिए जो प्रमुख अभिनेतागण थे वे उस शहर में अपना अपना घर बनाकर सपरिवार रहते। इस प्रकार पुणे, नगर, सोलापुर बड़ोदा, मिरज इत्यादि अन्यान्य शहरों में विनायकराव जी के रहने की व्यवस्था स्वतंत्र रहती। कभी कभी मंडली कोई बड़ा मकान लेती और सब जनों की वहींपर व्यवस्था होती। विष्णु और जनार्दन सबेरे और शाम गुरु महोदय के घर पर हाजिर हो जाते

* पं. जनार्दन मराठे आज भी अपनी ७५ की उम्र में संगीत–प्रशिक्षण का व्रत बड़े मनोयोग से निभा रहे हैं। गंधर्व मंडली में प्राप्त संगीत-शिक्षा के बारे में उन्होंने स्वयं अपने अनुभव बताए, जो रोचक भी हैं और उद्बोधक भी। प्रस्तुत विवरण उसीके आधार पर दिया जा रहा है।

और संगीत- शिक्षा का कार्य स्वतंत्र, शांत वातावरण में चलता। श्रीमान् बालगंधर्व को इस बात की जानकारी अवश्य रहती और वे मन ही मन इस उपक्रम की प्रशंसा ही करते। एक बार अहमदनगर के पड़ाव में मंडली के ही निवास में दूसरी मंजिल पर विनायकराव जी इन दो शिष्यों को मिया मलार की तालीम दे रहे थे। बालगंधर्व अपना सबेरे का घूमने का व्यायाम करके लौटे थे और सीढ़ियों पर थोड़ा-सा रुककर सुन रहे थे। हठात् उनके मुंह से उद्‌गार निकले—"यह काम विनायक बुवा ही कर सकते हैं। हमारे और गायक अभिनेताओं के बस का यह काम नहीं।"

पं. विनायकराव जी की संगीत–शिक्षा-पद्धति के संबंध में हमें अगले अध्याय में बात करनी है। यहां इतना कहा जाए कि इन दस वर्षों में इस महान् गुरु ने अपने शिष्यों को संगीत का विपुल ज्ञान प्रदान किया और वह भी एक पाई की भी कामना न रखते हुए। उन्होंने उनसे एक ही अपेक्षा रखी कि मन लगाकर सीखो और स्वर, ताल, लय और रागरूप में कहीं भी इतना-सा भी समझौता मत करो। इस अपेक्षा की पूर्ति वे शिष्यों से निहायत कड़ाई के साथ करा लेते। एक बार जनार्दन द्वारा तोड़ी का गंधार उस राग के अनुसार नहीं निकला, तुरंत गुरु की चपत गाल पर पड़ी। जबतक गायन यथायोग्य रीति से शिष्यों के कंठ से नहीं निकलता था तब तक गुरुमहोदय उन्हें बख्शते ही नहीं थे। उनके पास जो अपार ज्ञानभंडार था उसे शिष्यों को देते हुए उन्हें अपूर्व संतोष लाभ होता था। एक समय तो रास्ते से जाते हुए ही उन्होंने जना-र्दन को मुलतानी का तराना बताया और कहा कि अभी इसे याद रखो कल इसकी पक्की शिक्षा दूंगा। कभी कभी ऐसा होता था कि विष्णु या जनार्दन में से कोई अनु-पस्थित रहता। तब गुरु महोदय पंडित जी महाराज का रवैया अपनाते। यदि अकेले जनार्दन को कोई अंश सिखाया जाए तो जनार्दन का यह दायित्व रहता कि वह विष्णु को उतना सब बता दे। संगीत की यह तालीम दो-दो तीन-तीन घंटों तक चलती। उस पूरे समय के लिए गुरुमहोदय हाथ में तबला लेकर शिष्यों के सामने अपने को स्थापित किए रहते।

इस संगीत–प्रशिक्षण के लिए जब कभी अवसर मिलता, तब उससे लाभ उठाए बिना पंडित जी न रहते। उनके भीतर बसा हुआ संगीत–गुरु उन्हें चैन लेने नहीं देता था। इस संबंध में पुणे के सुविख्यात गानरसिक, वाद्यसंग्राहक और वादक तथा संगीत कलाकारों के आश्रयदाता श्रीमंत सरदार आबासाहब मुजूमदार के सुपुत्र बड़ौदा के श्री नारायणराव मुजुमदार का संस्मरण प्रातिनिधिक है। उन्होंने अपने बचपन की याद बतायी है कि १९२४ से १९३२ के बीच गंधर्व मंडली का मुकाम अनेक बार पुणे में रहता था। उन दिनों मेरे साले श्रीमंत दादासाहब पटवर्धन को तथा मेरी बहन श्रीमती गंगाबाई को सितार वादन सिखाने के लिए 'बुवासाहब' (याने पंडित जी) समय

निकालकर आया करते थे। इस प्रकार पं. विनायकराव जी संगीत सिखाने के हर अवसर से लाभ उठाते रहे और अपने नाट्यक्षेत्र के कालखंड में भी संगीत–साधना और शिक्षा के प्रति ईमानदार रहे।

नाटक पराया क्षेत्र

इन सभी बातों से यह सहज रूप में ज्ञात हो सकता है कि नाटक मंडली विनायकराव जी का वास्तविक क्षेत्र नहीं था। नियति के प्रभाव से वे इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए, किंतु उसमें रममाण नहीं हो सके। इसके अनेक कारणों का जिक्र हो चुका है। इस सिलसिले में विनायकराव जी को न सुहानेवाली एक और बात यह थी कि अभिनेता के नाते उन्हें आवश्यकतानुसार कई प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़तीं, जिनमें कुछेक उनकी स्वभाववृत्तिके बिलकुल विपरीत बैठती थीं। 'मानापमान' नाटक के सत्त्वशील पराक्रमी नायक धैर्यधर की भूमिका उनके स्वभाव के ठीक अनु-कूल थी। लेकिन उन्हें 'सौभद्र' के रजोगुणी अर्जुन की भी भूमिका करनी पड़ी और 'एकच प्याला' (एक ही जाम) नामक नाटक के नायक का पार्ट भी करना पड़ा इस नाटक का यह नायक नाटक के दूसरे अंक से पांचवे अंक तक घोर मद्यपी के रूप में ही मंच पर आता है। एक और नाटक है, 'संशयकल्लोल' जिसमें पत्नी, इस संदेह का शिकार बनती है कि मेरा पति किसी गायिका के आकर्षण में फंस गया है। और पूरा नाटक इसी संदेहजन्य हंसानेवाले घात–प्रतिघात से भर जाता है। विनायकराव जी इस नाटक में अश्विनसेठ की भूमिका निभाते थे। यह इस नाटक का एक 'दिलवाला' उपनायक है जो रेवती नामक गणिका का प्रेम पाने के लिए प्रयत्नशील होकर आशा–निराशा की दशा में बराबर बेचैन रहता है। सोचा जा सकता है कि सच्चरित्रता के महामेरु पं. विष्णु दिगंबर के इस श्रेष्ठ शिष्य पर, जो स्वयं "सपने हुं पर नारि न हेरी" कि जाति का था, कैसा संकट आन पडा होगा।

यह तो तब की अवस्था थी जब नाटक में नारियों की भूमिका पुरुष ही अदा करते थे। किंतु समय–परिवर्तन के साथ नारियों भी पुरुषों के साथ नाटक में भूमिकाएं अदा करने लगीं। इस समय की याने विनायराव जी के नाटक से बाहर आने के बाद की एक घटना में उनकी इस स्वभावगत विशेषता की झलक मिलती है। यहां जाते जाते यह बताना आवश्यक है कि यद्यपि १९३२ में विनायकराव जी गंधर्व मंडली से अलग हो गए और उनका नाटक मंडली से निष्क्रमण भी कम नाट्यपूर्ण नहीं था, जिसका बयान आगे होनेवाला है, तथापि आगे के दिनों में आवश्यकतानुसार वे उन पुराने नाटकों में अपनी अभ्यस्त भूमिकाएं प्रस्तुत करते थे। सन १९४० की बात है। बंबई के विख्यात नाट्यप्रेमी और नाट्य-कार्यकर्ता डॉ. भालेराव जी ने 'सौभद्र' नाटक की प्रस्तुति

का आयोजन किया। उसमें विनायकराव जी अर्जुन थे और गानसम्राज्ञी श्रीमती हीराबाई बड़ौदेकर सुभद्रा थीं। बड़ी विकट समस्या थी। जब भालेराव श्रीमती हीराबाई से बात करने गए तब उन्होंने पहले यह पूछा कि क्या आपने विनायकबुवा से स्वीकृति ली है? नाटक घोषित हुआ तब हीराबाई जी ने विनायकराव जी से कहा कि एक रिहर्सल तो कर लेंगे। पंडित जी ने मज्जागत नारीभय के कारण प्रतिक्षिप्त क्रिया की तरह कह दिया, "कोई आवश्यकता नहीं।" लेकिन श्रीमती हीराबाईने पंडित जी को एक बात के संबंध में सचेत करना आवश्यक समझा। 'सौभद्र' नाटक के पहले प्रवेश में एक प्रसंग है, जिसमें सुभद्रा मूर्च्छित होकर गिरने को होती है और वेषांतरधारी अर्जुन अचानक आगे बढ़कर उसे संभाल लेता है। हीराबाई जी ने कहा — "देखिए बुवा, उस प्रसंग में आप मुझे सहारा देकर संभालेंगे न? वरना मैं सीधे गिर पडूंगी।" विनायकराव जी ने आश्वासन दिया कि आप निश्चिंत रहिए। नियत तिथि को नाटक प्रस्तुत हुआ। सुभद्रा ने मूर्च्छित होने का अभिनय करते हुए अपनी देह को पूरी शक्ति से झोंक दिया। इधर उस क्षणार्ध में सौभद्र के अर्जुन की दशा भगवद्गीता के अर्जुनसदृश "सीदन्ति मम गात्राणि मुखंच परिशुष्यते। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।" के समान हो गयी। नतीजा यह हुआ कि हीराबाईजी धड़ाम से मंच पर पीठ के बल गिर पड़ीं और काफी समय तक पीठ के दर्द से पीड़ित रहीं। बाद में उन्होंने पूछा तब विनायकराव जी ने कहा "मैं सचमुच भयभीत हो गया। क्षमा कीजिए।"

अभिनय-कला के संस्कार

परंतु यह न समझना चाहिए कि विनायकराव जी नाटक मंडली में जलबिन मछली की तरह रहे थे। जिद्दीपन उनके स्वभाव का विशेष गुण था। चुनौतियों को स्वीकारने और उनके सिर पर सवार होने में वे हमेशा आगे रहते। पहले उल्लेख हुआ ही है कि अभिनय गुण की कमी को मात करने के लिए उन्होंने श्रीमान गणपतराव बोड़स के यहां जाकर अभिनय की शिक्षा पायी। इसके साथ ही कुछ ऐसे अवसर उनके नाट्य-जीवन में आए, जिनके कारण उन्हें अभिनय के अभ्यास का अवसर अधिकाधिक मिलता गया और १९२८ से आते आते गुनीजन उन्हें एक अच्छे संगीत अभिनेता के रूप में पहचाने लगे।

यह जो सब हुआ वह कुछ नाट्यमय घटनाओं के कारण ही हुआ। नाटक मंडली ने १९२४ में श्री. विठ्ठल सिताराम गुर्जर द्वारा लिखित 'नंदकुमार' नाटक खेलना तय किया। यह एक वैशिष्ट्यपूर्ण नाटक है। क्योंकि यहां कृष्ण और राधा का संबंध पारंपरिक मधुरा भक्ति का नहीं बल्कि गुरुशिष्यवत् है। याने यहां राधा जी गुरु हैं और कृष्ण शिष्य। नाटक के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि का बड़ा कलात्मक

उपयोग कर लिया गया है। कृष्ण के सामने ' जगन्मंगल ' का उद्देश्य है और राधा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हर प्रकार से उनका मार्गदर्शन करती है। इस सिलसिले में वे दोनों क्या दिन, क्या रात विचारविनिमय में व्यग्र रहते हैं— कैसे कंस की सत्ता को नष्ट किया जाए इत्यादि। राधापति अनय उनके इस मिलन–व्यापार को व्यभिचार समझता है और बाद में पछताता है– अस्तु। तो इस नाटक में राधा की भूमिका बालगंधर्व अदा करनेवाले थे। युवा गोपालकृष्ण की भूमिका याने " हीरो " की भूमिका के बारे में समस्या थी। गंधर्व मंडली में हीरो की भूमिका एक अच्छे गायक अभिनेता किया करते थे, उन्हें हम सुविधा के लिए ' अमुक पंडित जी ' कहेंगे। नंदकुमार नाटक के हीरो का काम उन अमुक पंडित जी को नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि वे पचास को पार गए थे। अतः स्वाभाविक रूप से भूमिका पं. विनायकराव जी को देना तय हुआ तथा कृष्णपिता नंद की भूमिका उन अमुक पंडित जी को दी गयी। और यही वह बिंदु था जिसके कारण विनायकराव जी के नाट्यविकास के लिए भरपूर अवसर प्राप्त हो सका।

बात यह हुई कि वे सीनियर अभिनेता भयानक रूप से नाराज हो गए। उन्होंने खुले तौर पर अपनी नाराजगी यहां-वहां घोषित करना शुरू कर दिया। एक प्रसंग में तो उनकी यह नाराजी असहयोग के रूप में प्रकट ही हो गयी। नाटक मंडली के स्वामी बालगंधर्व से यह बात कैसे छिपती ? और उन पंडित जी का उद्देश्य भी तो यही था कि मालिक महोदय तक अपना यह असंतोष पहुंच जाना चाहिए। किंतु बालगंधर्व उनके सामने थोड़े ही झुकनेवाले थे ? वे व्यक्ति के सम्मान की अपेक्षा नाटक के यश को महत्त्व देनेवाले मालिक थे। उन्होंने यह भांप लिया कि ये पंडित जी अपने काम में पहले जैसा रस नहीं ले रहे हैं। इसी बीच एक ऐसी घटना हो गयी कि बालगंधर्व ने उन महाशय को संगीत के रिहर्सल में हीला-हवाला करते हुए स्वयं ही देख लिया। फिर क्या ? उन्होंने श्रेष्ठ कलाकारों की उपस्थिति में एक ही झटके में पं. विनायकराव जी को आदेश दे दिया कि आगे से आपको 'सौभद्र' के अर्जुन, ' मानापमान ' के धैर्यधर, और 'संशयकल्लोल' के अश्विनसेठ की भूमिकाएं अदा करनी होंगी। तैयारी में लग जाइए।

प्रसंग मार्के का था और उसमें एक विकटता यह भी थी कि दूसरे ही दिन श्री टिपणीस द्वारा लिखित ' आशा निराशा ' नाटक का प्रयोग था। उसमें भी आदेशानुसार हीरो का काम विनायकराव जी को ही करना था। इस संबंध में एक अनुकूलता यह थी कि नाटक मंडली के प्रमुख अभिनेताओं को सभी पात्रों के संवाद कंठस्थ रहते थे। क्योंकि ' किर्लोस्कर मंडली ' के जमाने से नाटक के पूर्वाभ्यास या रिहर्सल के लिए एक अनुशासन पक्का हो गया था, जो ' गंधर्व नाटक मंडली ' में भी स्वीकृत था। नाटकों का पूर्वाभ्यास सभी पात्रों को एकसाथ बुलाकर कराया जाता। पूर्वाभ्यास का समय नियत

रहता था दोपहर ३ से ६ तक। और नाट्याचार्य कृष्णाजी खाड़िलकर के कर्मठ और नियमनिष्ठ व्यक्तित्व के कारण रिहर्सलों में किसी भी प्रकार की शिथिलता बर्दाश्त नहीं की जाती थी। इसके फलस्वरूप सभी पात्रों को संपूर्ण पूर्वाभ्यास में बराबर उपस्थित रहना पड़ता था। इससे नाटक के संवाद आपसे आप सभीको कंठस्थ हो जाते थे। परंतु ऐसे पूर्वाभ्यास तो तभी होते जब कोई नया नाटक मंचन के लिए चुना जाता। और १९२४ में परिस्थिति ऐसी थी कि 'नंदकुमार' नाटक ही नया था, शेष सभी नाटक विनायकराव जी के मंडली में प्रवेश करने के पूर्व ही सेट हो चुके थे। इससे उनके अन्य नाटकों के संवाद कंठस्थ नहीं थे और अभिनय का अभ्यास भी नहीं हो सका था। और विनायकराव जी के स्वभाव में अंगीकृत कार्य को पूरी ईमानदारी से निभाने का जो विशेष गुण था उसके अनुसार अनभ्यस्त भूमिका को अचानक प्रस्तुत करने का यह विचार, जो आदेश के रूप में आया था, सुनकर वे क्षणार्ध के लिए किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गए। उन्होंने दबी जबान से कहा— "मेरा तो एक भी संवाद..." उनकी बात को बीच में ही काटकर बालगंधर्व बोले, "दस प्रॉम्टरों को खड़ा कर लीजिए यह आदेश है, बस!" फिर कुछ क्षण बाद उन्होंने ही आश्वासनपूर्वक कहा– "आप चिंता मत कीजिए। मेरा संपूर्ण नाटक कंठस्थ है। नाट्यप्रयोग के चलते मैं खुद आपको हीरो के भाषण हल्की आवाज में बता दूंगा। और अभी से आप पूर्वतैयारी में लग जाएंगे तो सबकुछ संभल जाएगा।"

इस संपूर्ण प्रस्तावना के बाद 'आशा-निराशा' नाटक मंच पर प्रस्तुत हुआ और उसमें विनायकराव जी ने नायक का पार्ट अदा किया। संदर्भ की बात यह है कि इस अद्भुत संयोग से विनायकराव जी को अनेकविध लाभ प्राप्त हुए। उनके अभिनयगुण का विकास हुआ और 'गंधर्व नाटक मंडली' के प्रतिष्ठित अभिनेताओं में उनकी गणना होने लगी।

संगीत नाटकों में अधिकतर नायक और नायिका के लिए ही गायन रहता है। इन दो प्रमुख पात्रों के लिए सुरचित और सुगठित गीत दिये जाते हैं। अतः 'सौभद्र' नाटक के अर्जुन, 'मानापमान' के धैर्यधर, 'संशयकल्लोल' के अश्विन सेठ आदि की भूमिकाएं निभाते समय पं. विनायकराव जी को रंगमंचीय गायन का बहुत ही अच्छा अवसर मिला और यह काम उन्होंने मन लगाकर किया। बालगंधर्व के साथ मंच पर खड़े होकर गाना अपने में ही एक आह्वान था। अतः वे बराबर सतर्क रहते कि मेरा पैमाना कहीं भी नीचे न आने पाए। तथापि यह मानना पड़ेगा कि अपने नाट्य-गायन को लालित्यपूर्ण बनाने की दिशा में वे अधिक उन्मुख नहीं हुए। नाट्यगायन की प्रस्तुति में यत्किंचित् मात्रा में विवादी स्वरों का प्रयोग कलात्मक रागभंग अथवा भावानुकूल स्वरांदोलन आदि के द्वारा उसके लालित्य को बढ़ता है। यह गायन परिशुद्ध

शास्त्रीय ढंग का नहीं रहता। उसमें कलाकार के व्यक्तिस्वातंत्र्य के लिए थोड़ी छूट रहती है। परंतु विनायकराव जी ने नाट्यगायन में भी शास्त्रीयता के साथ समझौता नहीं किया। और गंधर्व कंपनी के नाटकों की सभी स्वररचनाएं शास्त्रीय रागाधारित ही रहने से उनका मार्ग अबाधित ही रहा। दरबारी, भूप, मालकंस, बिहाग, पटदीप, अड़ाणा, खमाज, यमन इत्यादि अनेकविध रागों के गीत उन्होंने जमकर गाए। बुलंद आवाज, स्वरशुद्धता, तानफिरत और गानतपस्या आदि के बल पर दस वर्ष तक वे बालगंधर्व जैसे नितांत अद्वितीय रंगमंच-गायक के साथ टक्कर देने में सफल रहे। यहांतक कि आगे आगे तो स्वयं बालगंधर्व की प्रशंसा भी उन्हें प्राप्त हो सकी। 'गंधर्व नाटक मंडली' के एक नाटककार अवकाशप्राप्त वयोवृद्ध न्यायमूर्ति श्रीमान वसंतराव देसाई अपने 'मखमलीचा पडदा' नामक मराठी ग्रंथ (१९४७) में लिखते हैं कि मैंने स्वयं 'मेनका' नाटक की प्रस्तुति के समय श्रीमान बालगंधर्व को 'विंग' से पं. विनायकबुवा के गायन पर प्रशंसोद्गार व्यक्त करते देखा है।

नाट्यसंगीत की स्वररचना

पं. विनायकराव जी की नाट्यगायन संबंधी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात को रेखांकित करना आवश्यक है। वह यह कि 'गंधर्व नाटक मंडली' के कुछ नूतन नाटकों के विशिष्ट पदों की स्वररचना करने का दायित्व भी उनको सौंपा गया और उनके स्वरबद्ध अनेक नाट्यगीतों को रसिकजनों ने बहुत पसंद किया। 'गंधर्व नाटक मंडली' में संगीत-निर्देशक बनना अपने में ही एक सम्मान की बात थी। क्योंकि मंडली के संगीत निर्देशकों की परंपरा गायनाचार्य भास्करबुवा बखले, श्री. गोविंदराव टेंबे जैसे धुरंधर संगीतकारों द्वारा भास्वर बनी हुई थी। पं. भास्करबुवा के शिष्य मास्टर कृष्णराव ने उसे बहुत ही सफलतापूर्वक संभाला था। इस पृष्ठभूमि पर मंडली के स्वामी बाल-गंधर्व ने पं. विनायकराव जी के प्रति जो विश्वास प्रकट किया वह उनकी संगीत-साधना के लिए एक प्रमाणपत्र ही था।

इस कालखंड में पंडित जी ने 'विधिलिखित' 'मेनका', और 'कान्होपात्रा' नाटकों के नायकों द्वारा गाये हुए गीतों को संगीतबद्ध किया। इन नायकों का पार्ट उन्होंने ही अदा किया था। इन गीतों में से कतिपय गीतों की ध्वनिमुद्रिकाएं उन दिनों एच. एम. वी., ओड़ियन आदि कंपनियों द्वारा बनायी गयीं और उन्हें पर्याप्त लोक-प्रियता भी मिली। इन गीतों के साथ ही उनके अन्य नाटकों में गाए गीतों के भी रेकॉर्ड बने हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। नाटक के नाम के आगे (गीत मराठी में होने के कारण) उन गीतों के सिर्फ राग दिए गए हैं।—(१) कान्होपात्रा — तिलंग, पटदीप। (२) विधिलिखित — जयजयवंती, पहाड़ी, दुर्गा, अड़ाणा, बागेश्री,

गरुड़ध्वनि। (३) एकच प्याला – बिहाग, अड़ाणा, बिलावल, मालकंस, बसंत। (४) विद्याहरण – सुहासुघराई, हमीर। (५) मृच्छकटिक – कानड़ा, मलार। (६) नंदकुमार – मुलतानी, भीमपलास। (७) संशयकल्लोल – बहार, कामोद। (८) सौभद्र – काफी। (९) मानापमान – दुर्गा (अरबी), सिंधुरा, शंकराभरण, आनंद भैरवी। उपर्युक्त गीतों पर एक नजर डालने पर उनके रागवैविध्य की झलक मिल सकती है जो कि मराठी नाटकों के संगीतपक्ष की व्यापकता का एक प्रमाण ही है। दूसरे शब्दों में यह कि पं. विनायकराव जी जिस संगीत रंगमंच से जुड़े हुए थे, वहां संगीत के आभिजात्य पक्ष पर बराबर ध्यान दिया गया था। इसीलिए वहां पं. विनायकराव जी को अपने जौहर दिखाने का अवसर भी मिल सका। इस अवसर का भरपूर लाभ उन्होंने उठाया और अपने निर्दोष, परिशुद्ध और शास्त्रपूत गायन से रंगमंच के संगीत-स्तर को कुछ बढ़ाने में अपना योगदान दिया। उनके निकटवर्ती शिष्यों के साक्ष्य पर यह भी कहा जा सकता है कि रंगमंचीय गायन का अपनी महफिली संगीत-प्रस्तुति की दृष्टि से उन्हें कुछ लाभ ही हुआ।

नाट्यगीत की सबसे बड़ी विशेषता ‘ तुरत दान महापुण्य ’ के समान होती है, मतलब यह कि नाट्यगीत को त्वरित रंग जमाना पड़ता है। विनायकराव जी के महफिली गायन में यह गुण कुछ मात्रा में संक्रांत हुआ। नाट्यगीत में ‘ आ–कार ’ को बड़ा महत्त्व रहता है और उसकी अदाकारी में ‘ आ–कार ’ पर ठहराव लेने से उसका प्रभाव बढ़ता है। विनायकराव जी के गायन में ‘ आ–कार ’ की भव्यता और सुंदरता नाट्यगायन के संस्कार के कारण कुछ अधिक मात्रा में आ गयी। नाट्यगीत की एक और विशेषता है उसकी द्रुत तानक्रिया। विनायकराव जी तान में तैयार थे ही, किंतु रंगमंचीय गायन के अभ्यास से उनकी तानक्रिया अधिक मंजित हो गयी। यह सब तो हुआ परंतु नाट्यगायन के कुछ और भी गुणविशेष होते हैं, जिनसे वे जानबूझकर दूर रहे। इसमें एक गुणविशेष है लालित्य और भावोत्कटता। नाटक में नाट्यगायन संवाद की जगह लेता हुआ आता है। अतः संविधानक का संदर्भ, गीत के शब्दों का भाव आदि को स्वर–काकु (स्वरांदोलन), मधुर शब्दोच्चारण, रागशुद्धता का ईषत् भंग इत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न अभिनयपटु गायक बखूबी करते हैं। बालगंधर्व इसके सर्वोत्तम उदाहरण थे। परंतु पंडित जी ने अपने नाट्यगायन में इस पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। पहले बताया जा चुका है कि अभिनय को उन्होंने अभ्यास से अपना लिया था, वह उनमें पैदायशी नहीं था। दूसरी बात यह कि स्वर, राग, लय, बंदिश आदि में लीक से हटकर कुछ करने के लिए उनकी तपःपूत शास्त्रीय दृष्टि उन्हें मना करती थी। तथापि नाट्यगायन के क्षेत्र में पंडित जी पूरे दस वर्ष चमकते ही रहे, इसमें संदेह नहीं। हर नाटक में गानरसिकों के कंठमणि नटसम्राट बालगंधर्व के सन्निकट

खड़े होकर गाना और रंग जमाना कोई साधारण बात नहीं थी। विनायकराव जी इस कसौटी पर टिके रहे, जिसका श्रेय उनकी गंभीरतम संगीत-साधना को देना होगा। नाट्यानुकूल लालित्यपूर्ण गायन में वे कुछ उन्नीस रहे भी होंगे, किंतु उनके गायन की परिशुद्धता पर उंगली उठाने की हिम्मत उनके शत्रुओं को भी नहीं हो सकी। अस्तु।

'विधिलिखित', 'कान्होपात्रा' और 'मेनका' नाटकों में 'हीरो' की सर्वप्रथम भूमिका प्रस्तुत करने का अवसर पं. विनायकराव जी को मिला। 'विधिलिखित' नाटक श्री वसंत शांताराम देसाई का लिखा हुआ है, जिसके मंचन आदि के संबंध में खुद अपने ही 'मखमलीचा पडदा' ग्रंथ में उन्होंने बयान किया है। यह नाटक गंधर्व मंडली की परिपाटी के अनुसार डेढ़ वर्ष के पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) के बाद १९२८ में मंचित हुआ। यह तत्कालीन भारतीय परतंत्रता की पृष्ठभूमि पर लिखा हुआ एक प्रतीकात्मक नाटक है। इस नाटक का नायक धनंजय वनचरों का युवा मुखिया है, जो प्रस्थापित राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करके वनचरों की स्वाधीनता और प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील रहता है। राजा त्रिविक्रम उसे बंदी बनाकर इस बगावत को उखाड़ना चाहता है, किंतु राज्य का मंत्री धनंजय वनचरों का पक्ष लेता है। राज-कन्या वैजयंती (अभिनेता—श्री बालगंधर्व) का धनंजय से प्रेम है। धनंजय पर राजा की अवकृपा होती है और वह धनंजय को ही बंदीशाला में डाल देता है। नाटक के अंत में पता चलता है कि धनंजय त्रिविक्रम की दिवंगता प्रथम पत्नी का पुत्र है... इत्यादि। इस नाटक के संबंध में विनायकराव जी के लाभ की दो बातें हुई। एक यह कि इसके नायकद्वारा गाये जानेवाले गीतों की स्वररचना का काम उनको सौंपा गया, जिसका बयान इसके पूर्व हुआ है। दूसरा लाभ यह रहा कि इस नाटक का निर्देशन करने के लिए 'गंधर्व नाटक मंडली' के पुराने साझेदार और इस क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी निर्देशक श्री गणपतराव बोडस को सादर और साग्रह बुलाया गया था। विनायकराव जी ने अपने नाटकीय जीवन के आरंभिक काल में इन्हीं महोदय से 'प्राइवेट ट्रेनिंग' लेकर अभिनय की शिक्षा पायी थी। अब यह प्रशिक्षण समस्त अभिनेताओं के समवेत विधिवत् होनेवाला था, जैसा कि वस्तुतः होना चाहिए। इस घटना से विनायकराव जी की अभ्यास से प्राप्त अभिनय-योग्यता में काफी सुधार हो सका। इस 'विधिलिखित' नाटक के रिहर्सल का एक प्रसंग है। उन दिनों बालगंधर्व अपनी कन्या के असमय निधन के कारण कुछ उदास रहते थे। नाटक के तीसरे अंक में धनंजय बंदिशाला में अत्यंत निराश मनोदशा में एक गीत गाता है, जिसका भाव है—"हे भगवान्, तुमने मुझे त्याग क्यों दिया है ? सच है जब नक्षत्र बदल जाते हैं तब दुनिया भी विपरीत बन जाती है। विधि का शासन किसे चूका है ? इसलिए अब तुम ही मेरे लिए विश्राम हो।" नाटक के लेखक न्यायमूर्ति देसाई अपने ग्रंथ में

लिखते हैं:– "उस दिन पं. विनायकबुवा का गायन, गीत का भाव और बालगंधर्व की मनोदशा का ऐसा मेल बैठ गया कि उन्होंने लगातार तीन बार वह पद विनायकबुवा से गवा लिया और अपने मन का भार हल्का करते रहे।"

'विधिलिखित' नाटक के समान ही विनायकराव जी ने 'मेनका', 'कान्होपात्रा' इत्यादि नाटकों में भी 'हीरो' की सर्वप्रथम भूमिका प्रस्तुत की। 'मेनका' नाटक का नायक विश्वामित्र है। विनायकराव जी का यह 'रोल' बहुत सराहा गया। इसमें एक तो उन्हें स्वयं खाड़िलकर जी से तालीम मिली थी, दूसरे अबतक वे रंगमंच के लिए काफी अभ्यस्त हो चुके थे। परंतु उनके इस यश का वास्तविक कारण यह था कि विश्वामित्र की भूमिका पं. विनायकराव जी के स्वभावानुकूल थी, इस नाटक में इस महर्षि के कठोर, कर्मठ, क्रोधी एवं तपस्वी व्यक्तित्व का चित्रण बहुत मार्के का हुआ है। विनायकराव जी के स्वभाव में ये चारों विशेषताएं उजागर थीं। परंतु उसमें मर्म की एक बात यह थी कि पंडित जी का यह जोश मेनका अप्सरा के प्रवेश तक ही टिकता था! खैर! 'कान्होपात्रा' नाटक में पं. विनायकराव जी ने विलासराव की भूमिका अदा की। यह एक भक्तिरसप्रधान नाटक है। 'कान्होपात्रा' मीराबाई के समान ही एक भक्तिन है। वह 'विट्ठल भगवान' को अपना पति मान लेती है। उसका लौकिक पति विलासराव उसकी इस भक्ति में पहले विरोधक और बाद में सहायक बन जाता है। इस नाटक के नायक के जो पद हैं, उनकी स्वररचना पं. विनायकराव जी ने ही की थी। उनके इन पदों की रसिकों द्वारा बड़ी सराहना हुई। इनमें से दो गीतों 'अशि नटे ही चारुता' (राग तिलंग), 'पति तो का नावडे' (राग पटदीप) को लोगों ने इतना पसंद किया था कि उन दिनों रास्ते पर या गुसलखाने में इन गीतों की दो-एक पंक्तियां गाकर रसिकजन उसका पुनःप्रत्यय पाये बिना चैन नहीं पाते थे।

संगीत–साधना की प्रतिबद्धता

इस प्रकार समय की गति के साथ पं. विनायकराव जी ने नाट्यक्षेत्र में भी अपना एक विशिष्ट स्थान जमा लिया। इसका श्रेय उनकी कर्मठता और जिद्दीपन को देना होगा। परंतु इतनी यशस्विता के बावजूद उन्होंने नाट्यक्षेत्र को अपना वास्तविक क्षेत्र कभी नहीं माना। नाटक मंडली में रहकर भी अपना धार्मिक और व्यायामविषयक नित्यक्रम तथा संगीत-साधना और संगीत–अध्यापन के अध्यवसाय से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र के संपूर्ण नाट्येतिहास में नाट्यक्षेत्र के अनेकविध प्रलोभनों से अपनेको अछूता रखनेवाला और अपनी संगीत–प्रतिबद्धता को निभानेवाला एक ही संगीत अभिनेता हुआ और वह पं. विनायकराव जी पटवर्धन ही थे।

स्वयं पंडित जी को अपनी इस तत्त्वनिष्ठा के बारे में समुचित अभिमान था और जरूरत पड़ने पर इस अभिमान का प्रदर्शन भी वे करते थे। इस संबंध में एक अत्यंत संस्मरणीय प्रसंग १९२४ के लगभग गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर के साथ घटित हुआ था। यद्यपि गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर जी ने अपने शिष्य को रंगमंच-प्रवेश की अनुज्ञा दी थी तो भी वे मन ही मन उनसे नाराज ही रहते थे। उन्हें बराबर यह दुख रहा करता कि जिस विनायक को मैंने इतने मनोयोग से तैयार किया उसने अपना गायन नाट्यक्षेत्र की भेंट करके विद्या के साथ विद्रोह किया है। फिर न जाने नाटक मंडली में उसके चालचलन पर कैसे विपरीत संस्कार हुए होंगे। इसी मनोदशा में उन्होंने अपने शिष्यों से कह रखा था कि गांधर्व महाविद्यालय में विनायक के लिए प्रवेश निषेध है। यदि वह मुझसे मिलने आए तो उसे प्रवेशद्वार से ही लौटा दिया जाए। विनायकराव जी के कानों तक यह बात पहुंचे बिना कैसे रहती? लेकिन वे जरा भी विचलित नहीं हुए और बम्बई जाने का संयोग हुआ तब गुरुमहोदय के दर्शनों के लिए उपस्थित हो गए। निचली मंजिल के कार्यालय में पं. ना. मो. खरे बैठे थे। खरे जी ने गुरुवर का आदेश उन्हें सुना दिया। विनायकराव जी ने उनकी बात पर ध्यान तक नहीं दिया और सीधे ऊपर की मंजिल पर पहुंच कर पंडित जी महाराज के सामने निर्भीक खड़े हो गए। गुरुदेव ने आग्नेय नेत्रों से शिष्य की ओर देखा लेकिन शिष्य ने उतने ही दृढ़ स्वर में गुरुवर से कहा– "मैं आपके आदेश का भंग करके यहां पहुंचा हूं। और आपको यह निवेदन करने आया हूं कि नाटक मंडली में रहकर भी मैंने एक भी काम ऐसा नहीं किया है जिससे आपको मेरे कारण लज्जित होना पड़े। न मैंने शराब को स्पर्श किया है न और किसी लत में फंसा हूं। मैं जैसा आपके चरणों में था वैसा ही वहां भी अनुशासनबद्ध रहा हूं। मेरी संगीत–साधना में थोड़ा भी व्यतिक्रम नहीं आने पाया है। फिर आपकी यह अवकृपा क्यों?"

अपने ज्येष्ठ शिष्य के स्वर में जो आत्मविश्वास और दृढ़ता थी वह उसकी आंखों से भी भलीभांति प्रकट हो रही थी। पंडित जी महाराज पूरी तरह आश्वस्त हो गए और शिष्य को अपने पास बिठा लिया। उसके बाद कई अवसरों पर इन गुरुशिष्यों ने संयुक्त रूप में कार्य भी संपन्न किये। ६ मई १९२८ को पंडित जी के सुपुत्र श्री. डी. वी. पलुस्कर के उपनयन–संस्कार में पं. विनायकराव जी उपस्थित रहे। इन्हीं दिनों पंडित जी के कानों पर पं. विनायकराव जी की लोकप्रियता के समाचार भी पहुंचते रहे। इससे प्रसन्न होकर पंडित जी ने एक पत्र अपने प्रिय शिष्य को लिखा (१९२६) और उसकी लोकप्रियता की प्रशंसा करते हुए यह सुझाव दिया कि चुने हुए नाट्यगीतों के नोटेशन पर आधारित एक पुस्तिका लिखो, जिससे नाट्यगीतों के माध्यम से जनता में अभिजात संगीत का प्रसार हो सकेगा। पं. विनायकराव जी ने

इस प्रस्ताव को तुरंत स्वीकार लिया और १९३० में 'नाट्यसंगीत प्रकाश भाग–१' पुस्तिका की ३००० प्रतियों का संस्करण प्रकाशित कर दिया। अपने शिष्यश्रेष्ठ की इस तत्परता से गुरुमहोदय को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। गुरुदेव के कोप का परिमार्जन हो जाने के बाद विनायकराव जी ने एक दिन उनसे प्रार्थना की कि आपकी यादगार के लिए आपकी कोई वस्तु प्रसादस्वरूप मुझे देंगे तो बड़ी कृपा होगी। प्रत्येक आदर्श गुरु औघड़दानी होता ही है। पंडित जी ने अपनी जरी की शाल अपने प्रिय शिष्य को प्रसादरूप में दे दी। यह घटना १६ जुलाई १९२८ की है। इस शाल को विनायकराव जी ने जीवनभर एक अतिमूल्यवान वस्तु के समान अपने पास संजोए रखा। संगीत–सभाओं में उस शाल को पहन कर ही वे उपस्थित हुआ करते थे। यह शाल मानो उनके लिए गुरु का वरदहस्त बनी।

प्रस्तुत संदर्भ में एक विशेष बात को रेखांकित करना आवश्यक है। पं. विनायकराव जी के बारे में बहुतों की ऐसी धारणा है कि उनके नाट्यक्षेत्र-प्रवेश के कारण पं. विष्णु दिगंबर के साथ उनके संबंध बहुत तन गए और अंततक नहीं सुधरे। परंतु उपर्युक्त घटनाओं को देखते हुए यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। और पं. विष्णु दिगंबर जी के उपर्युक्त पत्र के निम्नलिखित प्रशंसोद्‌गार इस तथ्य को अधिक प्रकाशित करते हैं। "मैं इस बात से बहुत आनंदित हूं कि मेरा एक शिष्य महाराष्ट्र की लोकप्रिय एवं विख्यात 'गंधर्व नाटक मंडली' में ऊंचे स्थान पर रहकर कीर्ति प्राप्त कर रहा है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि आप दिनोदिन इसी तरह विजयी बनें।"

'नाट्यसंगीत प्रकाश' लघुग्रंथ का प्रकाशन पं. विनायकराव जी के जीवन में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है, इसमें संदेह नहीं। इस ग्रंथ के निर्माण के पीछे उनके गुरुदेव की तथा उनकी एक विशेष दूरदृष्टि थी। उस काल में नाट्यसंगीत का आकर्षण जनता के बीच अति की सीमा तक पहुंचा था। यद्यपि पं. विष्णु दिगंबर इन नाटक-वालों को नीची निगाह से ही देखते थे तथापि शास्त्रीय संगीत पर आधारित नाट्य-गायन का उपयोग संगीत–प्रसार के लिए करवाकर उन्होंने उससे अपने संगीत–अभ्युत्थान के कार्य में लाभ ही उठा लिया। इस पुस्तक के 'नाट्यसंगीत प्रकाश' शीर्षक के साथ छपा है— 'पहली किरण' (मराठी में : किरण १ ले)। और उसके आगे– लेखक : संगीत चूडामणि, विनायक नारायण पटवर्धन, संगीत प्रवीण (गांधर्व महाविद्यालय, मुंबई), प्रमुख नट (गंधर्व नाटक मंडली)।

प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व इसलिए भी है कि यह पं. विनायकराव जी का पहला ग्रंथ था। उसके बाद १९३२ में 'महाराष्ट्र संगीत प्रकाश' पुस्तक उन्होंने लिखी और तत्पश्चात् पुस्तकों का एक लंबा सिलसिला चल पड़ा और उनके द्वारा संगीतक्षेत्र को सदा के लिए अपार लाभ प्राप्त हुआ। एक और विशेषता इस पुस्तक की यह रही

कि इसमें पं. विनायकरावजी ने 'गंधर्व नाटक मंडली' के अन्यान्य नाटकों के विविध रागों में निबद्ध चुने हुए गीत लिए थे और उनके आधार पर उस राग की जानकारी प्रस्तुत की थी। इसीके साथ उन्होंने उसी नाट्यगीत के ढंग पर रचा हुआ भक्तिभाव-परक दूसरा मराठी गीत भी दिया था। और उस नाट्यगीत के आकलनक्षेत्र को विकसित किया था। इस संपूर्ण प्रयत्न में उनके सामने यह दृष्टिकोण था कि महाराष्ट्र के संगीत अध्येताओं के लिए मराठी के गीतों के माध्यम से शास्त्रीय संगीत की शिक्षा पाना अधिक सुगम होगा और यही वह विचारबिंदु था जिसने आगे चलकर संगीत के मराठीकरण का आंदोलन चलाने की प्रेरणा पं. विनायकराव जी को दी, जिसके बहुत-से महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर अगले अध्याय में विचार करना है।

इसी कालखंड में २९ अक्तूबर १९२५ को पं. विनायकराव जी को पुत्रलाभ हुआ। नाम नारायण रखा गया। यही सुपुत्र आज 'प्रोफेसर पं. नारायणराव पटवर्धन' के नाम से संगीतक्षेत्र में ख्यातिप्राप्त है। इस नामकरण से विनायकराव जी के मन में बाल-गंधर्व के प्रति श्रद्धाभाव अभिव्यक्त होता है। बालगंधर्व का असली नाम नारायण ही था। कालांतर से १९ नवंबर १९२९ को विनायकराव जी के दूसरे पुत्र राम का जन्म हुआ। राम ने आगे चलकर संगीत-शिक्षक के नाते अपना करीअर बनाया। वे अपने पिता के साथ अनेक महफिलों में सहभागी हुए। परंतु युवावस्था में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

श्रीमान बालगंधर्व के बारे में पं. विनायकराव जी के मन में अपार भक्तिभाव था। वे हमेशा कहा करते थे कि जब मैं रास्ते पर था, तब आप ही ने मुझे सहारा देकर जीवन में खड़ा कर दिया। वे यह भी कहते कि मेरे व्यक्तित्व-गठन में इस गंधर्व का भी बड़ा हाथ है। उनके गायन पर वे इतने प्रसन्न थे कि उन्हें शापित गंधर्व कहते। बालगंधर्व भी उन्हें उतना ही प्रेम और आदर देते थे। उनके संगीत-स्वाध्याय, संगीत-प्रशिक्षण तथा उनके अनुशासन और व्यसनहीनता की वे प्रकट रूपसे दाद देते थे। नाटक के मंचित होते समय वुइंग में नटमंडली को चाय पिलाने की व्यवस्था रहती थी। पंडित जी तो चाय पीते नहीं थे। बालगंधर्व ने उनके लिए खास केशरमिश्रित दूध की व्यवस्था करायी थी। परंतु यद्यपि विनायकराव जी बालगंधर्व को बहुत आदर देते थे तथापि जब शास्त्रनिर्णय की बात उठती तब बालगंधर्व तो क्या किसीको भी क्षमा करने के पक्ष में वे नहीं थे। इसलिए संगीत के शास्त्रीय पक्ष से संबंधित एक परिचर्चा के सिलसिले में उनका एक लेख भी निकला था, जिसका शीर्षक था- "अजी गंधर्व-साहब, आप संगीतशास्त्र में निरक्षर हैं!" अस्तु।

नाट्यक्षेत्र के इस दशक में पं. विनायकराव जी ने १५ अगस्त १९२७ को आकाश-वाणी पर पहली बार आपना गायन प्रस्तुत किया। १० अगस्त १९२७ को नासिक में पी. डब्लू. डी. में उनका गायन हुआ तो उसके मानधन से चांदी का एक लोटा

खरीद कर उन्होंने मनुष्यस्वभाव के अनुसार एक साधारण गृहस्थ का आनंद भी प्राप्त कर लिया। ८ तथा ९ मार्च १९२६ को साबरमती में पं. विनायकरावजी को महात्मा गांधी की सायं प्रार्थना में दो भजन गाने का अवसर मिला। २४ मई १९२९ को पुणे में वसंत व्याख्यानमाला के अंतर्गत 'महाराष्ट्र संगीत की आवश्यकता' विषय पर पंडित जी ने सप्रयोग भाषण दिया। इस भाषण के साथ ही उन्होंने संगीत के क्षेत्र में एक नया आंदोलन छेड़ दिया। इस आंदोलन का अगले अध्याय में विस्तार से बयान होगा।

ये सभी घटनाएं इस बात की सूचक हैं कि पं. विनायकराव जी गंधर्व नाटक मंडली में रहते हुए भी अपने गृहीत कार्य के प्रति बराबर सक्रिय रूप में जागरूक थे। एक तो नाटक मंडली में पूरी तरह रममाण होने के अनुकूल उनकी स्वभाववृत्ति नहीं थी और दूसरी बात यह कि मंडली के कुछ व्यक्तियों के साथ उनका शीतयुद्ध-सा जारी हो गया था। इस शीतयुद्ध के अनेक कारणों में से एक कारण था विनायकराव जी का वेतन, जो मंडली के स्वामी बालगंधर्व ने रु. १६० तक बढ़ा दिया था। एक और कारण यह भी बताया जाता है कि मंडली में ग्वालियर घराने की ओर यों ही कुछ नीची निगाह से देखा जाता था और विनायकराव जी के लिए किसी प्रतिस्पर्धी गायक अभिनेता को खड़ा करके उन्हें थोड़ा चिंताग्रस्त करने का भी प्रयत्न हो रहा था। पंडित जी इन सभी बातों को देख और समझ तो रहे ही थे। परंतु वे स्वाभिमानी और सच्चे पुरुष थे। न पीठ पीछे किसीकी निंदा उन्हें सुहाती थी न मालिक लोगों की खुशामद करना उनके स्वभाव में बैठता था। वे अपनी राह चल रहे थे।

एक तरफ यह वातावरण था तो दूसरी तरफ नाटक मंडली के नये नाटकों में नायक का तथा संगीत-निर्देशक का दायित्व भी उन्हें सौंपा जा रहा था। 'विधिलिखित' नाटक में सर्वप्रथम नायक की भूमिका उन्होंने ही अदा की थी। १९३१ में नया 'कान्होपात्रा' नाटक मंडली के द्वारा प्रस्तुत हुआ। कृष्णभक्तिन वेश्यापुत्री कान्होपात्रा पर लिखा हुआ यह भक्तिरसप्रधान नाटक है। इसमें कान्होपात्रा के एक प्रेमी की याने नायक विलासराव की भूमिका विनायकराव जी ने अदा की थी और नाटक के दस पदों की स्वररचना थी। ये स्वररचनाएं रसिकमान्य हो गयी थीं और पंडित जी को विलासराव की भूमिका में देखने के लिए रसिक लोग अत्यंत उत्सुक हो गए थे।

परंतु इन सब खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरते हुए पंडित जी मन में दुखी अवश्य थे और किसी तरह इस क्षेत्र से हट जाने का विचार उनके अवचेतन मन में जोर मार रहा था। और इसी पृष्ठभूमि पर एक ऐसी घटना हो गयी कि पंडित जी को नाट्यक्षेत्र से संबंधविच्छेद करना ही पड़ा और उनका मानसिक संघर्ष एक तरह से शांत हो गया। इधर कुछ दिनों से गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर का स्वास्थ्य गिर रहा था और वे नासिक

में रुग्ण-शैया पर अपने दिन बिता रहे थे। पं. विनायकराव जी समय निकालकर उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हो गए। तब गुरुदेव ने शिष्य का हाथ पकड़कर साश्रु नयनों से कहा—"मैं अपना ध्येय अधूरा छोड़कर जा रहा हूं। उसे पूरा करनेवाला कोई शिष्य मुझे इस वक्त नजर नहीं आता।" पं. विनायकराव जी ने उसी क्षण गुरुदेव के चरणों का स्पर्श करके प्रतिज्ञा की थी—"आप निश्चिंत रहिए। मैं आपके संगीत-प्रसार के कार्य को भंग होने नहीं दूंगा। उसे पूरी शक्ति लगाकर आगे चलाऊंगा।" २१ अगस्त १९३१ को पं. विष्णु दिगंबर मिरज में स्वर्ग सिधार गए। संयोग ऐसा रहा कि पं. विनायकराव जी गुरु के अंतिम समय पर उपस्थित नहीं रह सके। किंतु समाचार मिलते ही हाथ का काम वहीं छोड़कर वे मिरज की ओर दौड़ पड़े। उन दिनों गंधर्व मंडली का डेरा बंबई में था। गुरुदेव के अंत्यसंस्कार में उपस्थित रहकर पंडित जी एक विशेष दृढ़निचय के साथ बंबई लौटे। अब तो उनके सामने सुनिश्चित ध्येय थे। एक यह कि पुणे जाकर वहां गांधर्व महाविद्यालय की शाखा खोलकर गुरुदेव के समान गुरुकुल पद्धति से संगीत-प्रसार का कार्य करना और दूसरा यह कि गुरुदेव के इकलौते पुत्र [जो उनकी नौ संतानों में से अकेले बचे थे] दत्तात्रेय ऊर्फ बापू (डी. वी.) को अपने साथ रखकर उसे परिपूर्ण संगीतशिक्षा प्रदान करना। इन दो उद्देश्यों का महत्त्व उनके निकट इतना था कि उसके सामने गंधर्व नाटक मंडली के प्रमुख अभिनेता का पद और उससे प्राप्त मान–प्रतिष्ठा तथा आर्थिक संपन्नता उनके लिए नगण्य थे।

पंडित जी लौट जाने की तैयारी में अपना बिस्तर वगैरह बांध रहे थे। 'विधिलिखित' नाटक के लेखक श्रीमान वसंत शांताराम देसाई वहीं पर थे। उनसे रहा न गया। यद्यपि देसाई जी मन ही मन पंडित जी की गुरुभक्ति की दाद दे रहे थे तथापि दूसरी ओर उन्हें उनके भावी योगक्षेम की भी चिंता हो रही थी। उन्होंने कहा, "विनायकराव, केवल गुरुभक्ति की भावना पर घर नहीं चल सकता।" तब एक क्षण का भी विलंब न करके पंडित जी बोल उठे–"रूखी रोटी खाकर जन्म बिताना पड़े तो भी मुझे परवाह नहीं, लेकिन गुरु जी को दिए हुए वचन का पालन करना ही होगा।" पंडित विनायकराव जी के ये तेजस्वी उदगार सुनकर देसाई साहब प्रभावित हो गए उन्होंने अपने नाट्यविषयक ग्रंथ में तथा विनायकराव जी पर लिखे लेखों में इस संस्मरणीय प्रसंग का बयान करके इन अमर उद्‌गारों को लिपिबद्ध कर दिया है।

नाट्यव्यवसाय में पं. विनायकराव जी एक तरह के अलिप्त भाव से ही रहे थे। मानो 'रहना नहिं देस बिराना है' के कबीर–वचन के आध्यात्मिक अर्थ को (यह संसार माया है, यहां हमें रहना नहीं है) लौकिक अर्थ में चरितार्थ कर रहे थे। इसलिए गंधर्व नाटक मंडली से विदा होते समय वे जरा भी विचलित नहीं हुए और पुणे में आकर मई १९३२ में

उन्होंने अपना 'गांधर्व महाविद्यालय' विधिवत् उद्‌घाटन-समारोह आदि के साथ आरंभ कर दिया। उनका यह निर्णय कितना साहसिक था, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। प्रतिमास की १५४/– की धनराशि मिलना (जो आज की दृष्टि से रु. ४,००० के बराबर थी) एकदम ठप हो गया था, पास में कोई पूंजी थी नहीं, विद्यालय चलेगा या नहीं, पर्याप्त संख्या में छात्र मिलेंगे या नहीं, इसका कुछ अनुमान नहीं था। परंतु ध्येयवादी महापुरुष ऐसी चिंताओं की परवाह कभी नहीं करते। उनके पास कार्य की सामर्थ्य रहती है। वे कदम आगे बढ़ा देते हैं। ऐसे पुरुषों के सामने नियति को ही झुकना पड़ता है और इनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। पंडित जी के बारे में ऐसा ही हुआ और उनका 'विद्यादान–महायज्ञ' जो १९३२ में आरंभ हुआ वह आखिरी सांस तक अद्‌भुत गतिमानता के साथ चलता रहा।

नाट्यव्यवसाय से संबंध टूट जाने पर भी अगले वर्षों में उस क्षेत्र के साथ विनायक-राव जी का संपर्क इस या उस बहाने बना ही रहा। इस संपर्क के बारे में बताने से पूर्व एक विशेष संयोग का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। बात यह हुई थी कि जिस वर्ष पंडित जी गंधर्व नाटक मंडली से और नाट्यव्यवसाय से अलग हो गए उसी वर्ष से महाराष्ट्र के संपूर्ण नाट्यव्यवसाय में एक भयानक गतिरोध उपस्थित होने लगा था। इसका प्रमुख कारण था चित्रपटों का आक्रमण। मराठी और हिंदी चित्रपटों ने सब रसिक दर्शकों को अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया था। इससे बड़ी बड़ी नाटक-मंडलियों की बुनियाद उखड़ने लगी थी। इसमें एक और घटना यह हो गयी कि स्वयं गंधर्व नाटक मंडली के स्वामी बालगंधर्व ने ही चित्रपट-व्यवसाय में प्रवेश किया (१९३३) और उनका संत एकनाथ के जीवन पर आधारित 'धर्मात्मा' चित्रपट निकला। आगे चलकर चित्रपट की नकली दुनिया में बालगंधर्व नहीं रम सके और उससे अलग हो गए, सो बात दूसरी है। किंतु इस घटना के बाद ढलती उम्र के कारण नाट्यव्यवसाय में भी उनका सिक्का उतना बुलंद नहीं रह सका। सारांश यह कि इस समूची पृष्ठभूमि पर पं. विनायकराव जी का अपनी ध्येयपूर्ति के लिए लिय हुआ निर्णय दूरदृष्टिपरक ही सिद्ध हुआ।

यद्यपि नाटकों के प्रदर्शनों की धूम कुछ मंद पड़ गयी थी, तथापि लोगों में पुराने संगीत नाटकों और बालगंधर्व के प्रति होनेवाला आकर्षण कम नहीं हुआ था। इसलिए नाटक कंपनी के नाम पर नहीं, किंतु कांट्रैक्ट के ढर्रे पर नाटकों के प्रदर्शन की एक पद्धति कुछ उत्साही लोगों ने शुरू की। सन १९४४ में बंबई में मराठी रंगमंच का एक बहुत बड़ा समारोह संपन्न हुआ और बालगंधर्व के नाटकों की मांग अचानक बढ़ गयी। फिर ठेकेदारों ने गंधर्व मंडली के पुराने नाटकों का पुनःप्रदर्शन धड़ल्ले के साथ करना आरंभ किया। इन नाट्यप्रयोगों को 'संयुक्त प्रयोग' नाम दिया गया। इन संयुक्त

प्रयोगों में पं. विनायकराव जी को अनेक बार भाग लेना पड़ा था और आनेवाले दिनों में कभी बालगंधर्व के साथ तो कभी महिला कलाकारों के साथ उन्होंने नायक की भूमिकाएं उसी पुराने उत्साह के साथ प्रस्तुत की थीं। गानहीरा हीराबाई बड़ौदेकर का किस्सा हम पहले देख ही चुके हैं। इन्हींके समान पहले सिने अभिनेत्री और बाद में रंगमंच की नायिका श्रीमती मीनाक्षी शिरोड़कर, श्रीमती विमल कर्नाटकी इत्यादि अभिनेत्रियों के साथ भी पंडित जी ने रंगमंच पर काम किया और न केवल यह बल्कि इनमें से कइयों को गायन और अभिनय का मार्गदर्शन भी किया। श्रीमती मीनाक्षी शिरोड़कर ने एक मराठी पत्रिका में इस बात का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख भी किया है। श्रीमान बालगंधर्व के प्रथम पुण्य दिवस (१९७१) के उपलक्ष्य में ‘ संशय कल्लोल ’ नाटक का प्रयोग प्रस्तुत हुआ था। उसमें पंडित जी ने उम्र की ७३ वीं अवस्था में नायक की भूमिका को किसी युवक की तरह निभाकर सबको चकित कर दिया था।

इतना सब रहते हुए भी यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि पं. विनायक-राव जी का नाट्यक्षेत्र से परवर्ती काल में जो संबंध बना रहा वह एक विवशता थी, पैदाइशी नाट्यकलाकार की दुर्दमनीय प्रेरणा नहीं। कभी स्वयं बालगंधर्व के अनुरोध पर तो कभी पुराने रसिक श्रोताओं के आग्रह पर उन्हें समय समय पर नाटकों में भाग लेना आवश्यक हो गया। यदि ऐसी मांग न आती तो वे भूलकर भी नाटकों की ओर न झांकते। इसका कारण यही था कि पंडित जी के सांगीतिक जीवनकाल में नाटक का यह ‘ प्रकरण ’ एक नाट्यप्रवेश की तरह ही आया था और समय की गति के साथ वह अपने आप तिरोहित हो गया। यह एक तरह से उनके जीवनप्रवाह का एक अंतराल था, अध्याय नहीं। उनके सांगीतिक जीवन के दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष थे—विद्यादान का महायज्ञ और संगीत सभाओं की विजययात्रा। आइए, अब अगले अध्यायों में हम इन्हीं दो आयामों का विस्तार से रसग्रहण करें।

४

विद्यादान का महायज्ञ

पंडित विनायकराव जी के जीवनपट पर दृष्टिपात करने पर उनके सांगीतिक व्यक्तित्व के दो पहलू स्पष्ट रूप से सामने आते हैं—औघड़ विद्यादानी और तेजस्वी महफिली गवैया। ये दो पहलू आपके व्यक्तित्व में इस कदर बुलंदी पर थे कि यह बताना कठिन होगा कि कौनसा एक पहलू दूसरे से अधिक बलवान था। रंगमंच से जिस संगीतमंच की ओर तत्परता से पं. विनायकराव जी उन्मुख हो गए थे उस संगीतमंच के ये दो आयाम उनके व्यक्तित्व में आद्योपान्त उजागर थे। हमने पिछले अध्याय में यह देखा कि गंधर्व नाटक मंडली में रहते हुए भी आप अन्यान्य संगीत-सभाओं में सहभागी होते ही रहे थे और उन दस वर्षों में उन्होंने जनार्दन मराठे और विष्णु घाग इन दो शिष्यों को अत्यंत नियमित रूप से और दक्षिणा की अपेक्षा न रखकर संगीत-विद्या प्रदान की थी। पंडित जी के ये दो गुणविशेष उनके जीवन के अंततक समान शक्ति के साथ प्रकट होते रहे। ये ही उनके सांगीतिक व्यक्तित्व के अंग थे। वही उनका जीवनोद्देश्य था। नाटक मंडली में उसपर एक प्रकार की पाबंदी आ गयी थी। इसलिए यद्यपि योगक्षेम उत्तम रीति से चल रहा था, तो भी कर्तव्य से दूर हटने की अपराध-भावना उन्हें बेचैन बनाए देती थी। वे मानो इस मोहमय चक्र से मुक्त होने की ताक में थे। इसीलिए गुरुदेव के देहांत का समाचार मिलते ही प्रतिक्षिप्त क्रिया की तरह उन्होंने अपना बिस्तर बांधा और सीधे पुणे पहुंच गये, इस निश्चय के साथ कि इस शहर में एक आदर्श संगीत महाविद्यालय खोला जाएगा, जो गुरुदेव के आदर्शों पर चलकर ही महाराष्ट्र तथा बाहर के संगीतसाधकों के लिए एक मार्गदर्शक केंद्र बनेगा।

पं. विनायकराव जी ने संगीत विद्यालय के लिए पुणे शहर चुना। वस्तुतः आप मिरज के बाशिंदे थे, 'पुण्यपत्तनवासी' नहीं। यहां उनके कोई रिश्तेदार भी नहीं थे।

परंतु इस शहर के सांस्कृतिक महत्त्व को उन्होंने पहचान लिया था। यह शहर महाराष्ट्र का एक सांस्कृतिक केंद्र रहा है। साहित्य, संगीत, ज्ञानोपासना, राजनीति इ. सभी क्षेत्रों में इस शहर ने न केवल महाराष्ट्र का बल्कि भारत का नेतृत्व किया है। यहां जो सांस्कृतिक कार्य आरंभ होता है, वह यहां के अनुकूल वातावरण के कारण भलीभांति पनपता है और पुणे से बाहरवाले क्षेत्रों में उसका अनुकरण होने लगता है। दूसरी बात यह है कि पुणे की भौगोलिक स्थिति महाराष्ट्र के अन्य शहरों तथा गांवों से विद्याप्राप्ति के लिए आनेवालों की दृष्टि से बहुत अनुकूल है और यहां की आबोहवा भी आम आदमी के स्वास्थ्य के लिए ठीक है।

गांधर्व महाविद्यालय, पुणे

यह सब जो विनायकराव जी ने सोच लिया वह तो ठीक ही किया और तदनुसार तत्परता से वे पुणे में दाखिल भी हो गए। परंतु पूर्वतैयारी के नाम पर सबकुछ कोरा ही था। न विद्यालय के लिए स्थान निश्चित हुआ था, न अध्यापक नियुक्त हुए थे, न वाद्यों की व्यवस्था थी, न पाठ्यपुस्तकें बनी थीं और न पाठ्यक्रम। किंतु पंडित जी इन कठिनाइयों से विचलित नहीं हुए। कुछ प्रयत्न के बाद उन्हें बीच शहरवाली एक अनुकूल जगह मिल गयी। पुणे में 'अप्पा बलवंत' चौक नाम से जो मध्यवर्ती स्थान है, ठीक उसी चौक में 'कन्हैयालाल बिल्डिंग' में एक दुमंजिली जगह विद्यालय के लिए मिल गयी और ८ मई १९३२ के मुहूर्त पर 'पुणे गांधर्व महाविद्यालय' का शुभारंभ हुआ। और यह शुभारंभ चुपके-चुपके नहीं, बल्कि पड़ोस के 'नूतन मराठी विद्यालय' के भव्य सभागृह में पुणे के लब्धप्रतिष्ठ नागरिक तथा दैनिक 'केसरी' के ज्येष्ठ संपादक साहित्यसम्राट् न. चिं. केलकर की अध्यक्षता में और शहर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों तथा संगीतप्रेमियों की उपस्थिति में बाजे-गाजे के साथ हुआ। उद्घाटन के इस कार्यक्रम में पंडित जी ने तथा उनके शिष्यों ने पटदीप राग में 'परम विमल तुझे चरण' इस भक्तिभाव की बंदिश का सामूहिक गायन किया, जिससे वातावरण संगीतमय बन गया। तत्पश्चात् स्वयं पंडित जी ने हिंदुस्थानी संगीत की महत्ता, उसके स्वरूप और उसके प्रसार के बारे में अपने विचार व्यक्त करके ऐसे विद्यालय की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए विद्यालय के स्वरूप के बारे में भी निवेदन किया था। उसके बाद अन्य वक्ताओं तथा अध्यक्ष के भाषण वगैरह हुए। और गांधर्व महाविद्यालय, पुणे का विधिवत् आरंभ हो गया।

यहां शुभारंभ की इस सभा के प्रयोजन को जानना आवश्यक है। पं. विष्णु दिगंबर का दृष्टिकोण यह था कि संगीत का प्रसार एक महान सांस्कृतिक कर्तव्य है और उसे तमाम नागरिकों की सहानुभूति तथा आश्रय मिलना चाहिए। वे खुद गायन सीखें या

नहीं, परंतु संगीत के महत्त्व और प्रसार के प्रति उनके मन में अनुकूलता जगनी चाहिए। इसके फलस्वरूप संगीत को अपना पुराना खोया हुआ गौरव प्राप्त हो सकेगा और संगीत सीखनेवालों की संख्या भी बढ़ेगी। धार्मिक अनुष्ठान में कहा जाता है— 'सर्वेषां अविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभेत्।' [सब के अविरोध से इस ब्रह्मकर्म का आरंभ हो जाए।] उद्‌घाटन के कार्यक्रम के बारे में पं. विनायकराव जी की यही दृष्टि थी।

विद्यालय की आरंभिक तैयारी स्वयं पंडित जी ने और उनके दो-चार शिष्यों ने मन लगाकर की। विद्यालय के लिए चार तानपूरे, दो हारमोनियम तथा कुछ दरियां खरीदी गयीं। दूसरी मंजिल पर कार्यालय के लिए एक कोना रखा गया, जहां विद्यालय के प्राचार्य पं. विनायकराव जी के बैठने की व्यवस्था थी। तीसरी मंजिल पर कक्षाएं चलती थीं। जगह का किराया भी कम नहीं था-महीना पचास रुपया, जो उस जमाने के हिसाब से काफी बढ़ा-चढ़ा था। विद्यालय में सिखाने का कार्य करने के लिए गंधर्व नाटक मंडली में प्रशिक्षित विनायकराव जी के दो शिष्य – श्री. विष्णु घाग और श्री. जनार्दन मराठे थे। इतनी कामचलाऊ तैयारी के साथ गांधर्व महाविद्यालय के प्रत्यक्ष कार्य का श्रीगणेश हुआ।

पं. विनायकराव जी ने अपने संगीतशिक्षा-केंद्र को 'महाविद्यालय' नाम दिया था। इसमें अपने गुरुदेव का केवल अंधानुकरण नहीं था, उसके पीछे एक व्यापक और उदात्त शैक्षिक दृष्टि थी। इस महाविद्यालय का स्वरूप केवल संगीत सिखाने तक मर्यादित रहनेवाला नहीं था। संगीतकला, संगीतविद्या, संगीतशास्त्र और संगीत-शिक्षा इन विविध पहलुओं का विकास साधने की इस महाविद्यालय की प्रतिज्ञा थी। पंडित जी की आकांक्षा थी कि संगीत महाविद्यालय में देश के सब तरफ से छात्र अध्ययनार्थ आएं और इन्हीं में से अनेक शिष्य आगे चलकर संगीत-प्रसार का कार्य करें। पंडित जी के इस नूतन संगीत महाविद्यालय की विशेषता यह थी कि उसमें धनोपार्जन का उद्देश्य नाममात्र ही था। उलटे विद्यालय को चलाते समय पंडित जी को अपने घरेलू जीवन पर कुछ अन्याय ही करना पड़ा। क्योंकि विद्यालय-भवन का किराया, अध्यापकों का वेतन और शिष्यों से मिलनेवाला अत्यल्प शुल्क (जो जानबूझकर अत्यल्प रखा गया था) इनका मेल बैठना शुरू के कुछ वर्षों में कठिनतर था। इस गतिरोध से मार्ग निकालने का एक ही उपाय पंडित जी के पास था। व्यक्तिगत संगीत महफिलों आदि से जो मानधन प्राप्त होता उसके द्वारा घर और विद्यालय के खर्च का संतुलन बिठाना। यह तो पंडित जी महाराज का ही आदर्श था और विनायकराव जी ने उसीका अनुसरण किया। और सौभाग्य की बात यह थी कि विनायकराव जी बहुत पहले से भारत की अन्यान्य संगीत-सभाओं और

परिषदों की ओर से सम्मानपूर्वक निमंत्रित किए जाते रहे थे। उत्तर से दक्षिण तक लगभग सभी महत्त्वपूर्ण संगीत कार्यक्रमों में वे सहभागी होते रहे। वहां से उन्हें मानधन मिलता था और एक स्थान पर गायन हो जाने के बाद आस-पास से और दो-तीन निमंत्रण प्राप्त होते। तथापि गंधर्व नाटक मंडली की नियमित आमदनी का आश्वासन यहां नहीं था। गौर करने की बात है कि नाटक मंडली में जो पंडित जी माहवार १६५ तक का वेतन पाते थे वे विद्यालय के स्वयं-अनुशासन के तत्त्व पर केवल ३० रु. उठाने के हकदार रह गए। इस भयानक अंतर की कल्पना से भी सामान्य ध्येयवादी के छक्के छूट सकते हैं। परंतु पंडित जी की बात ही न्यारी थी।

विद्यालय की अभिनवता

विद्यालय के आरंभिक दिनों में छात्रों की संख्या ३५ तक थी, जिसमें कुछ छात्राएं भी थीं। विद्यालय का यह एकदम आरंभिक काल था, तथापि उसके अनुशासन और विद्यादान की सचाई में कोई त्रुटि नहीं थी। यद्यपि पाठ्यपुस्तक, पाठ्यक्रम आदि के बारे में कुछ कठिनाई थी, तथापि गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर ने जो बुनियाद डाल दी थी उसपर विद्यालय के कार्य को चलाया जा सकता था और पं. विनायकराव जी ने वही किया। इसलिए आरंभ से ही विद्यालय का कार्य पक्की बुनियाद पर चलने लगा। विद्यालय के लिए एक और अनुकूल स्थिति यह थी कि १९३२ में पुणे जैसे बड़े शहर में संगीत की विधिवत् शिक्षा देनेवाले विद्यालय इने-गिने ही थे और जो थे उनके सामने वह व्यापक दृष्टिकोण नहीं था, जो पुणे के गांधर्व महाविद्यालय ने आरंभ से ही अपने सम्मुख रखा था और जिसका श्रेय लौट कर पं. विष्णु दिगंबर को ही देना होगा। इस दृष्टिकोण में दो-तीन तत्त्व प्रमुख थे। एक तो यह कि इस संगीत विद्यालय का उद्देश्य धनोपार्जन नहीं, बल्कि संगीतोपार्जन था। मतलब यह कि विद्यालय का यह उद्देश्य था कि यहां से विद्या प्राप्त करनेवाले शिष्यों में से कुछ शिष्य अपना जीवन संगीत-प्रसार के लिए अर्पण करनेवाले होंगे। दूसरा तत्त्व यह था कि यहां जो संगीत-शिक्षा दी जानेवाली थी उसमें शास्त्रशुद्धता और सांगीतिक प्रगति को लेकर अत्यंत जागरूकता बरती जाती थी। जबतक अमुक बंदिश, तान या पलटा शिष्य के कंठ से ठीक–ठीक न निकलता तबतक उसकी छुट्टी नहीं थी। तीसरी बात यह कि विद्यालय का ध्यान संगीत–शिक्षा के साथ ही साथ सदाचार–शिक्षा पर भी रहता था और यह सदाचार विद्यालय के वातावरण का एक अभिन्न अंग था। चौथी बात यह कि विद्यालय के प्राचार्य की कथनी और करनी में अद्‌भुत एकवाक्यता थी जिसका प्रभाव विद्यालय के समस्त कार्यों पर प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता ही था। पांचवीं एक व्यावहारिक बात यह थी कि विद्यालय का शुल्क बहुत कम याने ३ रु. से ७ रु. तक था। इससे संगीत सीखने की इच्छा रखनेवाले सभी स्तरों के छात्रों को विद्यालय में प्रवेश पाना सुलभ था।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण पुणे का यह गांधर्व महाविद्यालय चंद महीनों में ही लोकप्रिय हो गया। यहांतक कि किशोरवयीन छात्रों के साथ प्रौढ़ व्यक्ति भी संगीत सीखने की ओर आकृष्ट होने लगे। १९३२ की बात है। विद्यालय को आरंभ हुए ७-८ महीने बीत चुके थे। एक दिन पुणे से ४ मील स्थित खड़की उपनगर के रहने-वाले चार नौकरीपेशा प्रौढ़ व्यक्ति पं. विनायकराव जी से मिलने आए। उन्होंने स्मित-हास्य पूर्वक उनका स्वागत किया और आने का कारण पूछा। उन लोगों ने पंडित जी के पास निवेदन किया कि हम नौकरीवालों के लिए आप संगीत-शिक्षा की कोई व्यवस्था कीजिए। हम प्रौढ़ लोग छोटे शिष्यों के साथ बैठने में संकोच का अनुभव करते हैं। तब पंडित जी ने उनके लिए संध्या ५ से ६ का अलग समय निकालकर उनकी कक्षा शुरू करा दी। कुछ दिन बाद इन शिष्यों को यह महसूस हुआ कि सिखानेवाले अध्यापक तानपूरा मिलाने में तथा और कामों में ही ज्यादा समय गंवाते हैं, उन्होंने पंडित जी के पास जाकर शिकायत कर दी। पंडित जी ने उन्हें आश्वासन दिया और ४-५ दिन तक दरवाजे की ओट रहकर उस अध्यापक के कार्य का परीक्षण किया। एक दिन कक्षा समाप्त होनेपर उन्होंने अध्यापक को कड़े शब्दों में समझा दिया कि काम में इस प्रकार की शिथिलता कभी बर्दाश्त नहीं होगी। और फिर उन प्रौढ़ों की वह कक्षा ठीक राह पर चलने लगी।

एक और प्रसंग है, जिसमें पं. विनायकरावजी के विद्यालय को एक महान व्यक्ति के द्वारा प्रशस्तिपत्र प्राप्त हुआ। एक दिन श्री जनार्दन मराठे ५-६ छात्राओं की कक्षा ले रहे थे। अचानक एक दिव्य व्यक्तित्ववाले सज्जन वहां पधारे। वे साक्षात् बालगंधर्व थे। जनार्दन मराठे इन्हींकी गंधर्व मंडली में दस वर्षतक सेवा कर चुके थे। अपने पुराने स्वामी को देखते ही मराठे जी बहुत ही आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने आदरपूर्वक बालगंधर्व को आसनस्थ किया और छात्राओं से पूछा— "जानती हो ये महानुभाव कौन हैं?" लडकियां उन्हें कैसे पहचानतीं? हां, नाम अवश्य सुना था, क्योंकि यह नाम तो महाराष्ट्र के घर घर में रोज लिया जाता था। जब लड़कियों को पता चला तब वे एक तरह से घबरा ही गयीं। किंतु बालगंधर्व ने ही अत्यंत मीठे शब्दों में उन्हें आश्वस्त कर दिया और उपदेश के तौर पर यह संदेश दिया कि बहनो तुम लोग भाग्यवान हो कि पं. विष्णु दिगंबर परंपरा के हमारे विनायकराव जी के विद्यालय में संगीत सीख रही हो। ध्यान में रखो कि इस तरह का आदर्श शिक्षण तुम्हें यहीं पर मिलेगा, महाराष्ट्र में और कहीं भी नहीं मिल सकेगा।

इस प्रकार अपने आरंभिक वर्ष में ही गांधर्व महाविद्यालय ने समाज में अपना एक स्थान बना लिया था और दिनोदिन उसकी तरक्की हो रही थी। परंतु इसी बीच एक प्राकृतिक प्रकोप के कारण विद्यालय का कार्य कुछ दिनों के

लिए एकदम ठप हो गया और ३–४ महीनों के लिए विद्यालय में ताला ही लग गया। यह प्राकृतिक प्रकोप प्लेग का रूप लेकर आया था। यह वही प्लेग था, जिसने पं. विनायकराव जी के बचपन में उनके माता–पिता को छीन लिया था। प्लेग की भयानकता ऐसी थी कि उसके सामने सब के छक्के छूट जाते थे। विद्यालय में छात्रों का आना बंद हो गया। कल जिस व्यक्ति से रास्ते में नमस्ते-सलाम किया दूसरे दिन उसकी अर्थी देखने की बारी आने लगी। ऐसी दशा में पं. विनायकराव जी ने यही उचित समझा कि प्लेग के हट जाने तक विद्यालय को बंद ही रखा जाए। उन्होंने कुछ शिष्यों को विद्यालय की सफाई आदि पर ध्यान देने का आदेश देकर उनके पास चाभियां दे दीं और स्वयं पुणे के पास ५० कि. मी. पर स्थित वाई गांव में अपने श्वशुर श्री. मराठे के यहां जा ठहरे।

तीन महीनों में प्लेग हट गया और पं. विनायकराव जी वापस आ गए। तबतक उनके एक शिष्य श्री. गंगाधर पिंपळखरे, जो आज एक श्रेष्ठ संगीत गुरु की ख्याति पा चुके हैं, विद्यालय में झाड़ू लगाने और उसे ठीक रखने का काम निभाते रहे थे। श्री जनार्दन मराठे और श्री विष्णु घाग भी थे ही। पंडित जी आए और विद्यालय पूर्ववत् खुला। परंतु अबतक छात्र के नाम पर एक भी व्यक्ति आने को तैयार नहीं था। छात्र नहीं आएंगे तो फीस कैसे जमा होगी और फीस के अभाव में विद्यालय का किराया, अध्यापकों का वेतन कहां से देंगे? इसी चिंता में वे अपने शिष्यों से बात करते हुए बैठे थे कि डाकिए ने एक तार उनको थमा दिया। तार देखा और पंडित जी का मुख प्रफुल्लित हो गया। इलाहाबाद की संगीत–सभा का निमंत्रण था। संगीत-सभा का निमंत्रण याने पर्याप्त-सा मानधन, शिष्योंसमेत यात्राव्यय की व्यवस्था और एक महफिल के बाद दूसरी महफिल का संयोग और उससे धनलाभ। पंडित जी की पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि चलो विद्यालय के किराये आदि का सवाल हल हो गया। ध्यान रहे कि इस आर्थिक लाभ से अपने परिवार की अपेक्षा विद्यालय की सुविधा पर ही उनका ध्यान पहले गया। उन्होंने तुरंत श्री जनार्दन मराठे और विष्णु घाग को तारद्वारा स्वीकृति देने के लिए कहा और यात्रा की तैयारी में लग गए।

स्थान–परिवर्तन

इलाहाबाद के दौरे से पंडित जी जबतक लौटे तबतक पुणे शहर का वातावरण पूर्ववत् बन गया था। शिष्यगण भी अब विद्यालय में आने के लिए उत्सुक थे। और विद्यालय पुनश्च ठीक तरह चलने लगा। किंतु कुछ ही दिनों में एक कठिनाई यह पैदा हुई कि छात्रों की संख्या बढ़ने लगी और विद्यालय की जगह कम पड़ने लगी। पं. विनायकराव जी जगह की चिंता में पुणे में यहां-वहां पूछताछ करने में लगे रहे, परंतु

इसी बीच उनका पूर्वपुण्य उनकी सहायता के लिए आ गया और जगह का सवाल एक लमहे में हल हो गया।

हमने यह देखा है कि गंधर्व मंडली में रहते हुए पंडित जी अवसर मिलते ही इधर-उधर की संगीत–बैठकों में गायन प्रस्तुत करते थे। १९२६ में आपको कर्नाटकस्थित रियासत जमखिंडी से गणपति उत्सव में गायन प्रस्तुत करने के लिए निमंत्रण मिला। रियासत जमखिंडी के महाराजा शंकरराव पटवर्धन बड़े ही संगीतप्रेमी, गुणग्राहक और समाजसेवी महानुभाव थे। रियासत मिरज के साथ जमखिंडी का रिश्ता ही था। महाराज शंकरराव पटवर्धन ने जमखिंडी के गणपति उत्सव में पं. विनायकराव जी का तेजस्वी गायन सुना और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने पंडित जी से वचन ले लिया कि वे प्रतिवर्ष गणेशोत्सव में अपनी संगीतसेवा प्रस्तुत करने के लिए जमखिंडी आया करेंगे। पंडित जी में राजभक्ति और ईश्वरभक्ति दोनों कूट-कूट कर भरी थीं, उन्होंने तुरंत हामी भर दी और उनका रियासत जमखिंडी से एक निकट का नाता प्रस्थापित हो गया और यहां के गणेशोत्सव में गायन का उनका यह क्रम १९४६ तक जारी रहा।

इन्हीं जमखिंडीकर महाराज का एक विशाल भवन पुणे में कन्हैयालाल बिल्डिंग में स्थित गांधर्व महाविद्यालय से ५ मिनट के फासले पर स्थित था। विशाल आंगन और बारह कमरों से युक्त दुमंजिली इमारत। पं. विनायकराव जी ने जमखिंडी के महाराज के पास अपनी जगह की समस्या के बारे में बात छेड़ दी तो उन्होंने अपनी ओर से यह विशाल भवन गांधर्व महाविद्यालय के लिए केवल ९० रु. किराये पर देना स्वीकार कर दिया। यों देखा जाए तो विद्यालय को आरंभ हुए अभी एक वर्ष ही पूरा हो रहा था, और पहले से दुगुनी राशि किराये के लिए देने का सवाल था। किंतु पंडित जी पसोपेश में बिल्कुल नहीं पड़े और उन्होंने जमखिंडीकर महाराज की सारी शर्तें मंजूर कर लीं।

और इस प्रकार सन १९३४ की वर्षप्रतिपदा के दिन गांधर्व महाविद्यालय ने नूतन विशाल भवन में अपना कार्य चलाना आरंभ किया। यहां से लेकर गांधर्व महाविद्यालय ने अभूतपूर्व प्रगति कर ली, किंतु उसके संबंध में लिखने के पूर्व इस छोटे कालखंड के बीच हुई कुछ घटनाओं का जिक्र करना आवश्यक है। ८ मई १९३२ को विद्यालय का आरंभ हो जाने के बाद पं. विनायकराव जी को आर्थिक चिंता ने बेचैन कर दिया था। वे बराबर चिंतित रहते कि ध्येयपूर्ति तो करनी ही है किंतु धनाभाव में यह सब कैसे संभव है। एक रात को पं. विनायकराव जी को सपने में गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर के दर्शन हुए और दूसरे ही दिन उसकी फलश्रुति की प्रतीति भी उन्हें मिली। बंबई की एक फिल्म कंपनी के कुछ व्यक्ति उनसे मिलने आए

और उन्होंने पंडित जी के पास प्रस्ताव रखा कि आप हमारे एक चित्रपट में हीरो का काम करने के लिए स्वीकृति दीजिए। बात साफ है कि फिल्मवालों ने गंधर्व कंपनी के हीरो के नाते पं. विनायकराव जी की कीर्ति सुनी थी और गंधर्व नाटक मंडली के हीरो का नाम चित्रपट की सफलता की दृष्टि से उपयुक्त ही था। कैसा चमत्कार था! पं. विनायकराव जी ने अपनी स्वभाववृत्ति को किनारे रखकर गंधर्व नाटक मंडली में दस वर्ष तक काम निबाहा और उस संसार से संबंध-विच्छेद करके उन्होंने मनोयोग से अपना प्रिय कार्य आरंभ किया और यह दूसरा संकट एक धर्मसंकट बनकर उनके सामने खड़ा हो गया। धर्मसंकट इसलिए कि उन्हें उस समय अर्थसहाय की बड़ी जरूरत थी। और ध्यान रहे, यह अर्थसहाय परिवार के लिए नहीं, बल्कि विद्यालय के लिए आवश्यक था। अन्यथा नाटक से मुंह मोड़नेवाले पं. विनायकराव जी चित्रपट में काम करना कैसे स्वीकारते? परिस्थिति ही कुछ ऐसी उत्पन्न हुई कि उन्हें वह काम स्वीकारना ही पड़ा। उन्होंने दो शर्तें फिल्म के लोगों को बता दीं—एक यह कि मैं केवल शनि रवि ही आया करूंगा क्योंकि सोमवार से शुक्रवारतक मुझे विद्यालय चलाना है। और दूसरी यह कि मुझे रु. ३०० की राशि अग्रिम रूप में मिले। शर्तें मंजूर हो गयीं और उन ३०० रु. में से पंडित जी ने विद्यालय के लिए वाद्य वगैरह खरीद लिए।

चित्रपट में अभिनय

इंपीरियल फिल्म कंपनी ने पं. विनायकराव जी को हीरो बनाकर 'माधुरी' नामक चित्रपट का निर्माण किया। इस चित्रपट के संगीत के रिहर्सल के तौर पर पं. विनायक-राव जी ने 'बिरज में धूम रची है श्याम' यह बंदिश गाकर सुनायी थी। 'माधुरी' चित्रपट के अनुबंधपत्र आदि २६ जून १९३२ को निश्चित हो गए और २७ जून से पंडित जी का 'चित्रपट—अध्याय' आरंभ हो गया। उनके साथ नायिका के रूप में रुबी मायर्स उर्फ सुलोचना नामक अभिनेत्री को चुना गया था। महिला अभिनेता के साथ अभिनय प्रस्तुत करने का यह अनुभव पंडित जी के लिए कितना मुश्किल गुजरा होगा, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः चित्रपट का कुल अनुभव ही उनके लिए सुखद नहीं रहा। चित्रपट का वह स्टूडिओ, वहां का उच्छृंखल-उन्मुक्त वातावरण, दूसरों द्वारा पहने हुए कपड़े पहनना, एक एक दृश्य को टुकड़ों—टुकड़ों में चार—छः बार अभिनीत करना इत्यादि अनेक बातों से पंडित जी को इस काम के प्रति बेहद अरुचि महसूस होने लगी। उन्हें कंपनी के साथ 'आउट-डोअर' शूटिंग के लिए उदयपुर (राजस्थान) जाना पड़ा। वहां जंगल के दृश्य, जुलूस के दृश्य आदि का चित्रीकरण हुआ और वह भी बरसाती जुलाई महीने में। इस सिलसिले में एक दृश्य तो ऐसा था कि पंडित जी को एक भारी आदमी को उठाकर पुल पार

करने का काम करना था। यह उन्हें 'रिटेक' के तौर पर तीन बार करना पड़ा, जिससे वे काफी अर्सेतक कमर-दर्द से पीड़ित रहे।

आगे के दिनों में कभी कभी पुरानी घटनाओं का जिक्र निकलता तब पंडित जी अपने शिष्यों से कहा करते कि चित्रपटवालों ने मुझे पंद्रह सौ दिए, लेकिन पंद्रह हजार का काम मुझसे करवा लिया। लेकिन ये १५०० की राशि तब उनके लिए इतनी आवश्यक थी कि उसके वास्ते यह अत्यंत अप्रीतिकर काम उन्हें करना ही पड़ा। गांधर्व महाविद्यालय की आरंभिक व्यवस्था इस राशि के बिना हो ही नहीं सकती थी।

गुरुकुल पद्धति

जमखिंडीकर भवन में गांधर्व महाविद्यालय के स्थलांतर की घटना पं. विनायकराव जी की महत्त्वाकांक्षा के लिए बहुत ही अनुकूल रही। वे अपने महाविद्यालय को अपने गुरुदेव के अनुकरण पर गुरुकुल पद्धति से चलाना चाहते थे। इसमें केवल अंधानुकरण नहीं था बल्कि उसके पीछे एक व्यापक उदात्त शैक्षिक दृष्टि थी। संगीतकला, संगीतविद्या, संगीतशास्त्र, आदर्श सगीत शिक्षक बनने की साधना इत्यादि विविध पहलुओं का विकास साधने की इस महाविद्यालय की प्रतिज्ञा थी। पंडित जी की यह आकांक्षा थी कि मेरे महाविद्यालय में चौबीसों घंटे संगीतविद्या–दान और संगीतशास्त्र-चर्चा का कार्य चलता रहे। शिष्यगण के निवास की व्यवस्था विद्यालयभवन में ही हो। एक साथ अनेक विद्यार्थी इस विद्यालय का लाभ उठा सकें। इनमें से कुछ विद्यार्थी व्यावसायिक संगीतशिक्षक बनने के उद्देश्य से आएंगे। उन्हें विशेष गहन शिक्षा दी जाएगी। जो ऐसी बलवती इच्छा होते हुए भी धनाभाव के कारण अपना ध्येय पूरा नहीं कर पाएंगे उन्हें विना-शुल्क शिक्षा देनी होगी। ये ही शिष्य आगे चलकर संगीत-प्रसार का कार्य चलाएंगे। इन सारे ऊंचे उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिए विशाल भवन की आवश्यकता तीव्रता से महसूस हो रही थी और वह इस नूतन स्थलांतर से पूरी हुई।

परंतु इस विशाल भवन में स्थलांतर करते समय एक विशिष्ट आशंका के कारण पं. विनायकराव जी का चित्त कुछ समयतक विचलित हो गया था। बात यह थी कि जब उन्होंने विद्यालय के भावी व्यवस्थापन के दृष्टिकोण से जमखिंडीकर भवन का निरीक्षण किया तब न जाने क्यों उन्हें कुछ उदासी का अनुभव हुआ। और यदि थोड़ा तटस्थतापूर्वक देखा जाए तो उन्हें ऐसा प्रतीत होना एकदम अस्वाभाविक भी नहीं था। हो सकता है कि अपने दो कमरों वाले विद्यालय-स्थान की तुलना में पंडितजी ने इस विशाल भवन को देखा तब स्थान के उस अतिविस्तार के कारण एक अनाहूत दबाव उनके मन पर आया होगा। सामने फैले हुए विशाल आंगन के उस

पार तीन मंजिल वाला १२ कमरों से युक्त वह भवन खड़ा था। पुराने ढंग की इमारत होने के कारण वहां कमरों में प्रकाश की कमी थी। पंडित जी ने सोचा होगा कि ऐसे उदासी से युक्त वातावरण में मैं अपनी ध्येयपूर्ति कैसे कर पाऊंगा? परंतु कदम आगे बढ़ा ही दिया था। अब पीछे हटने की बात ही नहीं थी। इसी मानसिक पसोपेश की अवस्था में वे संगीत-प्रस्तुति के लिए बनारस गए। बनारस की महफिल पूरी करके वे पुणे लौटने के लिए स्टेशन पर पहुंचे किंतु गाड़ी चंद मिनट पहले ही जा चुकी थी। पंडित जी ने इस घटना का लाभ उठाया और काशी विश्वेश्वर के चरणों में अपनी संगीतसेवा प्रस्तुत की। उसके बाद वाराणसी में ही पंडित जी को भगवान विश्वेश्वर का दृष्टांत हुआ कि वह जगह तुम ले लो, वहां मेरा निवास है। पंडित जी मन ही मन बड़े आश्वस्त हुए। पुणे आने के बाद वे फिर एक बार जमखिंडीकर भवन देखने गए और वहां देखा तो पिछली तरफ शंकर का एक छोटा मंदिर था। इस पुनःप्रतीति के कारण पंडित जी का रहासहा संदेह भी मिट गया और विद्यालय की भावी कार्यवाही के काम में वे उत्साहपूर्वक लग गए।

इन घटनाओं पर आज तटस्थतापूर्वक विचार करने पर यह ध्यान में आता है कि पंडित जी की वह चिंता और उसका निराकरण आदि घटनाएं यद्यपि मन का खेल थीं, तथापि उसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा काम कर रही थी और वह थी कार्यनिष्ठा या कार्य के प्रति लगन। संगीतशिक्षा और संगीतप्रसार के लिए पं. विनायक-राव जी के मन में इतनी गहरी लगन थी कि उस कार्य के भावी यश के बारे में उनके मन के कोने में चिंता का भाव बराबर रहा करता था। यहां हमें कालिदास के वचन 'अति स्नेहः पापशंकी' का स्मरण हो आता है। जिसके प्रति हमारा प्रगाढ़ स्नेह रहता है उसीके बारे में हम बराबर चिंतित भी रहते हैं। संभवतः इसी मानसिकता के फलस्वरूप जमखिंडीकर भवन से संबंधित वह उदासी का भाव पंडित जी के मन में जगा होगा। अस्तु।

इसमें संदेह नहीं कि जमखिंडीकर भवन में गांधर्व महाविद्यालय का कारोबार भलीभांति जम गया। शिष्यों की संख्या जो कन्हैयालाल बिल्डिंग में ३५ तक थी वह यहां आ जाने पर दो वर्ष में १५० तक बढ़ गयी। प्रातः, अपराह्न तथा रात को त्रिकाल कक्षाएं चलने लगीं। न केवल पुणे शहर से बल्कि पुणे के बाहर से तथा महाराष्ट्र के बाहर से भी शिष्यगण विद्यालय में शिक्षा पाने के हेतु आने लगे। पंडित जी का अध्यापन-कौशल, उनकी लगन तथा उनका अनुशासन संगीत-अध्येताओं के आकर्षण का केंद्र था। एक भी शिष्य उनकी ओर से विद्याविमुख होकर नहीं गया। सभी संगीत अध्येताओं को पुणे का गांधर्व महाविद्यालय एक आश्रयदाता विशाल वटवृक्ष के समान लगता रहा। इस भावनिक परिस्थिति के कारण गांधर्व

महाविद्यालय १९३४ से लेकर ही एकदम गतिमान हो गया। पंडित जी का निवास-स्थान विद्यालय में ही था। अतः उनका मार्गदर्शन शिष्यों को हर समय मिल सकता था। और पंडित जी भी इस काम में अपेक्षा से अधिक उत्साही थे। विद्यालय की व्यवस्था के अनुसार एक साथ चार-चार परीक्षाओं की कक्षाएं चलती थीं- एक कमरे में प्रवेशिका, दूसरे में मध्यमा, फिर विशारद और फिर संगीतकुशल। इन सभी कक्षाओं का पर्यवेक्षण पंडित जी बराबर किया करते और अध्यापकों का योग्य मार्ग-दर्शन करके संगीतशिक्षा के कार्य को सुचारु रूप से चलवाते। यद्यपि केवल ज्येष्ठ कक्षाओं को पंडित जी की शिक्षा का लाभ मिलता था तथापि विद्यालय में उनका अधिष्ठान और बीच में होनेवाला उनका पर्यवेक्षण सबको प्रेरणादायक लगता था।

ग्रंथ लेखन-माला

जमखिंडीकर भवन में स्थानांतर करने के बाद पंडित जी ने नूतन संगीत पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया। आरंभिक वर्षों में 'बालसंगीत' भाग १ से चार तक की पुस्तकें तैयार हो गयीं और तत्पश्चात् प्रगत और गहन अध्ययन के लिए 'राग विज्ञान' के क्रमशः ६ भाग प्रकाशित होते गए। इन पाठ्यपुस्तकों के स्वरूप, उनके गठन और उनके निर्माण की कहानी अनेक दृष्टियों से उद्‌बोधक और प्रेरणादायक है। पंडित जी ने कार्यारंभ में बड़ी शीघ्रता से 'बालसंगीत' का आरंभिक भाग तैयार कर दिया जिससे संगीत-अध्यापन का आरंभिक मार्ग प्रशस्त हो गया। इन पुस्तकों के निर्माण के पीछे केवल सांगीतिक दृष्टि नहीं थी बल्कि शैक्षिक दृष्टि भी थी। शिक्षा का एक तत्त्व है ज्ञात से अज्ञात की ओर और सरल से कठिन की ओर गमन करना। 'बालसंगीत' में इस तत्त्व का अवलंब किया गया था। क्योंकि उसके प्रथम और द्वितीय भाग में मध्यलय के अत्यंत सरल गीत थे और ध्यान देने की बात यह कि ये गीत मराठी भाषा में रचित थे। इनमें बहुत-से गीत मराठी के नाट्यगीतों की तर्जों पर आधारित थे। इससे शुरू में संगीतशिक्षा पानेवाले छात्रों को एकदम अपरिचित क्षेत्र में कदम रखने का भय महसूस नहीं होता था। बालसंगीत का उद्देश्य था, आरोह-अवरोह, वादी-संवादी तथा रागांग की दृष्टि से अन्यान्य प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण रागों का परिचय करा देना। और सुगम और सुबोध मराठी गीतों के कारण इस ज्ञान के स्थिरीकरण के लिए काफी सहायता मिलती थी। इसके आगे की सीढ़ी पर हिंदी की कुछ पारंपरिक बंदिशें पढ़ाई जातीं, जो 'बालसंगीत' के चौथे भाग में संग्रहीत थीं। रागविज्ञान का प्रकाशन कालांतर से हुआ। अतः प्रगत संगीतशिक्षा का कार्य शुरू में गुरुमुख के आधारपर तथा पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर के ग्रंथों के आधार पर होने लगा। इन समस्त ग्रंथों में पं. विनायकराव जी ने स्वर-लिपि की अपनी विशिष्ट शैली का प्रयोग किया था, जो पूर्वपरंपरा की शैली से भिन्न और शिक्षा के लिए अधिक

सरल थी। उनकी इस स्वरलिपि-शैली को संगीत के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त हुई और आज भारत में इसीका उपयोग अधिक मात्रा में होता है।

गांधर्व महाविद्यालय में छात्रों की संख्या बढ़ने लगी और पंडित जी ने अपनी पूर्व-योजना के अनुसार इन छात्रों को दो वर्गों में बांट दिया — एक व्यावसायिक विद्यार्थी और दूसरे सामान्य विद्यार्थी। सामान्य शिष्य फीस देकर संगीत सीखने के लिए आते थे और वे 'सारेगम' से आरंभ करके परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद विद्यालय से अलग होते थे। कोई कोई तो बीच में ही विराम कर लेते थे। व्यावसायिक दृष्टिकोण से सीखने के लिए आनेवाले विद्यार्थियों में प्रायः सभी संगीत का थोड़ा बहुत पूर्वज्ञान रखते थे। ऐसे छात्रों को पंडित जी पहले अन्यान्य कक्षाओं में बैठने के लिए कहते। ऐसे छात्रों के लिए बालसंगीत के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भागों का अध्यापन एक ही वर्ष में पूरा कर लिया जाता था। ये कक्षाएं पढ़ाने का दायित्व पंडित जी ने अपने पहले बैच के शिष्यों को सौंप रखा था। इन अध्यापक शिष्यों में सर्वश्री मुकुंदराव गोखले, लक्ष्मण केळकर, डी. वी. पलुस्कर, केशवराव सोमण, जनार्दन मराठे और विष्णु घाग तथा पिंपळखरे इत्यादि का समावेश था। कक्षा में पहले राग का स्वरूपा समझाया जाता तथा गीत की स्वरलिपि सिखाने के बाद उस स्वरलिपि में गीत के अक्षरों को बिठाकर गीत सिखाया जाता। इससे छात्रों का ध्यान रागज्ञान और स्वर-ज्ञान पर अधिक मात्रा में केंद्रित रहता। वस्तुतः संगीतशिक्षा में बंदिशों का क्रमांक तो बाद में ही आना चाहिए। पहले राग और स्वर तथा स्वरपहचान पर अधिकार प्राप्त होना चाहिए। गीत को सिखाने के बाद उसके आलाप कंठस्थ करा लिए जाते, संपूर्ण अध्यापनक्रिया में ताल का भी ध्यान रखा जाता और प्रत्येक मात्रा के हिसाब से हाथ· द्वारा ताल देकर गाने के लिए कहा जाता।

'बालसंगीत' के तीन भागों का अध्ययन पूरा हो जाने पर छात्रों को २५ रागों क प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता था। इस अध्ययनक्रम में स्वाध्याय को भी स्थान दिया गया था। कक्षा के अतिरिक्त अन्य समय में प्रायः दो या तीन का गुट्ट बनाकर अभ्यास करना पड़ता। अभ्यास के समय एक छात्र गाता और दूसरा डग्गे पर ताल देता फिर इसी क्रम को उलटा कर पुनश्च अभ्यास चलता। गुरुवर पं. विनायकराव जी भी इन व्यावसायिक छात्रों से बराबर संपर्क बनाए रखते। अपनी सुविधानुसार वे कभी सबेरे तो कभी रात को उन्हें स्वयं दीक्षा देते। सिखाते समय वे कभी कोई बंदिश या कभी संपूर्ण राग ही पढ़ाने का क्रम बनाते। गायन में विशिष्ट उपज या स्वरावली अमुक ढंग से ही आनी चाहिए इसका वे बड़ा आग्रह रखते। यदि किसी छात्र को उस विशिष्ट स्वरावली को गाना न आता हो तो १०–१०, १५–१५ मिनट तक वही स्वरावली पुनःपुनः गाने के लिए कहा जाता। इन कक्षाओं में ४–५ छात्र रहते। यह

कक्षा कभी कभी तो २-३ घंटेतक भी चलती। प्रसंगतः इस लंबे समय में संगीत के सैद्धांतिक विषयों पर भी चर्चा होती।

अनुशासनबद्ध प्रशिक्षण

पंडित जी का दिनक्रम बहुत अनुशासनबद्ध रहता। सबेरे जल्दी जाग कर स्नान, संध्या, पूजाअर्चा, व्यायाम आदि से निबटकर आप प्रसन्नचित्त स्थिति में एक कमरे से दूसरे कमरे में घूम कर कक्षाओं का पर्यवेक्षण करते। किसी कक्षा में खड़ेखड़े ही एकाध बंदिश, कोई राग, तानों के प्रकार, आलाप इत्यादि सिखाते। उनका यह सिखाना एक तरह से अनौपचारिक रहता था किंतु उससे छात्रों का परम लाभ होता था। फिर इसी क्रम से वे और और कमरों में जाते और वहां भी संदर्भानुसार अपने गहन ज्ञान का लाभ छात्रों को देते। इस अनौपचारिक अध्यापन का क्रम सबेरे ९ से १२ तक चलता। इस तरह पं. विनायकराव जी ने अपने को संपूर्णतः विद्यालय के लिए समर्पित कर दिया था। विद्यालय के सिवा और कोई खयाल उनके मन को छूता तक नहीं था। जो क्रम सबेरे चलता वही रात्रि की विशिष्ट शिष्यों को दी जानेवाली दीक्षा तक अविकल रूप से जारी रहता। संगीत-शिक्षा में पंडित जी शिष्य की विशिष्ट अभिरुचि का भी खयाल रखते। जो शिष्य गायन की अपेक्षा वादन में रुचि रखते थे उन्हें वैसा प्रोत्साहन दिया जाता और वे उस वाद्य के वादन में प्रवीणता प्राप्त कर जाते थे। श्रीमान शंकरराव उर्फ काका कोल्हटकर (नागपुर) इसी प्रकार तबलावादन में तैयार हो गए। १९३४ में डी. वी. पलुसकर के साथ वे भी पुणे पहुंच गए। उसके पूर्व उन्होंने नासिक में और लाहौर में संगीतशिक्षा प्राप्त करने की कोशिश की थी। किंतु पुणे के गांधर्व महाविद्यालय में प्रवेश पाने के बाद उन्हें परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त हो सकी। उस समय गांधर्व महाविद्यालय में एक साथ ७-७ कक्षाएं चलतीं। सबेरे ५ बजे सबको जागना पड़ता। सबेरे उठकर व्यायाम करने का भी नियम था। कक्षस्थान को झाड़ू लगाकर साफ करने के बाद दरियां बिछायी जातीं। पंडित जी के लिए एक छोटा कालीन और तकिया रखा जाता और शिक्षा-कार्य आरंभ होता। ये कक्षाएं नौ बजे तक चलतीं। डी. वी. पलुसकर, मुकुंदराव गोखले, काका कोल्हटकर इत्यादि शिष्यगण भी कुछ कक्षाओं को पढ़ाते। पं. विनायकराव जी कक्षा के बाहर खड़े होकर उनके सिखाने पर ध्यान देते और जरूरत के अनुसार उन्हें हिदायतें भी देते। ये सामान्य कक्षाएं समाप्त हो जाने के बाद खास तालीम शुरू हो जाती। उस समय स्वयं पंडित जी ही सिखाते। तानपूरे और डग्गे के सहारे खयाल, तराना, भजन इत्यादि के प्रस्तुतीकरण की बारीकियां समझायी जातीं। पहले थोड़ी दुहराई ली जाती। फिर नया राग आरंभ होता। रागस्वरूप समझाने के बाद लक्षणादि पढ़ाया जाता। फिर स्वरलिपि के आधार पर बंदिश निकालने के लिए कहते। सभी शिष्यों को पूरी

तैयारी के साथ कक्षा में आना पड़ता। अगर गृहकार्य न किया हो तो उन्हें पंडित जी के क्रोध का भाजन होना पड़ता। संगीत-शिक्षा में पंडित जी शिष्य की तैयारी, स्वभाव और उसकी रुझान को ध्यान में रखकर तदनुसार सिखाते। काका कोल्हटकर का झुकाव तबले की ओर अधिक है यह देखकर उन्होंने उनको उसी पेशे में अग्रसर होने की प्रेरणा दी, जिससे गायन के साथ साथ वे तबले में तैयार हो गए और स्वयं पंडित जी की ही संगत करने लगे। इतना ही नहीं बल्कि पं. वामनराव पाध्ये, पं. ओंकारनाथ ठाकुर और पं. सवाई गंधर्व जैसे महान गायकों की भी साथ-संगत गुरुमहोदय के प्रोत्साहन से वे करने लगे। सारंगीवादक श्री मधुकर खाड़िलकर का भी यही अनुभव रहा। खाड़िलकर जी नागपुर से १९३४ में गांधर्व महाविद्यालय में दाखिल हुए। जब पं. विनायकराव जी नागपुर में थे तब इनके पिता के भोजनगृह में जाया करते थे। इस पूर्वपरिचय का लाभ खाड़िलकर जी को कई प्रकार से मिला। उन्हें फीस में रियायत मिली और गुरु की विशेष कृपादृष्टि भी मिली। पंडित जी ने देखा कि मधुकर गायन के साथ साथ दिलरुबा-वादन में दिलचस्पी लेता है। उन्होंने उनकी दिलरुबा-शिक्षा की व्यवस्था करा दी और वाद्यवादन में ही आगे बढ़ने का उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके बाद उन्होंने खाड़िलकर जी को सारंगी-वादन में तैयार करवाया। गांधर्व महाविद्यालय में तो सारंगी की व्यवस्था थी नहीं। किंतु उस समय पुणे में गंधर्व नाटक मंडली के विख्यात सारंगीवादक उस्ताद कादरबख्श के सुपुत्र मुहम्मद हुसेन खांसाहब ने अपनी गायन–वादन की क्लास चलायी थी। पंडित जी ने खाड़िलकर को वहां भेज दिया। जब खाड़िलकर सारंगी में तैयार हो गए तब पंडित जी उन्हें अपने साथ दौरे पर ले जाने लगे। हर कार्यक्रम का कुछ न कुछ मानधन वे अपने इस शिष्य को दे ही देते। मना करने पर भी न मानते। आज श्री मधुकर खाड़िलकर महाराष्ट्र के इनेगिने सारंगीवादकों में अपना नाम बनाए हुए हैं।

निरपेक्ष विद्यादान

पंडित जी की शिष्यवत्सलता ने और विद्यादान में उनकी लगन ने उनके प्रत्येक शिष्य को प्रभावित किया है। ऐसा कोई शिष्य नहीं, जिसे पंडित जी के इन गुणों का प्रसाद किसी न किसी रूप में न मिला हो। पं. विनयचंद्र जी मौद्गल्य १९३६ में पुणे के गांधर्व महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए। पंडित जी ने विनयचंद्र जी को अपनी खास शिक्षा देना आरंभ किया। वे नित्यनियम से प्रातःकालीन पूजा के लिए बैठते। पूजास्थान के बिलकुल पास ही उन्होंने विनयचंद्र जी के तथा आवश्यकतानुसार अन्य शिष्यों के रियाज का स्थान निश्चित कर दिया था। एक दिन की घटना है। पूरिया धनाश्री गाते समय कोमल ऋषभ के स्थान पर बार बार उनके कंठ से षड्ज ही निकल रहा था। तब पंडित जी की ऐसी डांट पड़ी कि आंखों में आंसू

निकल आए। उनकी गलती ठीक होने तक पंडित जी ने पूजा आरंभ नहीं की। यों विनयचंद्र जी एक साधनहीन शिष्य के रूप में ही पंडित जी के पास पहुंचे थे। वे पूरी फीस नहीं दे सकते थे। जब-तब वे फीस के बारे में पंडित जी से पूछते। एक दिन पंडित जी ने कह दिया— "सुनो, तुमसे मुझे फीस की अपेक्षा नहीं है। मैं जो 'रागविज्ञान' के ग्रंथ बना रहा हूं, उसमें मुझे तुम्हारी सहायता आवश्यक है। बस उसी को फीस समझ लो। हिंदी भाषा और साहित्य में विनयचंद्र जी की योग्यता को जानकर पंडित जी ने उनके द्वारा 'रागविज्ञान' के शास्त्रीय भाग को हिंदी में लिखने का दायित्व उन्हें सौंप दिया। उससे आनुषंगिक लाभ यह हुआ कि प्रचलित, अप्रचलित, मिश्र तथा अछोप – सभी प्रकार के रागों के बारे में चर्चा कर उस चर्चा को लेखबद्ध करने का सुअवसर उन्हें मिल सका। इतना ही नहीं बल्कि पंडित जी को अपनी खास उपज के अनुकूल नूतन बंदिशों को जुटाने का भी काम करना पड़ा था। पंडित जी ने विनयचंद्र जी को ऐसी कतिपय बंदिशों की पद्यरचना करने के लिए प्रोत्साहित किया और उल्लेखनीय यह है कि 'रागविज्ञान' में उन बंदिशों के साथ कवि के रूप में मौद्‌गल्य जी का नाम छापना वे नहीं भूले।

पंडित जी का विद्यादान कितना बुनियादी और सर्वव्यापक था इसका एक उदाहरण पं. विनयचंद्र जी के संदर्भ में मिलता है। उन्हींके आदेशानुसार दिल्ली में विनयचंद्र जी ने गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। संस्था का विधिवत् उद्‌घाटन १९४० में पंडित जी के ही शुभ हाथों हुआ। आगे १९६५ में विद्यालय के 'रजत जयंती समारोह' तथा राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसेन द्वारा विद्यालय भुवन के शिलान्यास के समारोह में भी वे आशीर्वाद देने उपस्थित थे। उस अवसर पर उन्होंने भवन-निर्माण के लिए रु. १००१/- देने की घोषणा कर दी। विनयचंद्र जी उस अप्रत्याशित महाप्रसाद से कितने प्रभावित हुए होंगे! उन्होंने निवेदन किया – "पंडित जी, मुझे आपने निःशुल्क सिखाया। आजतक मैं आपको कुछ भी नहीं दे पाया। भला, आपसे— " पंडित जी ने बात को काटकर कहा – "यह राशि तेरे लिए नहीं, तेरे कार्य के लिए दे रहा हूं। आगे चलकर और भी जितना बन पड़े, इसके लिए दूंगा।"

इसी सिलसिले में एक और संस्मरण बतलाने योग्य है। जब जब पंडित जी दिल्ली आते, विनयचंद्र जी के विद्यालय में ठहरते। एक बार ज्वराक्रांत होने के कारण विनयचंद्र जी कक्षाएं लेने की स्थिति में नहीं थे। तब पंडित जी ने लगातार घंटों तक सभी विद्यार्थियों को स्वयं सिखाया।

इस प्रकार पं. विनायकराव जी का विद्यादान अपने गुरुदेव के ही पद्‌चिह्नों पर अग्रसर होता रहा। इस विद्यादान के पीछे संगीत-प्रसार का उच्चतम ध्येय था। गुरुदक्षिणा, धनोपार्जन, मान-प्रतिष्ठा आदि बातें उनके सामने गौण थीं। पंडित जी ने

अनेक साधनहीन शिष्यों को मुक्तहस्त से संगीत-विद्या प्रदान की। और ये सभी शिष्य आज तक संगीत की सेवा में जुटे रहे हैं और गुरु के विशुद्ध विद्यादान का ऋण चुकाते रहे हैं। श्री प्रभाकर गोखले और पं. महादेवबुवा गंधे ऐसे ही पुराने शिष्यों में से हैं। श्री गोखले विद्यालय की पूरी फीस नहीं दे सकते थे, किंतु पंडित जी ने उन्हें पूरे प्रोत्साहन के साथ संगीत सिखाया। महादेव जी गंधे के पिता टोपी की दूकान चलाते थे। आमदनी अत्यंत सीमित थी। पंडित जी स्वयं महादेव जी के पिता से मिले। और कुछ भी शुल्क न लेकर इस शिष्य को विद्या प्रदान की। यही नहीं बल्कि समय समय पर कपड़ों के लिए पैसे देकर या अन्य किसी अड़चन के समय उनकी सहायता करके उनकी संगीत-साधना को निर्बाध रूप से चलवाते रहे।

पंडित जी के व्यक्तित्व में यह जो निरपेक्ष विद्यादान की ध्येयवादी दृष्टि एवं वृत्ति थी उसका एक दूसरा पक्ष भी उनके व्यक्तित्व में स्वभावतः बीच बीच में उदित होता था, जिसे हम उनके स्वभाव का स्वाभाविक परिपाक मान सकते हैं। उनके स्वभाव में मृदूनि कुसुमादपि के साथ साथ वज्रादपि कठोराणि का भाव भी विद्यमान था। यदि शिष्य में आलस्य और प्रयत्नाभाव देखते तो कभी कभी वे आपे से बाहर हो जाते और अपने को रोक ही न पाते। उनके एक शिष्य श्री काणे कुरुंदवाड़ से आये थे। कीर्तनकार के पुत्र थे, बहुत गरीब। किंतु पंडित जी ने उन्हें शिष्य बना लिया था। एक दिन की बात है। सबेरे नौ बजे काणे जी तानपूरा लेकर सीखने बैठे तो पंडित जी ने देखा कि पिछला पाठ याद नहीं है। बस, पंडित जी का क्रोध सीमा पार कर गया। उन्होंने उनसे बोलना ही बंद कर दिया। वे रोज आते, रियाज करते और चले जाते। पंडित जी से बात ही नहीं हो पाती। अंत में काणे जी की सहनशक्ति टूट गयी और उन्होंने गुरु के सामने साश्रु नयन होकर क्षमायाचना की। जब काणे जी अपना गृहकार्य ठीक ठीक करके आए तभी आगे का शिक्षाक्रम शुरू हो सका। पंडित जी के बारे में ऐसी अनेक घटनाएं उनके लगभग सभी शिष्यों ने अनुभव की हैं। किंतु इसके पीछे शिष्य के प्रति उनकी जो मंगलकामना थी उसको भी इन शिष्यों ने उतने ही प्रकर्ष के साथ अनुभव किया है।

महिला शिष्य वर्ग

पंडित जी के शिष्य-परिवार में पुरुषों के साथ कुछ महिलाएं भी सम्मीलित थीं। सन १९३४ के जमाने में भी पंडित जी ने कुछ खास छात्राओं को संगीत में तैयार कर दिया था और इसके साथ ही वे उन्हें लेकर उत्तर भारत की संगीत-सभाओं में उपस्थित हुए थे। इनमें से कुछेक शिष्याओं ने अपने संगीत विद्यालय खोले हैं और निरंतर संगीत-प्रसार के कार्य में जुटी हुई हैं। अकोला की श्रीमती शकुंतला जी

पळसोपकर इनमें से एक हैं। उन्होंने तो विदर्भ संगीत अकादमी की ही स्थापना कर दी है। पंडित जी ने श्रीमती शकुंतला जी को फीस वगैरा की कोई अपेक्षा न रखते हुए सिखाया। सबेरे ९ से १ तक तथा अपराह्न ४ से ६ तक उनकी कक्षा वे लेते थे। फिर सामान्य कक्षाओं में अपने पास बिठाकर विद्यादान का तरीका उन्हें समझा देते। संगीत अलंकार की कक्षा में श्रीमती पळसोपकर के प्रारंभिक संगीत गुरु श्री पोफळकर भी बैठते। इसी काल में पंडित जी की ख्यातिप्राप्त शिष्या श्रीमती सुनंदा पटनाईक भी उनके पास सीखने के लिए आयी थीं। उन्हें शासकीय छात्रवृत्ति मिली थी। एक बार उनकी कक्षा चल रही थी और श्रीमती पळसोपकर जीने की सीढ़ियों पर बैठकर सुन रही थीं। पंडित जी किसी कारण बाहर आए तो उन्हें देखा। फिर कहा – "अरी अंदर आके बैठो न। तुम सुनोगी तो क्या उसके सीखने में कमी आएगी?" श्रीमती पळसोपकर १९६१ से १९६८ तक पंडित जी के पास रहीं। उनके पिता जी ने पत्र लिखा– "कृपया अपनी कुछ फीस बताइए और शकू (शकुंतला) का गंडाबंधन करा दीजिए। पंडित जी ने दूसरे दिन शकुंतला को बताया– "मैं गंडा वगैरह तो बंधवाता नहीं। फीस की भी अपेक्षा नहीं। लेकिन मेरी गुरुदक्षिणा एक लाख की है। वह मुझे देनी ही पड़ेगी। सुनो, मैं तुम्हें अपनी बेटी मानकर सिखा रहा हूं। मैंने जो कुछ दिया उसे संभाल के रखो। उसमें वृद्धि करो और अच्छे अच्छे विद्यार्थियों को तैयार करो। बस यही मेरी गुरुदक्षिणा है।"

एक आदर्श संगीत गुरु की हैसियत से पं. विनायकराव जी का महिला वर्ग के प्रति अत्यंत पवित्र दृष्टिकोण था। यह भी कह सकते हैं कि उनका यह रवैया जरूरत से कुछ ज्यादा ही तीव्र था। किंतु इसका लाभ यह हुआ कि पचास–पचपन वर्ष पूर्व के उस जमाने में कतिपय शिष्याओं को उनसे विद्या प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि महिलाओं की स्वतंत्रता के बारे में महाराष्ट्र पहले से ही अग्रसर रहा है तथापि पचास वर्ष पूर्व की स्थिति फिर भी कुछ अनुदार ही थी। पंडित जी के विद्यालय में कन्याएं व महिलाएं सीखने आती थीं और पंडितजी स्वयं तथा उनके शिष्य कुछ छात्राओं के घर जाकर खानगी तौर पर पढ़ाने का कार्य करते थे। एक समय इलाहाबाद की एक संगीत कान्फरेन्स के आयोजकों की तरफ से पं. विनायक-राव जी के पास संदेश आया कि इसमें आपकी शिष्याओं का गायन रखा जाएगा। उस समय पंडित जी की ३ शिष्याएं तैयार थीं– इंदु सोहोनी, लीला लिमये और सीमा माविनकुर्वे। इन युवतियों के घर से भी इस कार्य में विरोध नहीं हुआ, क्योंकि उनका पं. विनायकराव जी पर नितांत विश्वास था। ये युवतियां इलाहाबाद गयीं और परिषद में अपना गायन प्रस्तुत करके भरपूर प्रशंसा भी उन्होंने पायी। तबसे इन तीन युवतियों को 'थ्री नाइटिंगेल्स' कहा जाने लगा। पुणे शहर में भी उन्होंने

अपने गायन से काफी अच्छा नाम कमाया था। श्रीमती सुनंदा पटनाईक को तो उड़िया के राजकोष से ही छात्रवृत्ति मिली थी। उन्होंने पंडित जी के मार्गदर्शन में अपनी खासी तरक्की कर ली और एक उत्कृष्ट गायिका के रूप में आज वे विख्यात हैं।

महिला वर्ग को संगीत सिखाते हुए पंडित जी उन्हें संगीत-प्रसार की भी प्रेरणा देते। अकोला की श्रीमती पळसोपकर का उल्लेख ऊपर आया ही है। पुणे में श्रीमती मंगला आपटे और लीला सरदेसाई (खरे) ने भी अपने अपने विद्यालय चलाए हैं। श्रीमती आपटे जब विद्यालय में थीं तब उन्हें डी. वी. पलुसकर सिखाते थे और बीच में पंडित जी का भी मार्गदर्शन उन्हें मिलता। संगीत की बुनियादी विद्या उन्हें वहां प्राप्त हुई। सभागायन का भी पर्याप्त अभ्यास हुआ। अन्यान्य शिक्षणसंस्थाओं में उन्होंने संगीतशिक्षा का कार्य किया और अपना विद्यालय भी खोला। श्रीमती लीला सरदेसाई ने अपना 'मनोहर संगीत विद्यालय' चलाया जिसका लाभ अबतक दो हजार से अधिक संगीतसाधकों को मिला है। उनके इस कार्य पर पं. विनायकराव जी का ध्यान बराबर रहा करता था और समय समय पर उन्हें वे बढ़ावा देते रहते। उनकी अनेक शिष्याओं में प्राध्यापिका श्रीमती कमल केतकर का नाम भी उल्लेखनीय है।

आदर्श संचालक

संगीत महाविद्यालय का संचालन किस आदर्श रीति से करना चाहिए इसका मूर्तिमान उदाहरण पं. विनायकराव जी के गांधर्व महाविद्यालय में मिल सकता था। पाठ्यपुस्तकें, अध्यापन-कक्षाएं, शिष्यों के रियाज के लिए विशेष व्यवस्था, सभागायन का अभ्यास, विद्वानों के भाषण, वार्षिक स्नेहसंमेलन इत्यादि अनेकविध शैक्षणिक कार्य महाविद्यालय में अनुशासनबद्ध रीति से चलता। शिक्षकगण एवं विशिष्ट संगीत सीखने-वाले विद्यार्थी विद्यालय में सुबह आठ से ग्यारह तक तथा दुपहर को तीन-साढ़ेचार तक रियाज करने के लिए अपनी अनुकूलता के अनुसार आ सकते थे। पंडित जी की यह तीव्र अभिलाषा रहती कि खास संगीत सीखनेवाले विद्यार्थी और शिक्षकगण आएं और मेरी उपस्थिति में विद्यालय में रियाज करें। कौन अनुपस्थित रहते हैं और रियाज नहीं करते इस बात का भी पंडित जी विशेष ध्यान रखते। इतना ही नहीं तो विना पूर्वसूचना के कोई अनुपस्थित रह जाए तो उसे वाक्ताड़न भी सुनना पड़ता।

भावी संगीत-शिक्षकों का निर्माण इस गांधर्व महाविद्यालय का एक महान कार्य रहा। ऐसे विशिष्ट संगीत-शिक्षकों को पंडित जी रात नौ बजे के बाद विद्यालय में बुलाते और उनको सिखाते। जो विद्यार्थी संगीत-शिक्षक बनने की योग्यता प्रकट करते उन्हें मानद वेतन देकर प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने का दायित्व सौंप दिया जाता। इस प्रकार संगीत शिक्षकों की एक नयी श्रेणी तैयार हो जाती। जो विद्यार्थी दूर गांवों

या शहरों से संगीत सीखने के लिए आते उनके ठहरने की भी सुविधा, यथासंभव विद्यालय में हो जाती।

विद्यालय में सभागायन का अभ्यास कराने के हेतु पाक्षिक संगीत-सभाओं का आयोजन रहता। इसमें प्रगत शिष्यों के साथ साथ गुरुजन भी सहभागी होते। कभी कभी पंडित जी स्वयं बैठते। और उनके साथ चार तानपूरे पर चार शिष्य उनकी संगत करते। एक तरफ श्री डी. वी. पलुसकर, दूसरी ओर श्री मुकुंदराव गोखले और उनके साथ श्री रामभाऊ चंदूरकर, श्री विठ्ठलराव घाटे मंचपर आसीन हो जाते। समय समय पर दूसरे शिष्य भी संगत के लिए बैठ जाते। इसीके साथ अन्य शिष्यगणों को भी इन पाक्षिक सभाओं में अपना गायन प्रस्तुत करना पड़ता। पाक्षिक संगीत-सभाओं के समान ही वार्षिक स्नेहसम्मेलन भी विद्यालय का एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था। और ध्यान देने की बात है कि उसका आयोजन भी संगीतशिक्षा के लिए सहायभूत होने की दृष्टि से ही किया जाता। सम्मेलन का आयोजन विद्यालय के निकटवर्ती एक माध्यमिक पाठशाला के विशाल भवन में हुआ करता। पिछले दिन विद्यालय के शिष्यों का गायन होता। उसमें वाद्यवृंद का एक कार्यक्रम निश्चित रूप से सम्मिलित रहता। वाद्यवृंद को पंडित जी ने काफी प्रोत्साहन दिया था और अपने गुरुदेव पंडित विष्णु दिगंबर की परिपाटी को आगे चलाया था। पंडित जी के एक प्रमुख शिष्य श्री टी. डी. जानोरीकर इस वाद्यवृंद में विशेष रस लेते, यहां तक कि आगे चलकर उन्होंने अपना एक वाद्यवृंद व्यावसायिक तौर पर चलाया। सम्मेलन के दूसरे दिन श्रेष्ठ गायकों के गायन का कार्यक्रम रहता। इसमें अन्यान्य घरानों की गायकी को सुनने का अवसर शिष्यों को मिलता। उदाहरणार्थ किराना घराने के गायक पं. सवाई गंधर्व, पं. बसवराज राजगुरु, सुरेशबाबू, जयपुर घराने के पं. मल्लिकार्जुन मन्सूर तथा मास्टर कृष्णराव इत्यादि श्रेष्ठ गायकों के कार्यक्रम इन सम्मेलनों में हुआ करते।

पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व में विद्यादान की यह जो विशेष सामर्थ्य थी उसमें चार चांद लगानेवाला एक और गुण भी विद्यमान था, जिसका प्रभाव उनके शिष्यों पर भी प्रकारांतर से पड़ता रहा। आप विद्यादान में जितने तत्पर थे, उतने ही विद्या-प्रेमी भी थे। संगीत-विद्या की अतल गहराइयों तक उन्होंने पैठ पायी थी। परंतु फिर भी नादब्रह्म तो अपार ही रहता है। अपने जीवनकाल में पंडित जी को समय समय पर संगीत के संबंध में नए तथ्यों के दर्शन होते थे। अपने स्वभावानुसार वे इन तथ्यों को एकदम से स्वीकार नहीं करते थे। किंतु जब पर्याप्त चिंतन के बाद उन्हें तथ्यों के प्रति विश्वास हो जाता तब वे खुले मन से उनका स्वागत करते। उनके सुपुत्र और आज के संगीत प्रोफेसर पं. नारायणराव जी नागपुर में आकाशवाणी पर प्रोडयूसर

थे। यह लगभग १९५५ की बात है। पंडित जी नागपुर गए थे। सबेरे का समय था। नारायणराव किसी छात्र को भैरव-बहार सिखा रहे थे। नारायणराव जी ने उस राग की बंदिश में जहां मूल स्वरूप 'सा नी ध प ग म रे' था वहां उन्होंने 'सा ध नी प म' यों परिवर्तन किया। पंडित जी ने नारायण से पूछा- "आजकल राग-विज्ञान पढ़ते नहीं हो शायद।" तब नारायणराव जी ने उन्हें 'ये मेरी बसंत' की बंदिश गाकर सुनायी। पंडित जी ने चिंतन किया और बोले "पहला आनंद तो नहीं आता, किंतु भैरव जरूर झलकता है। राग की दृष्टि से तुम्हारी यह उद्भावना मुझे स्वीकार है।" ऐसी ही घटना 'नंद-केदार' राग के बारे में है। नारायणराव जी ने वाद्यवृंद के लिए एक धुन बनायी थी, जिसमें नंद और केदार का मेल था। मूलतः नंद राग में धुन के स्वर यों थे- 'ग म ध प रे सा, ग ग म।' नारायणराव जी ने उसमें परिवर्तन करके 'ग म ध प रे सा म प प' किया और उसके आगे जोड़ दिया- 'प ध नी म ध म प सा म प।' पंडित जी ने यह धुन सुनी और उन्होंने उसकी नवीनता की दाद देते हुए कहा-"इसके उत्तरांग को ठोस मत रहने दो, उसमें कुछ छूट रख दो।" पिता-पुत्र की यह सारी चर्चा खाने के टेबुल पर हो रही थी। इतने में गाड़ी का समय हो गया। दो महीनों के बाद पुणे से नारायणराव जी को पत्र मिला "तुम्हारी कल्पना के अनुसार मैंने दो बंदिशें बिठा दी हैं। और 'राग-विज्ञान' में इस राग का अंतर्भाव करने की सोच रहा हूं।"

पंडित जी के विद्यानुराग के पीछे अपनी प्रगति के उद्देश्य के साथ ही साथ शिष्यों के विकास की दृष्टि भी रहा करती थी। इस संदर्भ में उनके जीवन की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना का बयान करना आवश्यक है। इस घटना ने १९३३ के आसपास महाराष्ट्र के संगीतक्षेत्र में काफी हलचल मचा दी थी और पंडित जी को अपने गुरु-बंधुओं की कठोर टीका-टिप्पणी भी सहनी पड़ी थी।

पं. विनायकराव जी ने अपनी प्रदीर्घ तपस्या के उपरांत भी गायनाचार्य रामकृष्ण-बुवा वझे जी का गंडा बंधवा लिया और अपने को खुले तौर पर उनका गंडाबंध शिष्य घोषित कर लिया। यहां यह ध्यान देना चाहिए कि उक्त विशेष उपक्रम के पीछे पंडित जी का विशुद्ध विद्यात्मक दृष्टिकोण था। उन दिनों महाराष्ट्र में बुजुर्ग गायकों की नामावलि में पं. रामकृष्णबुवा वझे का नाम बहुत ऊंचा था। पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि किस तरह अपार कष्ट उठाते हुए उन्होंने ग्वालियर में रहकर विद्या ग्रहण की थी। पं. वझेबुवा के पास अनूठे रागों का और पारंपरिक बंदिशों का ज्ञान अत्यंत विपुल था। वे खुद कहा करते थे कि मेरे पास तीन हजार बंदिशों का खजाना है। यद्यपि वे थे तो ग्वालियर घराने के ही गायक, तथापि उन्होंने और और उस्तादों और गुरुओं से किसी निपट लालची की तरह रागों और बंदिशों का ज्ञान

प्राप्त कर लिया था। उन्हें इस बात का खेद रहता था कि मेरे पास इतनी विद्या है, किंतु इसे लेनेवाला कोई योग्य शिष्य नहीं मिल रहा है। वे सब लोग अपने अपने मर्यादित ज्ञान पर ही अपनी गाड़ी हांक रहे हैं। एक अवसर पर किसी छोटी महफिल में पं. वझेबुवा गा रहे थे, जिसमें पं. विनायकराव जी भी उपस्थित थे। गाते गाते रुक गए और उन्होंने अपना यह दुख प्रकट रूप से सबको बताते हुए कहा कि किसीमें यह विद्या लेने की योग्यता ही नहीं है तो क्या किया जाए। पं. विनायकराव जी ने इस चुनौती को स्वीकार किया। चुनौती से भिड़ना उनका जन्मजात स्वभाव था। वे तपाक से खड़े हो गए और कहा– "गुरुदेव, मैं आपके पास से अपनी सारी विद्या ग्रहण करने के लिए तैयार हूं। क्या आप मुझे सिखाना स्वीकार करेंगे?" बात इतने पर ही नहीं रुकी। पं. वझेबुवा ने भी उतनी ही तत्परता से कहा–"मुझसे विद्या ग्रहण करनी हो तो मेरा गंडा बंधवाना होगा।" पं. विनायकराव जी उसके लिए भी तैयार हो गए और उन्होंने पुरानी परिपाटी की तरह पं. वझेबुवा का गंडा भी बांध लिया और उनके गंडाबंध शिष्य हो लिए।

यह कोई सामान्य घटना नहीं थी। महामहिम पं. विष्णु दिगंबर के खास शिष्योत्तम की कृति थी। पं. वझेबुवा के शिष्यगण बहुत ही प्रसन्न हो गए। उन्हें इसमें अपने गुरु की विजय दिखायी दी। ये शिष्यगण खासकर ललितकलादर्श नाटक कंपनी के अभिनेता गण थे। उन दिनों संगीत रंगमंच के साथ बुजुर्ग गायकों का संबंध जुड़ा हुआ रहता था। जैसे गंधर्व नाटक मंडली के साथ पं. भास्करबुवा बखले का संबंध था वैसे ही ललित कलादर्श मंडली के साथ पं. रामकृष्णबुवा वझे का। गंडाबंधन की यह घटना १९३३ की है जब पं. विनायकराव जी का गांधर्व महाविद्यालय पुणे के कन्हैया-लाल महल में चल रहा था और उसे आरंभ हुए केवल एक ही वर्ष बीत चुका था।

यह तो सर्वविदित है कि गंडाबंधन का अनुष्ठान अनेक गुनिजनों और प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में समारोहपूर्वक हुआ करता है। परंतु पं. विनायकराव जी ने पं. वझेबुवा से प्रार्थना की कि मैं गंडाबंधन समारोहपूर्वक नहीं कराऊंगा। आपको जो संस्कार–विधि संपन्न करनी है उसे मैं अकेले में करा लेना चाहता हूं। पं. वझेबुवा उदारहृदय थे। उन्होंने इसे स्वीकार किया। इसके अनुसार गांधर्व महाविद्यालय की पहली मंजिल पर गंडाबंधन का कार्य संपन्न हुआ। उस समय गंडाबंधन के बाद होनेवाले गायन को सुनने के लिए और पं. विनायकराव जी को पं. वझेबुवा के पीछे तानपूरे पर बैठे हुए देखकर मन ही मन उसका विकृत आनंद पाने की इच्छा रखनेवाले बहुत–से सज्जन उपस्थित थे। गायन का कार्यक्रम दूसरी मंजिल वाले दीवानखाने में होनेवाला था। ये सब लोग वहां प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। इधर पं. विनायकराव जी ने अपने नूतन गुरुदेव से कहा– "क्षमा कीजिए, मैं आपके

पीछे तानपूरे पर नहीं बैठूंगा।" पं. वझेबुवा ने उसे भी मान लिया। और गंडाबंधन के बाद उनका जो गायन हुआ उसे सुनने के लिए पं. विनायकराव जी सामने श्रोताओं में बैठ गए।

अब सोचने की बात है कि पं. विनायकराव जी ने यह साहस किस हेतु से किया? इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है और वह है विद्यालाभ। ग्वालियर घराने की शिक्षाद्वारा पंड़ित जी को जो विद्या प्राप्त हुई थी उसमें अनूठे और अछोप रागों और बंदिशों की कमी उन्हें बराबर महसूस होती रहती। संगीत महाविद्यालय चलाना हो तो संचालक के पास विद्या का भरपूर संग्रह रहना चाहिए। इस सुप्त इच्छा की परिपूर्ति का अवसर उपर्युक्त घटना द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने लाभ के लिए उसका उपयोग करने का निश्चय किया। पं. विनायकराव जी को शिष्य बना लेने के कारण पं. वझेबुवा गांधर्व महाविद्यालय के स्थान पर आया करते और नये रागों और बंदिशों की तालीम अपने इस स्वयंसिद्ध शिष्य को दिया करते। यह सिल-सिला बहुत दिनों तक तो नहीं चला किंतु फिर भी इस काल में पं. विनायकराव जी के पास कुछ नए रागों का संग्रह अवश्य हो गया, जिनमें मालतीवसंत, बंकार, भटियार, खट, नंद, देसी, जयंत मलार आदि उल्लेखनीय हैं।

इस महत्त्वपूर्ण गंडाबंधन प्रसंग ने संगीत के क्षेत्र में जो हलचल मचा दी वह भी कुछ कम नहीं थी। परंतु पं. विनायकराव जी का दृष्टिकोण विशुद्ध विद्यासाधना का होने के कारण वे निश्चिंत थे। इन्हीं दिनों पं. ओंकारनाथ ठाकुर पुणे पधारे। इस घटना के कारण वे काफी विचलित हो गए थे। वे सीधे पं. वझेबुवा से मिलने गए। उनके साथ पं. विनायकराव जी तथा और भी कुछ शिष्य थे। पं. वझेबुवा उस समय ललित कलादर्श नाटक मंडली के साथ रहते थे। वहां ये सारे सज्जन उपस्थित हो गए. पं. ओंकारनाथ जी ने कुछ कठोर शब्दों में ही पं. वझेबुवा को टोका कि आपने यह क्या नया कांड आरंभ कर दिया। क्या आप पं. विष्णु दिगंबर के महान शिष्य को संगीतविद्या में पिछड़ा हुआ समझते हैं? पं. वझेबुवा ने उनकी बात शांति से सुन ली और कहा कि मैं बहसवाला आदमी नहीं हूं। करके दिखाना मेरा स्वभाव है। उन्होंने तुरंत तानपूरे निकाले और गाने के लिए बैठ गये। कोई एकदम अपरिचित राग उन्होंने प्रस्तुत कर दिया। गाना समाप्त हुआ और उन्होंने ओंकारनाथ जी से पूछा "बताइए इस राग का नाम और कीजिए उसके स्वरूप का विश्लेषण।" पं. ओंकारनाथ मौन हो गए। सारांश, नादब्रह्म अपार की इस अनुभूति के कारण ही पं. विनायकराव जी इस गंडाबंधन के लिए प्रवृत्त हुए। इसी सिलसिले में एक दूसरा प्रसंग कथनीय है। एक बार गणपति उत्सव में संगीत की महफिल हुई, जिसमें पं. रामकृष्णबुवा वझे और उनके शिष्यों का गायन था। शुरू में पं. वझेबुवा के शिष्य और ललित कलादर्श

संगीत नाटक मंडली के एक श्रेष्ठ अभिनेता का गायन हुआ और उसके बाद पं. विनायकराव जी का। उस संगीत अभिनेता का गायन एक तरह से रंगमंचीय ही रहा और पं. विनायकराव जी के गायन के जौहर बहुत अच्छी तरह प्रकट हुए। उस भरी सभा में पं. वझेबुवा ने जाहिर तौर पर कह दिया कि आज हमारा पुराना शिष्य एकदम 'फेल' हो गया। विनायकराव ही श्रेष्ठ गायक हैं इसमें संदेह नहीं। अस्तु।

गांधर्व महाविद्यालय का एक और गुण था वहां का अनुशासन। पंडित जी शिष्यों के व्यक्तिगत आचरण पर कड़ी निगाह रखते और इस मामले में बड़ेबड़ों की भी परवाह नहीं करते। एक बार विख्यात नर्तक पं. उदयशंकर का पुणे में आगमन हुआ। गांधर्व महाविद्यालय का नाम और कीर्ति उन्होंने अवश्य सुनी थी। उन्होंने विद्यालय देखने की इच्छा प्रकट की। पंडित जी ने उनका हार्दिक स्वागत किया। गायन की एक छोटी-सी बैठक उनके लिए आयोजित की गयी। पं. उदयशंकर अपने सब साथियों के साथ पधारे। कुछ समय बीतने पर उनमें से एक व्यक्ति ने सिगरेट जलाकर पीना शुरू किया। पंडित जी ने तुरंत गायन को रोक लिया और निःसंदिग्ध शैली में सूचित किया कि यह विद्यालय एक पवित्र मंदिर है। यहां धूम्रपान नहीं किया जा सकता। पं. उदयशंकर ने पंडित जी की बात को आदरपूर्वक स्वीकार किया। सिगरेट बुझायी गयी तब आगे का गायन जारी रहा।

विद्यालय के अनुशासन की विशेषता यह थी कि वहां पर वह ऊपर से थोपा हुआ नहीं था। वह वहां के वातावरण का एक अभिन्न अंग था। इसका प्रमुख कारण यह था कि स्वयं विनायकराव जी की कथनी और करनी में एकवाक्यता थी। रियाज न करने के कारण वे शिष्यों को फटकारते थे तो स्वयं नियमित रूप से रियाज करते थे। ईमानदारी, सचाई, निर्व्यसनता, सफाई और मन की पवित्रता के वे स्वयं ही मूर्तिमान उदाहरण थे। उनके इन गुणों की धाक ही मानो शिष्यों में बंध जाती थी। इसके साथ एक और बात थी जो शिष्यों को उनके सामने विनम्र बना देती थी और वह थी विद्यादान में उनका उत्साह, निरपेक्षता और ध्येयवादी दृष्टि। उन्होंने विद्या कभी चुराकर अपने पास नहीं रखी बल्कि अपनी तपस्या से उसे और वृद्धिंगत करके उस समूची विद्या का दान उन्होंने समस्त संगीत-जगत् को करा दिया। अपने इस अनोखे दान से वे सामान्य विद्यागुरुओं से बढ़कर ऋषि की श्रेणी पर पहुंच गए। उनका यह जो कार्य था वह है उनकी संगीत ग्रंथ माला।

संगीत पर ग्रंथ सैकड़ों की संख्या में लिखे गए हैं, किंतु यह तब की बात है जब इस क्षेत्र में व्यापक दृष्टिवाले और शिक्षणोपयोगी ग्रंथों का एक तरह से अभाव ही था। पं. भातखंडे जी की 'हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' ६ भागों में उपलब्ध थी। परंतु उसका दृष्टिकोण सैद्धांतिक अधिक था, शैक्षणिक कम। शिक्षा का भी अपना एक शास्त्र होता

है। शिक्षा ग्रहण करनेवाला उस विद्या को तभी ग्रहण कर सकता है जब उसे समझाकर उसके सामने प्रस्तुत किया जाए। संगीत की पुस्तकों में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है– (१) राग परिचय, (२) रागांग परिचय, (३) राग लक्षण गीत, (४) उस राग की कम से कम ५ बंदिशें (५) उन बंदिशों का आलाप, बोल आलाप आदि दृष्टियों से स्वरलिपियुक्त विस्तार। (६) किसी प्रकार के संदेह-स्थल को न रखते हुए राग-परिचय संपूर्ण रूप से प्राप्त होना तथा (७) प्रचलित रागों के साथ ही साथ अप्रचलित रागों का भी ज्ञान मिलना।

संगीत का मराठीकरण

पं. विनायकराव जी की ग्रंथमाला ने इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की है और निःसंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि उनकी यह ग्रंथमाला अपने आपमें उनका एक उत्कृष्ट एवं आदर्श स्मारक है। कहना न होगा कि इस ग्रंथमाला की प्रेरणा उन्हें गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर से ही मिली। परंतु यह निर्विवाद है कि इन ग्रंथों में उन्होंने गुरु का अंधानुकरण नहीं किया, बल्कि अपनी तरफ से उसमें बहुत कुछ नई बातों को स्थान दिया और संगीतशिक्षा एवं संगीत-प्रसार की दृष्टि से उनकी उपादेयता को बढ़ा दिया। संगीतविषयक इन ग्रंथों के बारे में एक ध्यान देने की बात यह है कि इस कार्य में उनकी अपनी एक प्रयोगात्मक दृष्टि थी और इस प्रयोगात्मक दृष्टि के पीछे थोड़ा इतिहास भी है। उनका यह जो प्रयोग था उसे संक्षेप में 'संगीत का मराठीकरण' नाम दिया जाए। 'संगीत का मराठीकरण' से तात्पर्य है शास्त्रीय संगीत की बंदिशें मराठी में बनाकर गायन के समय उनका व्यवहार करना। यह एक नया विचार था और महाराष्ट्र में सन १९२८ के आसपास इस विचार ने अपना सिर उठाया था। महाराष्ट्र के कुछ कलाचिंतकों ने संगीत के नवमतवाद नाम से एक विचारप्रणाली को व्याख्यानों एवं लेखों के जरिये प्रसारित करना आरंभ किया था। इस नवमतवाद के चार विचारसूत्र थे– (१) हिंदुस्थानी संगीत के बहुमुखी विकास की दृष्टि से उसमें मेलड़ी के साथ ही हार्मनी का भी अंतर्भाव होना चाहिए। अर्थात् हमारे एक स्वरयुक्त गायन के साथ अन्य स्वरों का तथा स्वरस्तरों का प्रयोग उसमें होना आवश्यक है। (२) दूसरा विचार यह था कि राग के साथ जो रस का संबंध माना हुआ है, वह वास्तविक नहीं। क्योंकि स्वर में किसी रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। रसभावनिर्माण स्वर के कारण नहीं, बल्कि लय के कारण संभव हो तो हो सकता है। (३) तीसरा विचार-सूत्र यह था कि रागों को समय के साथ निबद्ध करने की पुरानी परिपाटी निरर्थक है। कोई भी राग किसी भी समय गाया जा सकता है। मसलन मालकंस प्रातःसमय में और तोड़ी रात के अवसर पर गाया जाए तो उसके भाव में कोई अंतर नहीं आ सकता। (४) चौथा विचार-सूत्र यह था कि राग-प्रस्तुति से रस का आभास स्वर,

तथा लय की अपेक्षा बंदिश के शब्दार्थ के कारण निष्पन्न होता है। अतः हिंदुस्थानी संगीत को महाराष्ट्र में प्रस्तुत करते समय उसकी बंदिशें मराठी में रची हुई हों न कि बोली हिंदी में, जो अधिकांश क्या समस्त मराठी भाषियों के लिए एक गूढ़ पहेली के समान लगती हैं।

इस नवमतवाद के प्रणेताओं में लोकमान्य तिलक के ज्येष्ठ सहयोगी साहित्यसम्राट् नरसिंह चिंतामण केलकर तथा मराठी के सुविख्यात साहित्यकार प्रा. नारायण सीताराम फड़के का नाम उल्लेखनीय है। पं. विनायकराव जी संगीत के क्षेत्र की हर चाल के प्रति चौकन्ने रहा करते थे। वे इस नए विचारसूत्र पर गौर करने लगे और संयोग की बात यह रही कि उनके गुरु पं. विष्णु दिगंबर भी इन विचारों में से बंदिशों के मराठी-करण के पक्ष में सोचने के लिए तैयार हो गए। १९२८ में पुणे में महाराष्ट्र संगीत-परिषद् का आयोजन हुआ। उसमें पंडित जी महाराज ने संगीत के मराठीकरण पर भाषण दिया। उसके पूर्व १९२७ में श्रीमान केलकर की अध्यक्षता में संगीत के मराठीकरण की पहली प्रांतिक परिषद आयोजित की गयी थी। पं. विनायकराव जी का ध्यान उपर्युक्त चार विचारसूत्रों में से मराठीकरण के सूत्र ने आकृष्ट कर लिया और इस विचार के लिए सहायक घटना यह हुई कि इसी कालखंड में वे गंधर्व नाटक मंडली में संगीत अभिनेता के रूप में अपने गायन से हजारों महाराष्ट्रीय दर्शकों/श्रोताओं को प्रभावित कर रहे थे। उन्होंने अनुभव किया था कि ये मराठी गीत तो शास्त्रीय संगीत की बंदिशों का प्रतिबिंब हैं। इन्हें सुनकर श्रोतागण संगीत का भी आनंद प्राप्त करता है और भावार्थ का भी। सोने में सुगंध जैसे इस परिणाम के कारण उसका संगीत-आस्वादन बहुगुणित हो जाता है। संभवतः उनके मन में यह सुप्त विचार जाग पड़ा होगा कि क्यों न हम शास्त्रीय संगीत–शिक्षा के लिए ऐसे ही मराठी पदों का प्रयोग करें। और दूसरा एक संयोग यह हुआ कि इसी कालावधि में उनके पास गुरुदेव का पत्र आ पहुंचा। उस पत्र में पंडित जी महाराज ने विनायकराव जी की कीर्तिसंपन्नता पर उनकी प्रशंसा की थी और आगे यह आदेश दिया था कि तुम नाटक के इन पदों की स्वरलिपि बनाकर प्रकाशित करो, जिससे जनसाधारण में संगीत की अभिरुचि बढ़ेगी और संगीत का प्रसार होगा। गुरुदेव की इस आज्ञा को शिरोधार्य मानकर पं. विनायकराव जी ने ३० नवंबर १९३० को अपना पहला संगीत ग्रंथ प्रकाशित किया— "नाट्य संगीत प्रकाश–प्रथम किरण"। उसपर लेखक के रूप में छपा है— "संगीत चूड़ामणि विनायक नारायण पटवर्धन, संगीत प्रवीण (गं. म. वि. मुंबई), प्रमुख नट (गं. ना. म.)।" इस पुस्तक में यमन कल्याण, भूप, बिहाग, केदार, कामोद, छायानट, शंकरा, कानड़ा, अड़ाना के क्रम से २९ रागों के मराठी नाट्यगीत स्वरलिपि के साथ दिए हुए हैं। पुस्तक के

लिए लेखक ने २५ पृष्ठों की भूमिका भी लिखी है और संगीतशास्त्र की बुनियादी बातों को अत्यंत सरल बनाकर समझाया है, जिसमें संगीत-लेखन की आवश्यकता और स्वरलिपि-परिचय का भी अंतर्भाव है। ध्यान देने की बात यह कि पुस्तक पंडित जी ने ३० वर्ष की अवस्था में लिखी है।

ऊपर जिस मराठीकरण-आंदोलन का उल्लेख हुआ है उसका इस पुस्तक के जन्म से सीधा संबंध पहुंचता है। पं. विनायकराव जी ने ही 'हृद्गत' (प्रस्तावना) में लिखा है— "ईसवी सन १९२८ में पुणे में गांधर्व महाविद्यालय की ओर से संगीत परिषद संपन्न हुई थी। परिषद में हिंदुस्थानी बंदिशों का मराठीकरण करनेके बारे में प्रस्ताव पारित हुआ और तबसे मैं यथामति उस दिशा में प्रयत्नशील रहा हूं। मैंने इस विषय पर पुणे, नगर, नासिक, इत्यादि स्थलों में सप्रयोग भाषण दिए हैं और यह समझाने का प्रयास किया है कि किस तरह महाराष्ट्रीय जनता के लिए मराठीकरण अत्यंत उपयुक्त है। इन्हीं प्रयत्नों का स्थिरपद रूप याने प्रस्तुत पुस्तक है।"

'नाट्यसंगीत प्रकाश' भाग १, पं. विनायकराव जी के संगीत ग्रंथलेखन का प्रस्थान-बिंदु रहा। इसके बाद उन्होंने १९३४ में 'महाराष्ट्र संगीत प्रकाश', द्वितीय किरण पुस्तक प्रकाशित की। तब वे 'प्रिन्सिपॉल, गांधर्व महाविद्यालय' थे और विद्यालय जमखिंडीकर भवन में विस्तार पा चुका था। इस पुस्तक में पटदीप, गौड़सारंग, भीमपलासी, तिलककामोद, हमीर, आसावरी, बिहाग, बहार, बागेश्री और दुर्गा इन १० रागों का शास्त्रीय परिचय और उनमें बंधी मराठी बंदिशें हैं। इन दो छोटी पुस्तकों पर शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह ध्यान में आता है कि पहली पुस्तक में यद्यपि लेखक ने नाटक के पदों का ही उपयोग किया था, फिर भी उसमें एक विशेष संगति का अवलंब किया था, जिसमें 'सरल से कठिन की ओर' तथा 'परिचित से अपरिचित की ओर' के तत्त्व का अनुसरण है। पहली पुस्तक में आरंभ संपूर्ण राग यमन से है और उसके बाद बहुत आगे जाने पर मालकंस, बसंत, जौनपुरी, तिलककामोद आदि रागों का क्रम आता है। दूसरी पुस्तक में कुछ चुने हुए राग लिए हैं, जिनमें से दो को छोड़ शेष सब नए हैं।

इन दो पुस्तकों के उपरांत पंडित जी ने १९३९ तक तीन मराठी ग्रंथ प्रकाशित कराये और उसका क्रम इस प्रकार रहा– १९३५ में 'बालसंगीत' भाग १, १९३६ में 'बालसंगीत' भाग २, तथा भाग ३। इन तीनों पुस्तकों का स्वरूप प्रथम दो पुस्तकों की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से भिन्न था। 'बालसंगीत' के नाम से ही उसके स्वरूप का अनुमान हो सकता है। उन पुस्तकों को लेखक ने विशिष्ट शैक्षिक भूमिका को आधार बनाकर लिखा है। ये पुस्तकें परीक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों के रूप में बनी थीं, 'सामान्य

संगीत ज्ञान ' के रूप में नहीं। अतः उनमें एक विशेष पद्धति का अवलंब किया गया था। 'बालसंगीत' के तीन भागों का अध्ययन पूरा होने के बाद छात्र को २५ रागों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हो जाता था। पंडित जी ने ये २५ राग प्रथम और द्वितीय परीक्षाओं के लिए तय किए थे। इन पुस्तकों में केवल मध्य लय की मराठी बंदिशें हैं और वे भी त्रिताल, झपताल में निबद्ध हैं। इनमें बड़े ख्याल की बंदिशें नहीं हैं। यह केवल प्रथम परिचयात्मक दृष्टिकोण से लिखी पुस्तकें हैं। इनके मराठी गीतों के संबंध में एक बात कहना जरूरी है। पं. विनायकराव जी के पास पदरचनाचातुर्य नहीं था और उसे वे खुले तौर पर स्वीकार करते थे। इसलिए उन्होंने इन पुस्तकों में उस जमाने के मराठी गीत-रचनाकारों की सहायता से ये मराठी पद बना लिए हैं। इन गीतों की विशेषता यह है कि अर्थ के स्तर पर इनमें बड़े ऊंचे विस्तार और पवित्र भाव हैं। उदाहरण के लिए एक गीत का अर्थ है—(स्थायी) 'परदोष को मत देखो। सुजनों के गुणों को ग्रहण करो, (अंतरा) देखो मलय पर्वत पर चंदन तरु से नागसर्प लिपटे रहते हैं किंतु वह उनके विष को अपने में भिदने नहीं देता।' एक दूसरा गीत है यमन कल्याण में—'हे प्रभु ! इस संसार में मेरा तुम्हारे सिवा कोई नहीं। तुम्हारे पुनीत चरणों में मेरा मन नित्य रमा करता है। मेरी तो यह हालत है कि न मुझसे कर्म होता है न भक्ति। इससे मेरी गति बडी विपरीत हुई है।'

स्पष्ट है कि इन पुस्तकों के माध्यम से पं. विनायकराव जी संगीत-शिक्षा के साथ साथ आनुषंगिक तौर पर चरित्रगठन के भी संस्कार डालना चाहते थे। किंतु एक और बात यह भी ध्यान देने की है कि 'बालसंगीत' के गीतों का रूप काव्य की दृष्टि से बहुत ऊंचा नहीं माना जा सकता संगीत की दृष्टि से यह स्थिति प्रतिकूल नहीं, बल्कि अनुकूल ही समझनी चाहिए। संगीत की बंदिशों का कार्य गहरी कविता प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि स्वर-विस्तार के लिए स्वर–व्यंजनों को उपलब्ध करा देना है। ये स्वर-व्यंजन शब्दों के माध्यम से ही आते हैं। शब्दों से पदरचना होती है। पद की रचना किसी न किसी सरल भाव के सहारे ही हो सकती है। उस सरल भाव-बिंदु को आधार बनाकर २०–२५ शब्दों की तुकबंदी रचना ही तो बदिश का भाषापक्षीय कार्य होता है। उसमें काव्य भरता है गायक और गायक यह तभी कर सकता है जब कि उसे नायक द्वारा वैसी स्वररचनायुक्त बंदिश मिलती है। सामान्यतः गायकत्व और नायकत्व एक ही व्यक्ति में समाविष्ट नहीं होता है। परंतु हम यह देख रहे हैं और आगे देखनेवाले हैं कि पं. विनायकराव जी गायक भी थे और नायक भी। नायक का मतलब वाग्गेयकार से है। याने वह जो वाक् के प्रयोग से स्वररचना के लिए आधारभूत गीतरचना करता है। प्रश्न हो सकता है कि पंडित जी में तो कवित्व था ही नहीं, फिर वे वाग्गेयकार कैसे ? इसका उत्तर यह है कि वाग्गेयकर के पास पदरचना के साथ ही

साथ और उससे भी बढ़कर जो गुण होने चाहिए वे उनमें इतनी ऊंचाई पर पहुंचे थे कि उनके सामने इस त्रुटि का एक तरह से परिहार ही हो जाता था। वाग्गेयकार की सबसे बड़ी विशेषता है उसका संगीतविषयक परिज्ञान। उसे संगीत के राग, स्वर, लय, ताल, आदि का कोना कोना झांककर आना पड़ता है तब जाके वह इस परिज्ञान को प्राप्त कर सकता है। किसी राग में कोई बंदिश रची और एकाध स्वर के कारण वह दूसरे राग का यत्किंचित् भी आभास देने लगी तो सब किये कराये पर पानी फिर जाता है। हर कदम फूंक फूंक कर रखना पड़ता है। नये नये रागों को ढूंढना, उनके लिए बंदिशें जुटाना और नये रागों का निश्चितीकरण भी बड़ा कष्टकर कर्म है। पंडित जी ने यह सब कार्य अत्यंत मनोयोग से किया।

'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला

'बाल संगीत' के तीन भागों के प्रकाशन के साथ ही पं. विनायकराव जी ने 'राग-विज्ञान' नामक ग्रंथमाला का भी निर्माण किया, जो सात भागों में प्रकाशित हुई है। उसका क्रम इस प्रकार है–'राग-विज्ञान', प्रथम भाग (१९३६), द्वितीय भाग (१९३७), तृतीय भाग (१९३७), चतुर्थ भाग (१९३८), पंचम भाग (१९३९) षष्ठ भाग (१९५२) और सप्तम भाग (१९६४)। इनमें प्रथम पांच भागों का प्रकाशन अत्यंत गतिमानता के साथ हुआ है और अंतिम दो भागों का क्रमशः ११ और ६ वर्षों के अंतराल से हुआ है। ऐसा इसलिए हुआ कि पंडित जी ने प्रथम पांच भागों का संपादन परीक्षाओं के लिए आधारग्रंथ के रूप में किया था और अंतिम दो भागों का निर्माण व्यापक संगीत–ज्ञान और उसके व्यवहार के हेतु किया था। रागविज्ञान के प्रथम पांच भागों के संबंध में उन्होंने स्वयं जो कथन किया है वह इस प्रकार है- —

"मैंने पाठ्यक्रम बनाया और कक्षानिहाय पुस्तकें लिखीं। प्रथम तथा द्वितीय वर्ष के लिए मैंने २५ राग सिखाना निश्चित किया। प्राथमिक कक्षाओं में ख्याल सिखाना बंद कर दिया। क्योंकि ख्याल-पद्धति की पूर्वतैयारी के लिए पहले दो वर्षों में गला तैयार करवा कर फिर तीसरे वर्ष से ख्याल सिखाने की योजना मैंने अपनायी। अतः तीसरे वर्ष के लिए 'राग विज्ञान', भाग १ से ख्याल-पद्धति सिखाने के लिए छः से आठ नूतन राग, प्रथम और द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में सात–आठ रागों के ख्याल, धृपद तराना, टप्पा, अष्टपदी जैसे संगीत-प्रकारों को सिखाने की व्यवस्था कर दी। इसके बाद 'विशारद' की कक्षा के दो वर्ष वाले अध्ययनक्रम के लिए 'राग-विज्ञान' भाग दो और तीन मुकर्रर किये। 'राग-विज्ञान' के चौथे भाग का निर्माण 'संगीत अलंकार' परीक्षा के लिए किया गया है, जिसमें अनूठे तथा संयुक्त रागों का अंतर्भाव है। 'राग-विज्ञान' का ५ वां भाग अंतिम परीक्षा 'संगीत प्रवीण' के लिए मैंने तैयार किया और इस प्रकार

इन पांचों भागों के माध्यम से सौ रागों तथा पांच–छः सौ बंदिशों के अध्यापन की व्यवस्था बनायी गयी। इन परीक्षाओं का अध्ययनक्रम जो मैंने बनाया उसके लिए ये पुस्तकें आधारग्रंथ के समान बन गयीं।"

पंडित जी के उपर्युक्त आत्म-कथन के द्वारा 'राग-विज्ञान' के प्रथम पांच भागों के निर्माण के पीछे उनकी जो भूमिका थी वह स्पष्ट हो जाती है। १९३२ में गांधर्व महाविद्यालय का संचालन शुरू होने के बाद सबसे बड़ी समस्या पाठ्यक्रम और आधारग्रंथों की थी। पं. विनायकराव जी अपने गुरुदेव द्वारा चलायी हुई शिक्षा-पद्धति को ज्यों का त्यों चलाने के पक्ष में नहीं थे। अपने संगीत-अध्ययन में उन्हें जो बातें खटकी थीं उन्हें वे दूर करना चाहते थे और संगीत-शिक्षा को अधिक व्यापक बनाना चाहते थे। परंतु समय उनके लिए रुक नहीं सकता था। पहले २–३ वर्ष उन्होंने मराठी पदों तथा पारंपरिक बंदिशों के सहारे अध्यापन-कार्य किसी तरह निभा लिया। किंतु शिक्षा के कार्यक्रम में एक विशिष्ट क्रम एवं अनुशासन की आवश्यकता रहती है। प्रवेश परीक्षा के बाद प्रथमा, उसके बाद विशारद, तत्पश्चात् प्रवीण ऐसा क्रम पंडित जी ने निर्धारित किया था। परंतु प्रत्येक परीक्षा के लिए पुस्तक तो चाहिए ही। मुक्त संगीत-साधना और अनुशासनबद्ध संगीतसाधना में यही अंतर रहता है। मुक्त संगीत साधना के लिए न तो निर्धारित पाठ्यक्रम रहता है, न परीक्षाएं और न प्रगति के वस्तुनिष्ठ सोपान। मुक्त साधना करनेवाला साधक आठ-आठ महीने तक एक ही राग का कोना कोना झांकने में लगा सकता है। फिर भावी जीवन में भी उसे संगीत के सर्वाधिक रागों और हजारों बंदिशों का ज्ञान है या नहीं, इसपर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। विद्यालयीन संगीत-शिक्षा के लिए ऐसी छूट नहीं रहती। वहां ज्ञान को वरीयता दी जाती है और उसके साथ उसके व्यावहारिक पक्ष का गठबंधन किया जाता है। इसलिए अमुक व्यक्ति 'संगीत अलंकार' है, इसका मतलब यह होता है कि इसने अमुक इतने रागों, बंदिशों, विभिन्न क्रियाओं और स्वरलिपि तकनीक का ज्ञान हासिल किया है और इन सबका प्रस्तुतीकरण भी वह अपनी योग्यता के अनुसार कर सकता है। यह उपाधि उसे महफिली गवैया बनाने का आश्वासन नहीं देती, बल्कि उस श्रेष्ठ पद पर पहुंचने के मार्ग को प्रशस्त बना देती है। जिसमें जितनी सामर्थ्य होगी, उसके अनुसार वह अपने संचित ज्ञान का विकास कर सकेगा।

पं. विष्णु दिगंबर जी ने संगीत-प्रसार का जो कार्यक्रम अंगीकृत किया था, उसके पीछे यही दृष्टि थी। और पं. विनायकराव जी ने भी उसीका अनुसरण करते हुए अपनी ओर से उसमें कुछ सुधार भी अनुस्यूत किए। इसीलिए १९३५ के छात्रों ने अगले वर्ष में पदार्पण किया तो उन्हें सिखाने के लिए पुस्तकों की समस्या खड़ी हो गयी। उस काल में पूर्वसूरियों की ऐसी दो ही ग्रंथमालाएं उपलब्ध थीं– एक पं.

भातखंडे जी के संग्रह और दूसरा गुरुदेव विष्णु दिगंबर की पुस्तिकाएं। परंतु पंडित जी इन पुस्तकों का अवलंब नहीं करना चाहते थे और न कर ही सकते थे। इसका पहला कारण यह था कि भातखंडे जी के ग्रंथ मुक्त संगीत साधना के लिए सहायक सामग्री के हेतु बने हुए हैं। उनमें विद्यालयीन सोपान–पद्धति का अवलंब नहीं किया गया है। दूसरी बात यह कि ग्रंथ रागों की ठाठ-पद्धति को आधार बनाकर लिखे गए हैं, जब कि पं. विनायकराव जी को ठाठ–पद्धति संपूर्णतः स्वीकार नहीं थी, वे रागांगपद्धति को भी उतना ही महत्त्व देते थे और राग को ठाठ का लेबल लगाने के बजाय, उसकी 'पकड़' को अधिक महत्त्व देना पसंद करते थे। तीसरी बात यह थी कि गहनतम संगीत-साधना के फलस्वरूप प्रत्येक राग के व्यक्तित्व के संबंध में उनकी अपनी एक ठोस शास्त्रीय भूमिका तैयार हो गयी थी, जो पं. भातखंडे के ही नहीं तो पं. विष्णु दिगंबर जी के दृष्टिकोण से भी अनेक स्थलों पर भिन्नता रखती थी। चौथी बात यह थी कि भातखंडे जी की स्वरलिपि–प्रणाली 'संगीत रत्नाकर' का अनुसरण करनेवाली थी, जब कि पं. विनायकराव जी ने पाश्चात्य और पौरस्त्य प्रणालियों के समन्वय से बनी पं. विष्णु दिगंबर जी की स्वरलिपि–प्रणाली में अपनी तरफ से कुछ संशोधन करके एक सुलभ और सुगम पद्धति तैयार की थी कि और अपने शिष्यों को उसीका प्रशिक्षण देते आए थे। पांचवीं बात यह थी कि पूर्वोपलब्ध ग्रंथों में बंदिशों की संख्या बहुत मर्यादित थी। पं. भातखंडे जी के ग्रंथों की सारी मदार पारंपरिक बंदिशों पर है। यदि किसी राग में उन्हें केवल २ या ३ ही पारंपरिक बंदिशें मिली हों, तो उन्होंने उतने पर ही संतोष मान लिया है। प्रत्येक राग में बंदिशों की विशिष्ट संख्या-पूर्ति का बंधन उनपर नहीं था, क्योंकि उनपर परीक्षा-केंद्रित विद्यालयीन अनुशासन का अंकुश नहीं था। पं. विनायकराव जी ने अपने ग्रंथ में प्रत्येक राग की कम से कम आठ बंदिशें दे ही दी हैं और उनमें भी त्रिताल, एकताल, झूमरा, झपताल इत्यादि विभिन्न तालों में निबद्ध होनेवाली बंदिशों का और साथ ही तरानों की बंदिशों का भी अंतर्भाव किया है। उनके इस प्रयत्न के पीछे एक विशेष सांगीतिक दृष्टि है। राग का परिज्ञान केवल आरोह–अवरोह और आलाप–तानों की सर्वसामान्य जानकारी से नहीं हो सकता। राग के व्यक्तित्व के अनेकानेक पहलू भिन्न भिन्न बंदिशों के माध्यम से ही उजागर होते हैं।

पंडित जी ने अपनी ग्रंथमाला का नाम बहुत सोच समझकर 'राग–विज्ञान' रखा और उस नाम के अनुसार ही संपूर्ण ग्रंथमाला का संपादन भी किया। और उल्लेखनीय यह है कि यह सब उन्होंने अपने गांधर्व महाविद्यालय के 'कुरुक्षेत्र' में पैर जमाकर किया। शांतिपूर्वक एकांत स्थल में बैठकर ग्रंथलेखन करने के लिए न उनके पास फुरसत थी न वैसी संभावना। उनके 'राग-विज्ञान' का निर्माण शिष्यों को सिखाने

के नित्यक्रम से निष्पन्न एक श्रुतिमधुर फल है। इस दृष्टि से देखा जाये तो 'राग-विज्ञान' में एक विशेष शिक्षणशास्त्रीय तत्त्व का अपने आप अवलंब हुआ है। शिक्षणशास्त्र का एक तत्त्व यह है कि अध्यापन की सामग्री की उपादेयता का पहले परीक्षण किया जाए। 'राग-विज्ञान' के लेखन-काल में पं. विनायकराव जी का यह उपक्रम रहता था कि वे विशारद, अलंकार आदि कक्षाओं में नयी बंदिशें लिखाना आरंभ करते और रागरूप का निरूपण भी करते। इस सिलसिले में शिष्यों से परामर्श लेने में भी संकोच न मानते और पारस्परिक विनिमय के फलस्वरूप रागरूप और बंदिशों का जो ढांचा पक्का हो जाता उसे ग्रंथ में ग्रथित करने के लिए स्वीकार करते। 'राग-विज्ञान' की अधिकतर बंदिशें पारंपरिक हैं इसमें संदेह नहीं, किंतु वे सभी के सभी ग्वालियर घराने में प्रचलित बंदिशें नहीं हैं। पंडित जी ने अन्य घरानों में परंपरा से गायी जानेवाली बंदिशों का भी अंतर्भाव 'राग-विज्ञान' में किया है, जो उनकी व्यापक एवं उदार शैक्षणिक दृष्टि का प्रमाण माना जा सकता है। एक और ध्यातव्य बात है कि प्रत्येक राग में आठ-दस बंदिशें एकदम से प्राप्त होना दुष्कर था। और बंदिशें ऐसी मिलनी चाहिए थीं जो उस विशिष्ट राग के और और सौंदर्यस्थलों को उदघाटित कर सकें तथा भिन्न भिन्न तालों में निबद्ध हों। फिर पंडित जी को तो समय के साथ संघर्ष करना था। शिष्यों को विशारद परीक्षा के लिए तैयार करना था। अतः उसी वर्ष पुस्तक का उपलब्ध होना भी जरूरी था। इस समस्या से पंडित जी ने सुपरिचित सनातन मार्ग निकाला, स्वावलंबन का अवलंब। अर्थात् उन्होंने स्वयं ही नयी बंदिशों की रचना करायी और उन्हें विशिष्ट रागरूप में तथा विशिष्ट ताल में निबद्ध करके और 'सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि' उन बंदिशों को कक्षा में पढ़ाने के उपरांत उसकी निर्दोषता तथा उपयुक्तता प्रमाणित हो जाने पर उन्हें 'राग-विज्ञान' में ग्रथित किया।

'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला का बहुआयामी विस्तार इस प्रकार है। इस ग्रंथमाला में विलंबित तथा द्रुत ख्याल की बंदिशों के साथ ही ध्रुपद, धमार, तराना, त्रिवट, चतरंग होरी, ठुमरी, दादरा, अष्टपदी और भजन की बंदिशें उनकी स्वरलिपि के साथ समाविष्ट की गयी हैं। ग्रंथमाला के अंतर्गत २०९ रागों की संपूर्ण जानकारी आलापों, तानों और तौलनिक जानकारी के साथ दी गयी है। कुल मिलाकर १०४० बंदिशों का संग्रह 'राग-विज्ञान' के इन ७ खंडों में है। इन खंडों में प्रथम पांच भागों का स्वरूप अंतिम दो खंडों से थोड़ा भिन्न है। प्रथम पांच भागों की रचना परीक्षा के दृष्टिकोण से हुई है। अतः संगीतशिक्षा में तथा सामान्य संगीत-प्रस्तुति में प्रचलित महत्त्वपूर्ण रागों का संग्रह उनमें किया गया है। इनमें से प्रत्येक खंड में रागों की संख्या लगभग १२ तक है जब कि प्रत्येक राग में, कम से कम ८ बंदिशें दी हुई हैं, जिससे अध्येता को राग के सर्वांग अभ्यास की दिशा मिल सके। 'राग-विज्ञान' के प्रथम

पांच खंडों में प्रत्येक राग के लिए पं. ना. मो. खरे द्वारा रचित राग-लक्षण-गीत दिया गया है। प्रत्येक राग के विवेचन में निम्नलिखित मुद्दों की जानकारी है—जाति, वादी, संवादी, समय, राग का मुख्य अंग, आरोह तथा अवरोह। इसके बाद ' विशेष ' के अंतर्गत राग के ठाठ तथा तौलनिक स्वरूप एव प्रस्तुतीकरण की विशेषता आदि की जानकारी दी हुई मिलती है। इसी प्रकार पुस्तक के आरंभ में ' स्वरलिपि-चिह्नों का संक्षिप्त परिचय ' तथा पुस्तक में प्रयुक्त तालों के ठेकों की जानकारी भी दी गयी है।

इस प्रकार 'राग-विज्ञान' की रचना विशुद्ध शैक्षिक दृष्टिकोण के अनुसार हुई है। इसके साथ ही इस ग्रंथमाला की और दो विशेषताएं भी द्रष्टव्य हैं। एक यह कि 'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला की भाषा आद्योपांत हिंदी है। इससे इन ग्रंथों को अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य आरंभ से ही प्राप्त हो सका। इस संबंध में दूसरी बात यह भी सामने आती है कि यद्यपि पं. विनायकराव जी संगीत के मराठीकरण के पक्षपाती थे तथापि उच्च संगीत-शिक्षा के संदर्भ में वे मराठी को नहीं बल्कि हिंदी को ही अपनाने के पक्ष में रहे। परंतु इसे पंडित जी के मराठीकरण के आत्म-पराभव के रूप में भी नहीं देखा जा सकता। क्योंकि पंडित जी ने आरंभिक कक्षाओं के लिए बाल संगीत के प्रथम ३ भागों का ही अध्यापन कायम किया था। महाराष्ट्र में संचालित गांधर्व महाविद्यालयों और अन्य समानांतर संगीत विद्यालयों में अद्यावधि यही परिपाटी चल रही है।

'राग-विज्ञान' के संबंध में एक दूसरी व्यावहारिक बात भी ध्यान देने लायक है। वह यह कि पंडित जी ने इन पुस्तकों की पृष्ठसंख्या और आकार में संक्षिप्तता का अवलंब किया, जिससे मुद्रणव्यय कम हुआ और पुस्तकों का मूल्य छात्रों की क्रयशक्ति के अनुकूल रहा। आज भारत भर में इस ग्रंथमाला का जो सर्वाधिक उपयोग होता है, उसके पीछे उसकी सांगीतिक गुणवत्ता के साथ ही साथ यह व्यावहारिक सुविधा भी है।

' राग-विज्ञान ' की प्रयोगशीलता

'राग-विज्ञान' के अंतिम दो भागों का स्वरूप अनेक दृष्टियों से भिन्न और वैशिष्ट्यपूर्ण है। इन भागों में पंडित जी ने अप्रचलित या अनूठे रागों की ओर ध्यान दिया है और इसका इतिहास भी थोड़ा उद्बोधक है। एक बार पुणे में संगीत के एक ख्यातिप्राप्त विद्वान ने अपने भाषण में यह दावा किया कि अप्रचलित और संयुक्त रागों का ज्ञान विद्यालयों के सीमित दायरे में पढ़ने-पढ़ानेवालों को कभी नहीं प्राप्त हो सकता। उस भाषण में अप्रत्यक्ष रूप से पं. विनायकराव जी की ओर भी एक कटाक्ष था। पंडित जी के स्वभाव में स्थित जिद्दीपन के लिए यह एक चुनौती ही थी। पंडित जी ने यह चुनौती स्वीकार की और अपनी सारी शक्ति लगाकर अनेक अप्रचलित एवं संयुक्त

रागों का संग्रह अपने पास बना लिया। इसी प्रकार एक और घटना भी इसके लिए कारणीभूत रही। पं. विनायकराव जी ने गुरुदेव विष्णु दिगंबर की पुण्यतिथि एक वैशिष्ट्यपूर्ण संगीत-सेवा के द्वारा मनाने का उपक्रम २६ वर्षतक निभाया। वे हर पुण्यतिथि के दिन एक या दो नये रागों की तैयारी करके उन्हें प्रस्तुत करते थे। नये राग से यहां मतलब ऐसे रागों से है जिनका अभ्यास उनके अध्ययन-काल में नहीं हो सका था। फिर इन रागों का संग्रह उन्होंने 'रागविज्ञान' के छठे और सातवें भाग में कर दिया। इन ग्रंथों में छठे भाग के अंतर्गत मध्यमादि सारंग, बड़हंस सारंग, सामंत सारंग, नारायणी, जैज बिलावल, देवरंजनी, पटमंजरी, कौसी कानड़ा, इत्यादि ३५ राग हैं तो सातवें भाग में बैराग, नटभैरव, बसंत, जैताश्री, राजकल्याण, कानड़ा इत्यादि ४७ राग हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन ग्रंथों के कारण मुक्त संगीत साधना करनेवालों और विद्यालयीन अध्यापक तथा साधक — दोनों का बडा लाभ हुआ है।

'रागविज्ञान' की बंदिशों का स्वरूप त्रिविध है। उसमें तीन प्रकार की बंदिशें मिलती हैं— (१) पारंपरिक, (२) संतकवियों की रचना पर आधारित तथा (३) समकालीन गीत-रचनाकारों द्वारा रचित। बंदिशों के विषयों के बारे में पंडित जी का दृष्टिकोण बड़ा कट्टर था। उन्हें शृंगारिक बंदिशों के प्रति एक तरह से घृणा थी। अतः इन बंदिशों के विषय भक्तिभावात्मक तथा उपदेशात्मक ही अधिक हैं। तथापि इधर उधर कुछ 'वैसी' बंदिशें भी पारंपरिक के अंतर्गत ग्रथित हुई हैं। उदा. काफी कानड़ा की 'सुखकर आयी रे पिया के संग। टूटे बाल छूटे मुख पर तरकी अंगिया है बिछुड़े अंग।' इसी प्रकार बसंत राग में निबद्ध 'ये नबी के दरबार' की बंदिश भी यहां मिलेगी। किंतु इन बंदिशों के अंतर्भाव के पीछे उनकी सांगीतिक दृष्टि यह थी कि इनमें उस राग का स्वरूप बड़ी ही सुंदरता से निखर आया है। उन बंदिशों की स्वररचना पर मोहित होकर ही उन्होंने उन्हें स्वीकार लिया।

'राग-विज्ञान' में कबीर, सूर, मलूक, रैदास, रसखान, दादूदयाल आदि संत एवं भक्त कवियों की रचनाएं प्रचुर मात्रा में हैं और इनके साथ ही पंडित जी ने अपने शिष्यों से तथा अन्य रचनाकारों से रचित पदों को बंदिश का परिधान चढ़ाया है। उपर्युक्त समस्त स्वरूप-विधान के संबंध में स्वयं पंडित जी का जो कथन है, वह यहां द्रष्टव्य है, जो रागविज्ञान के छठे भाग के प्रथम संस्करण की भूमिका से उद्धृत कर रहे हैं— "जो राग गुरु घराने से नहीं मिले थे परंतु विद्वान गायकों से सुनने को मिले उन्हें मैंने अपना लिया और उनका शास्त्र-परिचय भी अनेक पुस्तकों में देखकर मैंने दिया है। मैं स्वयं काव्यरचनाकार नहीं हूं। अतः मैंने बंदिशों के लिए संतसाहित्य से कविताएं ली हैं और कुछ को अपने शिष्योंद्वारा रचवा दिया है। यह सब कार्य करते समय मैंने शास्त्रीय शुद्धता को कहीं भी नजरअंदाज होने नहीं दिया है। राग का स्वरूप

आइने की तरह साफ हो इसका खयाल मैंने बार बार अपनी आंखों के सामने रखा है। "

उपर्युक्त उद्धरण से पंडित जी की प्रयोगशीलता, स्पष्टवादिता तथा विशुद्धता का परिचय अपने आप मिल जाता है, उसपर अधिक भाष्य करने की आवश्यकता नहीं।

' राग-विज्ञान ' ग्रंथमाला के निर्माण के समानांतर ही पंडित जी ने एक अन्य संगीत-विषयक ग्रंथ को तीन भागों में प्रकाशित करने के कार्य में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। ' भारतीय संगीत माला ' के नाम से इसके तीन ' पुष्प ' प्रकाशित हुए। ग्वालियर घराने के लब्धप्रतिष्ठ गायक तथा पं. विष्णु दिगंबर के गुरुबंधु पं. मिराशीबुवा ने अपने गुरु घराने की बंदिशों अथवा पुराने ग्वालियर खयालों का संग्रह दो भागों में प्रकाशित करने का संकल्प किया। इसका प्रकाशन ' भारतीय संगीत प्रसारक मंडल ' द्वारा तथा इचलकरंजी रियासत के राजा श्रीमंत नारायणराव घोरपड़े के आशीर्वाद से हुआ। इन ग्रंथों में सह-संपादक के रूप में पं. विनायकराव जी ने बंदिशों के शास्त्रशुद्ध स्वरलिपि-लेखन तथा संपादन में अपार कष्ट उठाया। किंतु यह उन्होंने कर्तव्यबुद्धि से ही किया था, उसमें नामवरी या अर्थार्जन का तनिक भी उद्देश्य नहीं था। ग्रथ के लेखक के रूप में उन्होंने अपना नाम छपने नहीं दिया। इतना ही नहीं तो ग्रंथ के प्रास्ताविक में उन्होंने एक विशेष बात का जिक्र किया है। उसे पढ़ कर उनके पारदर्शक स्वभाव की झलक अपने आप मिल जाएगी। वे लिखते हैं– " इन बंदिशों की स्वरलिपि मैंने आदरणीय पं. मिराशीबुवा के दृष्टिकोण के अनुसार बनायी है। अतः उनमें जो गुण या खटकनेवाली बातें हों उसका दायित्व मुझपर नहीं आ सकता। मैं इन ग्रंथों में कर्ता के रूप में नहीं, सहायक के रूप में ही रहा हूं। "

पं. विनायकराव जी के इस स्पष्ट कथन से उनकी निःस्पृहता प्रकट होती है और साथ ही विद्या के क्षेत्र में उनकी जो कट्टरता थी उसका भी परिचय मिलता है। इस संबंध में एक और बात यह है कि इन ग्रंथों के निर्माण में पं. विनायकराव जी का कार्य सहायक के रूप में था। यह ' भारतीय संगीत प्रसारक मंडल ' का प्रकाशन था। ' राग-विज्ञान ' के समान वह पूर्णतः उनका अपना प्रकाशन नहीं था। अतः संस्था ने जो कार्य उन्हें सौंपा उसे अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर उन्होंने पूरा किया; परंतु ग्रंथ के लेखक पं. मिराशीबुवा की स्वरलिपि-योजना आदि के बारे में उनका जो दृष्टिकोण था उसमें उन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया।

'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला को संगीत के क्षेत्र में जो प्रतिष्ठा मिली, उसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर हुआ ही है। इस ग्रंथमाला के अबतक ८–८, ९–९ संस्करण निकल चुके हैं। गांधर्व महाविद्यालय की सभी संस्थाओं में इनका उपयोग होता है। इतना ही नहीं तो

अन्यान्य घरानों में तथा गुरुओं के पास सीखनेवाले संगीत साधकों तथा स्वयं गुरुओं के लिए भी ये ग्रंथ उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस संदर्भ में राग-विज्ञान के प्रथम भाग के आठवें संस्करण (१९६२) की भूमिका में स्वयं पं. विनायकराव जी ने जो लिखा है उसे यथामूल यहां दिया जाता है—

" भगवान की असीम कृपा से ' राग-विज्ञान ', प्रथम भाग का आठवां संस्करण प्रकाशित करने का सुयोग आज मुझे प्राप्त हुआ है। ...... टिळक महाराष्ट्र विद्यापीठ (पुणे), नागपुर युनिवर्सिटी, विष्णु दिगंबर ॲकॅडेमी (इलाहाबाद), महाराष्ट्र संगीत विद्यालय (बंबई), सागर युनिवर्सिटी, संयुक्त प्रांत, गुजरात, पंजाब तथा महाराष्ट्र के अनेक स्कूलों ने तथा गांधर्व महाविद्यालय मंडल की शाखाओं ने ' राग-विज्ञान ' को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। "

संगीत-शिक्षा की ध्वनिमुद्रिका

पं. विनायकराव जी ने विद्यादान का महायज्ञ अनेकविध उपक्रमों के द्वारा संपन्न किया। जीवनभर वे संगीत-अध्यापन और संगीत-प्रसार के अन्यान्य कार्यक्रमों एवं उपक्रमों को चलाते रहे। ध्वनिमुद्रिकाओं के माध्यम से संगीत-शिक्षा का कार्य भी उन्होंने किया। १९३५–३६ में कोलंबिया रेकॉर्डिंग कंपनी ने पंडितजी की छोटी छोटी ध्वनिमुद्रिकाएं बनायी थीं। उनमें उन्होंने यमन, भीमपलास, इत्यादि रागों का परिचय भाषण, गायन और हारमोनियम वादन के माध्यम से दिया है। शुरू में राग का स्वरूप और उसकी पकड़, उसके बाद उसकी एकाध बंदिश और तत्पश्चात् हारमोनियम पर उसका वादन इस पद्धति से ये राग समझाए गए हैं। केवल २ या ३ मिनटोंमें पंडित जी ने राग के रूप को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं तो वादी-संवादी की जानकारी देते समय नौसिखुए साधकों को उन्होंने अनजान में होनेवाले रागरूप भंग के बारे में भी सावधान किया है। इन ध्वनिमुद्रिकाओं को सुनते समय यह महसूस हो जाता है की संगीत सिखाते समय पंडित जी अपने ' सर्वोत्तम बिंदु ' तक उठ जाते थे। संगीत सिखाते समय उनका उत्साह कुछ अपूर्व ही रहता था। इन ध्वनिमुद्रिकाओं में पंडित जी की तरुणाई की बुलंद और बेहद सुरीली आवाज को सुनना भी कम आनंददायक नहीं।

इन ध्वनिमुद्रिकाओं के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि पंडितजी ने और रिकार्डिंग कंपनी ने सोच-समझकर इनकी भाषा हिंदी रखी थी। वस्तुतः पं. विनायकराव जी के लिए हिंदी नित्य व्यवहार की भाषा नहीं थी; फिर भी ध्वनिमुद्रिकाओं को सुनने के बाद ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि वे हिंदी बोलते समय कहीं गड़बड़ा गये हैं। अत्यंत

आत्मविश्वास के साथ अच्छी हिंदी में उन्होंने बात की है। ये ध्वनिमुद्रिकाएं अब उपलब्ध नहीं हैं, किंतु कैसेट के रूप में सुरक्षित हैं। तथापि संगीत-शिक्षा की ध्वनि-मुद्रिकाएं अत्यंत उपयुक्त साधन हैं। इस दिशा में सबसे पहले कदम उठाने का श्रेय पं. विनायकराव जी को देना होगा। कोलंबिया कंपनी ने भी आप ही को आमंत्रित किया। उस काल में भी संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में पंडित जी की ऐसी मान्यता थी।

भारतीय संगीत प्रसारक मंडल

पं. विनायकराव जी के विद्यादान के महायज्ञ में 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' संस्था के निर्माण की घटना अनेक कारणों से एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन बिंदु बन जाती है। मई १९३२ से अप्रैल १९४२ तक पंडित जी ने गांधर्व महाविद्यालय का संचालन तन मन-धन लगाकर तथा अपने सार्वभौम अधिकार के साथ किया था। इन दस वर्षों में विद्यालय-भवन, वाद्य-व्यवस्था, अध्यापक-नियुक्ति, अध्यापन-प्रक्रिया, परीक्षाओं का संचालन इत्यादि सभी विषयों में पं. विनायकराव जी का ही निर्णय अंतिम माना जाता था। यह स्थिति गुरुदेव विष्णु दिगंबर के गांधर्व महाविद्यालय के समान ही थी। परंतु पं. विनायकराव जी के मन में यह विचार प्रबल होने लगा कि गांधर्व महाविद्यालय को सार्वजनिक संस्था का रूप प्रदान करना चाहिए। कोई भी सामाजिक कार्य किसी एक व्यक्ति के बलबूते नहीं चल सकता। उसके लिए समाज का आधार मिलना आवश्यक होता है। पंडित जी के मन में ये जो विचार उठे उसके पीछे उनके गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर का अनुभव खड़ा था। पं. विष्णु दिगंबर जी को स्वयं लोकमान्य तिलक ने सुझाव दिया था कि आप अपने महाविद्यालय का पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) करा लीजिए। यदि आप उसे सार्वजनिक रूप देंगे तो आपको आर्थिक सहायता भी मिलेगी और आपके पश्चात् महाविद्यालय सुचारु रूप से चलता रहेगा। पं. विष्णु दिगंबर जी ने इस सलाह को स्वीकार नहीं किया और उसका नतीजा यह निकला कि बंबई के विशाल गांधर्व महाविद्यालय को एक भयानक त्रासदी का सामना करना पड़ा और अंततोगत्वा उसे समाप्त ही होना पड़ा।

पं. विनायकराव जी ने इन सभी दारुण घटनाओं को बिलकुल निकट से देखा था। इसलिए उनके मन में उपर्युक्त विचार तीव्रता से उठ रहे थे। उन्होंने इस संबंध में अनेक श्रेष्ठ नागरिकों से विचार-विनिमय भी किया। उस समय में पुणे शहर में विख्यात इतिहासतज्ञ एवं धुरंधर विद्वान श्री दत्तो वामन पोतदार की बड़ी प्रतिष्ठा थी। पंडित जी ने पोतदारसाहब को अपना विचार बताया और यह भी प्रार्थना की कि संस्था के अध्यक्ष आप ही बन जाइए। श्रीमान पोतदार जी ने पंडित जी के विचारों का स्वागत किया, परंतु उसीके साथ उन्हें इस निर्णय के कुछ संभाव्य प्रतिकूल परिणामों के बारे

में भी सावधान कर दिया। श्री दत्तो वामन पोतदार जी ने पंडित जी को किन शब्दों में सावधान किया होगा इसका अनुमान किया जा सकता है। जब कोई भी शैक्षणिक या अन्य उपक्रम सार्वजनिक संस्था का अंग बनकर अपना कार्य चलाने लगता है तब उसमें जनतंत्र का तत्त्व प्रस्थापित हो जाता है। स्वामित्व या एकाधिकार के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं रहता। इसके कुछ बुरे परिणाम भी हो सकते हैं। क्योंकि जो लगन, निष्ठा, दूरदृष्टि और योग्यता उस शैक्षणिक उपक्रम का संचालन करनेवाले व्यक्ति के पास होती है वह और सदस्यों में उतनी तीव्रता के साथ न रहने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। संस्था का मतलब है समाज के विविध क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का मंडल। उस मंडल की सलाह के अनुसार ही संस्था की गतिविधियां चलेंगी। मंडल के सभी सदस्यों का नाता बराबरी का रहेगा। उसमें उच्च-नीच का भेद नहीं माना जाएगा। अस्तु, इस विषय को अधिक विस्तार न देते हुए इतना कहा जाए कि पुणे के गांधर्व महाविद्यालय को सार्वजनिक संस्था का स्वरूप प्रदान करने के पीछे अनेक संभाव्य प्रतिकूलताएं थीं। परंतु पं. विनायकराव जी का निर्णय पक्का था। उन्होंने अपना यह निर्णय श्री दत्तो वामन जी को सूचित कर दिया और अप्रैल १९४२ को 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' नामक संस्था स्थापित हो गयी। इस संस्था के अध्यक्ष श्री दत्तो वामन पोतदार चुने गए और संस्था के अंतर्गत पं. विनायकराव जी के साथ उनके अन्य बहुत से शिष्य और कुछ दूसरे नागरिकों का भी अंतर्भाव हुआ।

संस्था के साथ संबंध

'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' की स्थापना के लिए पं. विनायकराव जी ने जो अपूर्व त्याग किया उससे उनका व्यक्तित्व और ही चमक उठा। संस्था की स्थापना अप्रैल १९४२ में हुई। संस्था के अध्यक्ष मान्यवर श्री दत्तो वामन पोतदार चुने गए। यह सुझाव पं. विनायकराव जी का ही था। संस्था के पंजीकरण के लिए पांच सौ रुपये की फीस भरना आवश्यक था। पंडित जी ने अपनी जेब से वह राशि रजिस्ट्रार के कार्यालय में जमा कर दी और आगे उस राशि को वापस भी नहीं लिया। गांधर्व महाविद्यालय की दस वर्ष की कालावधि में वाद्य-संग्रह, बिछावन की दरियां तथा कालीन (गलीचे), अलमारियां इत्यादि समस्त साधन-सामग्री पंडित जी ने अपने विद्यालय के लिए खरीदी थी। अप्रैल १९४२ के पूर्व इस संपूर्ण सामग्री पर उन्हींका स्वामित्व था; परंतु पंजीकरण हो जाने के बाद पंडित जी ने वे संपूर्ण वस्तुएं 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' संस्था को समर्पित कर दीं और उसके लिए एक पाई की भी अपेक्षा नहीं रखी। अब इस संपूर्ण सामग्री पर किसी एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि संस्था के सदस्यों का अधिकार रहनेवाला था। पाई पाई जोड़कर तथा स्वार्थ-त्याग से जमा की

हुई इन सभी वस्तुओं का एक झटके में परित्याग कर देना कोई साधारण बात नहीं थी।

प्राचार्य विनायकराव जी

संस्था के द्वारा संचालित गांधर्व महाविद्यालय के प्राचार्य सर्वानुमति से पं. विनायकराव जी ही रहे। प्राचार्य की हैसियत से उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय का उसी पुराने उत्साह के साथ संचालन किया। उनकी कट्टरता, कठोरता, अनुशासन इत्यादि में कोई अंतर नहीं आ सका। संगीत के अध्ययन-अध्यापन में किसी प्रकार की शिथिलता उनके लिए असहनीय थी। परंतु जब महाविद्यालय संस्था का अंग बन गया तब उसमें जनतंत्रात्मक प्रवृत्तियों का उभारना स्वाभाविक था। उसके परिणामस्वरूप थोड़ी बहुत मात्रा में पंडित जी को अब सहयोगियों का कुछ विरोधी स्वर भी सुनाई पड़ने लगा। यह विरोध कभी दबी जबान से तो कभी प्रकट रूप से व्यक्त होने लगा। १९४५ के लगभग इस विरोध ने थोड़ा उग्र रूप धारण किया और उसका परिणाम यह हुआ कि १९४६ में पंडित जी प्राचार्य के पद से अलग हो गए और गांधर्व महाविद्यालय में एक सहयोगी अध्यापक के नाते काम करने लगे। परंतु यह स्थिति लगभग डेढ़ वर्ष तक ही बनी रही। क्योंकि गांधर्व महाविद्यालय के सहयोगियों और सदस्यों में बहुतांश लोग पंडित जी के शिष्य ही थे। इसलिए सबके आग्रह पर पुनश्च १९४७ में पंडित जी प्राचार्य-पद पर आसीन हुए।

पं. विनायकराव जी के कार्यकाल में महाविद्यालय में अनेक ऐसी घटनाए हुईं जिनमें पंडितजी के कठोर अनुशासन और संगीत की शुद्धता के प्रति उनकी लगन के दर्शन होते हैं। १९४७ की घटना है। पंडित जी के एक शिष्य श्री महादेव गंधे १९४६ में संगीत विशारद परीक्षा अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए और पंडित जी ने उन्हें ऊंची कक्षाओं को पढ़ाने के लिए नियुक्त करना ठीक समझकर उन्हें एक प्रौढ़ छात्र की व्यक्तिगत कक्षा के लिए सिखाने का आदेश दिया। व्यक्तिगत कक्षा की फीज १५ रुपये थी (याने आज के हिसाब से १५० के लगभग)। गुरुमहोदय तथा प्राचार्य के आदेशानुसार महादेव जी ने उस कक्षा में प्रवेश किया और हुआ यह कि वह प्रौढ़ व्यक्ति कक्षा से बाहर आ गए। वे सीधे प्राचार्य जी के पास गए और कहा कि मैं 'ज्यूनियर' अध्यापकों से पढूंगा नहीं। तब पंडित जी ने सौम्य स्वर में उन्हें समझाया कि आप चिंता न कीजिए। गंधे जी ठीक ही सिखाएंगे और मैं उनके अध्यापन पर अलग से ध्यान रखूंगा ही। जाइए, कक्षा में जाके बैठिए इधर पंडित जी ने श्री गंधे जी को भी समझाया कि संगीत-प्रसार के कार्य में ऐसे अपमानों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इसे भी अपनी साधना का एक अंग मानकर चलना चाहिए। मैंने अपने जीवन में

भोगा है उसे जो सुनेंगे तो आपकी आंखों में पानी भर आएगा।— इत्यादि।

इधर वह छात्रमहोदय कक्षा में जाके बैठे। लेकिन उधर गंधे जी ने प्रवेश किया और तुरंत ये बाहर आए और पुनश्च पंडित जी के पास जाकर वही शिकायत करने लगे— "मुझे ये अध्यापक नहीं चाहिए। किसी दूसरे अनुभवी अध्यापक की व्यवस्था कीजिए।" अब पंडित जी के सामने अनुशासन का प्रश्न था। उन्होंने कठोर शब्दों में कहा— "देखिए, विद्यालय का प्राचार्य मैं हूं। मैं जिस अध्यापक के पास आपको सौंप दूंगा उससे आपको सीखना होगा। अगर यह आपको मंजूर न हो तो आप जा सकते हैं। आपके पंद्रह रुपयों पर विद्यालय नहीं चला है।"... अस्तु। इस प्रातिनिधिक घटना से पंडित जी की कार्यपद्धति का अनुमान हो सकता है। और यह तो तबकी बात है जब वे १९४५ के बाद दुबारा प्राचार्य बने थे।

विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय

'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' संस्था द्वारा संचालित 'गांधर्व महाविद्यालय' से पंडित जी के अलग हो जाने की घटना कोई साधारण घटना नहीं थी। जिस बिरवे को (पौधे को) बीजवपन से वृक्ष बनने तक उन्होंने गहरी लगन और अथक परिश्रम से पाला पोसा उससे किसी निर्मोही की तरह संबंध विच्छेद स्वीकारना कोई मामूली बात नहीं। महाविद्यालय से अलग हो जाने के बाद भी पं. विनायकराव जी 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' के सदस्य बने ही रहे और मंडल की हर सभा में उपस्थित रहकर अपने परामर्श और सक्रिय सहयोग के द्वारा उन्होंने मंडल के साथ अपना संपर्क बनाए रखा। किंतु केवल इतना ही करके वे कैसे रह सकते थे? विद्यादान के महायज्ञ को वे अधूरा कैसे छोड़ सकते थे! मंडल से अलग हो जाने के बाद उन्होंने अपना एक दूसरा महाविद्यालय स्थापित कर दिया और उसका नाम रखा– 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय'। इस महाविद्यालय के लिए उन्होंने पुणे शहर के एक मध्यवर्ती स्थान को पसंद किया। यह स्थान राजवाडे मंगल कार्यालय' नामक विवाह-समारोह के लिए बनाए हुए विशाल भवन के पड़ोस में था। चार कमरों वाले इस नए स्थान पर १ मई १९५२ को पंडित जी का यह नया महाविद्यालय शुरू हुआ और चंद ही दिनों में उसका कारोबार धूमधाम के साथ शरू हुआ।

'विष्णु दिगंबर संगीत विद्यालय' को आरंभ करते समय पंडित जी को विद्यालय की सारी तैयारी नये सिरे से करनी पड़ी, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं। वाद्य, दरियां, ग्रंथ आदि सब कुछ उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय को भेंट कर दिया। परंतु पडित जी जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हिम्मत के साथ काम लिया

और धीरे धीरे सभी सामग्री जुटा ली और एक वर्ष के अंदर यह नया महाविद्यालय सभी सुविधाओं के साथ संपन्न हो गया। परंतु यहां जाते-जाते एक बात विचारणीय है कि आदर्श गुरु स्वयं ही एक महाविद्यालय होता है। यदि वह किसी वटवृक्ष के नीचे बैठकर अपना विद्यादान शुरू करे तो भी छात्र उसीकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। और पं. विनायकराव जी तो १९३२ से ही संगीत गुरुओं के सिरमौर बने हुए थे। उनकी इस व्यक्तित्व-संपन्नता का परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार 'गांधर्व महाविद्यालय' में संगीत-शिक्षार्थियों का आवागमन बड़ी संख्या में होता रहता था, उसी प्रकार 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय' में भी छात्रों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती ही रही। इतना ही नहीं बल्कि बाहर से भी छात्रों के आने का क्रम पूर्ववत् ही बना रहा। अकोला से श्रीमती पलसोकर बाई और उड़ीसा से श्रीमती सुनंदा पटनाईक इन्हीं दिनों पंडित जी के पास सीखने के लिए आयी थीं।

इस नूतन संगीत महाविद्यालय में मासिक संगीत सभा, छात्रों की स्पर्धाएं, वार्षिक संमेलन इत्यादि सांस्कृतिक कार्यक्रम भी विधिवत् मनाये जाते रहे। अध्यापकों की नियुक्ति का प्रश्न भी आसानी से हल हो चला था, क्योंकि पंडित जी के पुत्र नारायण-राव जी तथा छोटे मधुसूदन जी कक्षाएं लेने के लिए मौजूद थे। पंडित जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उन्हें जनता का आश्रय और प्रेम हमेशा ही मिलता रहा और इसके फलस्वरूप 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय' की तरक्की बहुत अच्छी तरह हो सकी। संगीत की परीक्षाओं के बारे में एक सवाल था कि छात्रों को किन परीक्षाओं में बिठाया जाए। इसपर पंडित जी ने अपनी नयी परीक्षाएं बनाईं। उन्हें सरकारद्वारा मान्यता प्राप्त कर ली और छात्रों को उन परीक्षाओं में बिठाना आरंभ कर दिया। आज पंडित जी के पश्चात् भी यह महाविद्यालय डॉ. मधुसूदन पटवर्धन के नेतृत्व में अपने स्वामित्ववाले नये स्थान पर अपना कार्य सुचारु रूप से निभा रहा है।

आकाशवाणी में उच्च पद

भारत सरकार की आकाशवाणीद्वारा कलाकारों के 'ऑडिशन टेस्ट' लेने की प्रथा सन् १९५३ में, मंत्रीमहोदय डॉ. बालकृष्ण केसकर के परामर्श पर आरंभ हो गयी। इस योजना के तहत आकाशवाणी पर कार्यक्रम प्राप्त करना हो तो कलाकार को पहले 'श्रवण-कसौटी' में उत्तीर्ण होना पड़ता था, फिर चाहे वह कलाकार कितना भी बुजुर्ग क्यों न हो। श्रवण-कसौटी के बारे में कलाकारों के लिए कोई छूट नहीं रखी गयी थी। अब इन कलाकारों की परीक्षा कौन लेगा? इसके लिए वैसा ही अधिकारी व्यक्ति चाहिए। सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने पं. रातंजनकर जी को इस महकमे का अध्यक्ष निर्वाचित किया और उनके साथ एक सदस्य-समिति का गठन कर दिया। उस

सदस्य-समिति में पं. विनायकराव जी का अंतर्भाव था। इस हर बात से पंडित जी की श्रेष्ठता का प्रमाण अपने आप मिल जाता है। पंडित जी ने इस उत्तरदायित्व को अत्यंत मनोयोगपूर्वक निभाया। तत्त्व के बारे में समझौता करने का उनका स्वभाव था ही नहीं। फिर भी ऊंचे ऊंचे कलाकारों के 'अहं' को न दुखाते हुए उनकी परीक्षा लेना आवश्यक था। पंडित जी ने यह कार्य कुशलतापूर्वक निभाया। इस तरह पंडित जी के विद्यानिधित्व का लाभ आकाशवाणी के लिए और प्रकारांतर से समस्त भारत के लिए प्राप्त हो सका।

संगीत-सभाएं और विद्यादान

विद्यादान के इस अनन्त यज्ञ के दौरान पं. विनायकराव जी का भारत भर में संगीत-सभाओं के सिलसिले में संचार चलता ही रहा था। उनके सांगीतिक व्यक्तित्व के दो दो समानांतर पक्ष थे और दोनों उतने ही उदग्र थे। विद्यादान के क्षेत्र में पंडित जी ने जैसा अभूतपूर्व यश संपादन किया वैसा ही यश उन्होंने 'महफिली गायक' के रूप में भी हासिल किया। अगले अध्याय में पंडित जी की 'संगीत महफिलों की विजय-यात्रा' का चित्रपट हमें देखना है।

५

संगीत-सभाओं की विजय-यात्रा

आज भारत में हिंदुस्थानी संगीत-क्षेत्र के अंतर्गत संगीत का शिक्षण बड़े पैमाने पर चल रहा है। लेकिन उसमें एक विचित्र अंतर्विरोध पाया जाता है। जो उस्ताद या पंडित हैं माने महफिल के बादशाह हैं, वे विद्यादान में रस नहीं लेते और जो विद्यादान के व्रत को ईमान से निभाते हैं वे महफिलों में जम नहीं सकते। यह स्थिति देखकर एक विख्यात आंग्ल साहित्यकार के एक कथन की याद आती है—

" One who can does, One who cannot teaches, One who cannot teach, teaches how to teach."

[जिसे करतब दिखाना आता है वह करतब ही दिखाता है, जिसे वह नहीं आता वह दूसरों को करतब दिखाने की शिक्षा देने लगता है और जिसे वह भी नहीं आता वह करतब की शिक्षा कैसे दी जाए यह सिखाने का उपक्रम बनाता है।] यद्यपि संगीत के क्षेत्र में यह तर्क कहीं कहीं चरितार्थ होता दिखाई देता है, तथापि इसके लिए शुरू से ही कुछ अपवाद जरूर मिलते रहे हैं। माना कि संगीत का प्रशिक्षण और संगीत का प्रस्तुतीकरण दोनों में बराबर की ऊंचाई पर रहनेवाले कलाकार संख्या में अत्यल्प होते हैं, किंतु नहीं रहते, सो नहीं। ऐसी नामावली में पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर, पं. विष्णु दिगंबर, उस्ताद अब्दुल करीम खां, पं. भास्करबुवा बखले, उस्ताद अल्लादिया खां, पं. सवाई गंधर्व, श्रीमती मोगूबाई कुर्डीकर इत्यादि श्रेष्ठतर गवैयों का अंतर्भाव होता है। परंतु इस संबंध में ध्यान देने की एक और बात यह है कि यह नामावली पहले खेमे के गवैयों की है, दूसरी पीढ़ी में ऐसे गायक-अध्यापकों की संख्या क्षीण से क्षीणतर होती हुई दिखाई देती है। और उल्लेखनीय यह है कि पं. विनायकराव जी इसी नामावली को रोशन करनेवाले संगीत-चूड़ामणि थे। संगीत-क्षेत्र में अनेक उपाधियां स्थिर हो गयी हैं। यथा

पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के लिए 'गायनमहर्षि', उस्ताद फैयाज खां के लिए 'आफताब-ए-मौसिकी', पं..भास्करबुवा बखले के लिए 'गायनाचार्य' इत्यादि। ये उपाधियां इन महान् गायकों के विद्यादातृत्व को देखकर नहीं बल्कि उनके महफिली गायन को सुनकर ही दी गयी हैं। संगीत-क्षेत्र में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि मात्र विद्यादान की एकान्त साधना करनेवाले संगीत-साधक रसिक समाज के सामने उपस्थित नहीं हो सकते। मतलब यह कि जो महफिलों में जमते हैं उन्हींको उपाधियों से विभूषित किया जाता है। पं. विनायकराव जी को संगीतचूडामणि की उपाधि इसी विशिष्ट सामर्थ्य के कारण मिली थी। यह उपाधि उन्हें श्रद्धेय कुर्तकोटि शंकराचार्य के मठ के द्वारा स्वयं महाराज शंकराचार्य ने दी थी।

और इस बहुमूल्य उपाधि के अनुकूल ही पं. विनायकराव जी ने संगीत-महफिलों के क्षेत्र में अपना अधिकार जमाया था, बल्कि यों कहना चाहिए कि एक तरह का दबदबा ही पैदा कर दिया था। उनके सांगीतिक व्यक्तित्व की इस विशेषता का विस्तारपूर्वक वर्णन करने से पहले यह पुनश्च रेखांकित करना आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व में संगीत-अध्यापन और संगीत-प्रदर्शन के दोनों सूत्र एक दूसरे में गुंथे हुए थे। दोनों में उन्हें समान रूप में रस था और दोनों पर उनका समान अधिकार था। यद्यपि उनके अनेकविध शिष्यों के लिखित एवं मौखिक साक्ष्य के आधार पर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उनका 'फर्स्ट लव' विद्यादान ही था। और तदनुषंगिक संगीतविश्लेषण, संगीतचिंतन, ग्रंथलेखन आदि में वे निरंतर निमग्न रहते थे। तथापि पं. विनायकराव जी की संपूर्ण संगीतयात्रा का अवलोकन करने के बाद यह तथ्य अपने आप प्रकट होता है कि महफिली गायक के रूप में भी पं. विनायकराव जी का कर्तृत्व उच्च कोटि का ही रहा। उन्हें खुद इस बात का विशेष रूप से भान था। इसके बारे में उन्होंने मराठी पत्रिका 'रुद्रवाणी' (जुलाई १९७३) में 'बकलम खुद' वाले लेख में जो लिखा है, उसका उल्लेख 'साधना के पथ पर' शीर्षक अध्याय में हो चुका है। उनके गुरुदेव महाराज पं. विष्णु दिगंबर ने अपने चुनिंदा शिष्यों को संगीत-सभाओं में अपना गायन प्रस्तुत करने का अभ्यास बड़े मनोयोग से कराया था। वस्तुतः भारत के अन्यान्य शहरों में संगीत-परिषदों का प्रणयन करानेवाले पंडित जी महाराज ही थे। इन्हींके प्रयत्नों से १९१० के बाद कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, जालंधर, अमृतसर, लाहौर, सिंध, हैदराबाद, सक्कर, शिकारपुर (स्वातंत्र्यपूर्व) इत्यादि अनेक स्थलों पर संगीत-परिषदों का आयोजन कालांतर से होने लगा। पं. विनायकराव जी इन सभी संगीत परिषदों में प्रतिवर्ष नित्यनियम से न केवल उपस्थित रहते बल्कि सम्मानपूर्वक आमंत्रित किए जाते। यह सब पंडित जी महाराज के मार्गदर्शन का लाभ था। वे अपने प्रमुख शिष्यों को अन्यान्य संगीत-सभाओं में तानपूरे पर संगत करने के लिए

ले जाते। महफिल में रंग कैसे भरना चाहिए, उसमें अन्य कलाकारों से बढ़कर अपना प्रभाव कैसे जमाया जाए तथा रसिक श्रोताओं को अपने गायन के द्वारा कैसे मोहित किया जाए, इसका ज्ञान उच्च कोटि के गवैयों की संगत करने से अपने आप प्राप्त हो सकता है। हमने यह देखा ही है कि पं. विनायकराव जी ने गुरुदेव की सहायता एवं मार्गदर्शन से भूगंधर्व रहमतखां और गायनाचार्य भास्करबुवा बखले की संगत महफिलों में अनेक बार की थी। इसके साथ ही बंबई में गांधर्व महाविद्यालय में 'संगीत प्रवीण' का प्रशिक्षण प्राप्त करते समय और बाद में भी याने १९१८ से १९२२ तक, जो संगीत की परिषदें आयोजित की गयी थीं, उनमें भी पं. विनायकराव जी को गाने का अवसर मिला और इसका भावी जीवन में बड़ा ही लाभ उन्हें मिला। सन १९१९ की परिषद में उन्होंने पं बालकृष्णबुवा, भास्करबुवा, रहमतखां इत्यादि बुजुर्गों की उपस्थिति में अपना गायन प्रस्तुत किया। यह अवसर उनके जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण था कि उसके संबंध में वे खुद लिखते हैं कि उस क्षण से मैं 'गायक' बनने के मार्ग पर अग्रसर हुआ और तबसे १९७३ तक मैंने गायन की हजारों बैठकों में अपना प्रभाव जमाया। इस संदर्भ में एक और तथ्य का बयान भी अस्थान में नहीं होगा। वस्तुतः पं. विष्णु दिगंबर ने बड़ी संख्या में गानेवाले शिष्यों की मंडली तैयार करने का प्रयत्न किया। परंतु केवल ५-६ शिष्यों को महफिली गवैया बनने का सौभाग्य मिला। इनमें पं. नारायणराव व्यास, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, वामनराव पाध्ये इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। तथापि इन सबकी तुलना में पं. विनायकराव जी का पुनश्च अपना एक अलग वैशिष्ट्य झलकता है और वह यह कि महफिली गायन में उन्हें उपर्युक्त गुरुबंधुओं के समान ही रसिकों का आदर तो प्राप्त हुआ ही किंतु इसके साथ ही संगीत-प्रसार के कार्य में उन्होंने जो अपूर्व कार्य किया वह विष्णु दिगंबर के अन्य शिष्यों की तुलना में विस्तार और व्यापकता की दृष्टि से निश्चय ही उल्लेखनीय माना जाएगा।

अभूतपूर्व

पंडित जी ने अपने जीवनकाल में संगीत-सभाओं की जो विजययात्रा की उसकी कतिपय विशेषताएं उनके सांगीतिक व्यक्तित्व को और ही ऊंचा उठाती हैं। पहली बात यह कि इन संगीत-सभाओं की ओर उन्होंने धन लूटने के साधन के रूप में कदापि नहीं देखा। उसके पीछे उनके दो दृष्टिकोण थे। एक यह कि १९३२ से लेकर गांधर्व महाविद्यालय के माध्यम से उन्होंने संगीत-प्रसार का जो अनुष्ठान शुरू किया था उसमें वे अपने लिए मात्र तीस रुपये का वेतन लेते थे। इतने में घर का योगक्षेम चलना दूभर ही था। अतः पूरक धनप्राप्ति के रूप में महाराष्ट्र की और उसके बाहर की संगीत-सभाओं में वे सहभागी होते थे और वहां मिलनेवाले मानधन का उपयोग

घरखर्च के लिए करते थे। और संतोष की बात यह थी कि उन्हें यह मानधन भी अच्छी मात्रा में मिलता था। उनका दूसरा दृष्टिकोण यह था कि वे इन संगीत-सभाओं के द्वारा हिंदुस्तानी संगीत का प्रभाव चारों दिशाओं में जमाकर उसकी प्रतिष्ठा को वृद्धिंगत करना चाहते थे। एक तीसरा आनुषंगिक लाभ भी इससे अपने आप निकल आता था। जिस उत्तर भारत में हिंदुस्तानी संगीत का जन्म हुआ उस मूल भूमि में जाकर महाराष्ट्र के ये गायक अपने जौहर दिखाते थे और उनके आदर का विषय बन जाते थे। लाभ अनेक थे। पंडित जी के इस संगीत-दिग्विजय की एक और विशेषता यह थी कि वे मानधन के लिए कभी अड़ते नहीं थे। यदि कहीं से प्रेमपूर्वक निमंत्रण मिलता तो केवल यात्रा-व्यय लेकर अपना गायन सुनाते। पंडित जी जहां-जहां संगीत-यात्रा पर जाते वहां उनके अनुशासनबद्ध व्यक्तित्व की छाप अपने आप अंकित हो जाती। स्नानोत्तर धार्मिक नित्यक्रम, सूर्यनमस्कारादि व्यायाम और अपने कपड़े स्वयं धोकर अलगनी पर बड़े करीने से सुखाने के लिए डालना उनका हमेशा का रवैया था। वस्तुतः उत्तर भारत के शहरों और कलकत्ता आदि जगहों में पंडित जी को अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त था। परंतु उनका यह स्वावलंबन-व्रत उन्होंने कभी नहीं त्यागा। उनके सभागायन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि कितनी भी प्रतिकूल परिस्थिति हो वे महफिल से विजयी होकर ही निकलते। किस समय कौन-सा राग पेश करना चाहिए, कौन-सी बंदिश और कौन-सी लय अपनानी चाहिए और पहले गाए हुए गायक को किस तरह मात करना चाहिए इसका तंत्र उन्हें बखूबी अवगत था।

इस संदर्भ में १९३८ की एक अभूतपूर्व महफिल का वर्णन सुनाने लायक है। १९३८ में दिल्ली में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन आयोजित किया गया था। वह ऐसा काल था जब पं. विनायकराव जी और पं. नारायणराव जी व्यास की उपस्थिति के बिना कोई भी महफिल पूरी नहीं होती थी। अतः इस संमेलन में भी इन दोनों का कार्यक्रम रखा था। लेकिन उनके साथ ही उस कालखंड के ख्यातिप्राप्त फिल्मी गायक कुंदनलाल सहगल को भी इस संमेलन में निमंत्रित किया गया था। संमेलन तीन दिन का था। पहले दिन अंतिम गायन पं. नारायणराव जी व्यास का हुआ और वह भलीभांति संपन्न रहा। परंतु दूसरा दिन वैसा बीतनेवाला नहीं था। क्योंकि उस दिन के लिए पंडित जी का गायन पहले रखा गया था और सहगल का उनके बाद। और सहगल का नाम सुनकर उस दिन सिनेशौकीन लोगों की भारी भीड़ वहां इकट्ठा हुई थी। दिल्ली की पुरानी लेजिस्लेटिव असेंब्ली का यह हॉल खचाखच भरा हुआ था। किसी गायक या वादक के मंच पर आकर उपस्थित होते ही ये शौकीन लोग तालियां बजाना और कानाफूसियां करना आरंभ कर देते थे। फिर तालियों के साथ कुत्ते-बिल्ली की आवाजें भी निकलती थीं। इसका परिणाम यह हो रहा था कि गायकों को अपना

कार्यक्रम अल्प समय में ही समेट कर मंच से विदा होना पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में पं. विनायकराव जी का नंबर आ गया। पंडित जी के कुछ मित्रों ने उन्हें सलाह दी कि, "महाराज, ऐसे शोरोगुल में आप मत गाइए। आज यहां फिल्मी संगीत सुननेवालों का मेला जमा हुआ है। ये लोग आपको बुरी तरह अपमानित करेंगे।" पंडितजी बोले— "मैं जानता हूं कि उन्हें शास्त्रीय संगीत में जरा भी रुचि नहीं है। और यदि शोरगुल मचाकर उन्होंने मेरा कार्यक्रम बंद कर दिया तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परंतु अगर उन्होंने मेरा कार्यक्रम शांतिपूर्वक सुन लिया तो वह मेरी बहुत बड़ी कामयाबी होगी। यह तो मेरी गानसाधना के लिए एक बड़ा आह्वान है। ऐसे अवसर को मैं चूकने नहीं देना चाहता।"

पंडित जी का गायन आरंभ हुआ। तानपूरे पर बैठे हुए उनके शिष्यगण, सामने बैठे मित्रगण और रसिक श्रोता चिंता में पड़ गए कि अब क्या होगा। परंतु पं विनायकराव जी प्रत्युत्पन्नमति गायक थे। उन्होंने समझ लिया कि इस वक्त विलंबित की चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए और उन्होंने 'अड़ाणा' राग में 'कहीं देखो री घनश्याम' वाली मध्य तीनताल की बंदिश पेश कर दी। उनकी पहली ही सम तारषड्ज पर जो निकली तो सारी सभा मंत्रमुग्ध हो गयी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो तमाम सभागृह क्षणभर के लिए कंपित हो गया हो। केवल छः-सात मिनटों में आलापों को समेट कर पंडित जी ने बोलतानें, तानें आर सरगम की ऐसी वर्षा शुरू कर दी और लयकारी की करामात, तबलिये से सवाल-जवाब आदि की ऐसी धूम मचा दी कि सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। स्थलकाल का भान भूल गए। पंडित जी ने १५ मिनटों में अड़ाणा समाप्त कर दिया और तालियों की बुलंद आवाज से सभागृह निनादित हो उठा। इसके बाद एक भजन गाकर पंडित जी अपना समापन करनेवाले थे। उन्होंने भजन को आरंभ किया और तुरंत उनका ध्यान किसी कोने से आनेवाली असमय की तालियों पर गया। उसी क्षण उन्होंने भजन को किनारे रखा और अड़ाणा का ही तराना– 'उदतन द्रुत नदियन रे' शुरू किया। झट से सारी आवाजें बंद हो गयीं। उस तराने में द्रुत गायन का कमाल, ताल पर अधिकार, भिन्न लय में 'दिर दिर' की प्रस्तुति इत्यादि के द्वारा उन्होंने फिर एक बार बाजी मार दी। और अपना गायन समाप्त किया।

किंतु असली आश्चर्य तो आगे ही आनेवाला था। कुंदनलाल सहगल मंच पर उपस्थित हो गये। उनका गाना सुनने के लिए श्रोताओं ने कान खड़े कर दिए। किंतु सहगल ने गाना नहीं बोलना आरंभ किया। उन्होंने कहा "आज लोगों ने तालियां बजाकर और शोरगुल मचाकर ऐसे महान् कलाकार का अपमान किया इसके लिए मैं बहुत ही लज्जित हो गया हूं और यह सब हुआ मेरा गाना सुनने के लिए। जिन्होंने

अपनी पूरी उमर संगीत की साधना करने के लिए बितायी है, ऐसे ये बुजुर्ग कलाकार हैं। इनके पैरों के पास बैठने की भी मेरी योग्यता नहीं है। ऐसी हालत में यदि मैं आज गाऊंगा तो ऐसे महानुभावों का अपमान करने का भागी बनूंगा। इसलिए मैं आज इस मंच पर नहीं गाऊंगा। आपसे प्रार्थना है कि आप इस तरह की भूल फिर कभी न करें।"

अर्धशतक चमकते रहे

सन १९२३ से १९७५ तक लगाकर ५२ वर्ष पं. विनायकराव जी संगीत-महफिलों के मंच पर सफलतापूर्वक चमकते रहे। १९२३ में बंबई में गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर ने गांधर्व महाविद्यालय द्वारा जो संगीत-परिषद आयोजित की थी, उसमें पं. विनायक-राव जी के साथ पंडित जी महाराज के अन्य शिष्य भी गाए। उस परिषद में महाराष्ट्र की महनीय गायिका श्रीमती हीराबाई बड़ौदेकर जो आगे चलकर 'गान कोकिला' की उपाधि से विभूषित हो गयीं, का भी सहभाग था। उस समय उनकी उम्र केवल १९ की थी। उनकी माताजी पं विष्णु दिगंबर से मिली और अपनी बेटी का गायन रखने की उससे प्रार्थना की। आप तुरंत राजी हो गए। उस दिन एक ही बैठक में पं. विनायकराव जी, पं. ओंकारनाथ के बादमें श्रीमती हीराबाई का गाना हुआ। श्रीमती हीराबाई अपने संस्मरण में बताती हैं कि उस दिन सबका गायन बढ़िया हुआ। हीराबाई जी ने राग पटदीप प्रस्तुत किया। उसपर पं. विनायकराव जी के उद्‌गार थे— "आप बहुत सुंदर गायीं। पटदीप राग मैंने महफिल में आज ही सुना।" पंडित जी के इन उद्‌गारों में उनकी कद्रदानी और राग-विद्या के प्रति उनकी जिज्ञासु वृत्ति अपने आप झलकती है।

पं. विनायकराव जी संगीत-सभाओं में बराबर विजयी वीर की तरह चमकते रहे। किसी भी सभा में उनका पैमाना कभी नीचे नहीं आया। अपनी गान-तपस्या पर उनका पूरा विश्वास था। इसलिए संगीत परिषदों में वे अपना प्रभाव जमाकर ही रहते थे। उत्तर भारत के सभी राज्यों में पंडित जी की एक धाक–सी जम गयी थी। उत्तर भारत की तुलना में महाराष्ट्र से उनकी महफिलें यद्यपि कम हुआ करती थीं तथापि वहां भी पंडित जी अपनी संगीत-प्रस्तुति से गुनिजनों को प्रभावित कर ही देते थे। उनका दावा यह रहा करता था कि मेरे पास जो संगीत है उसमें शास्त्र और कला का सुविहित सामंजस्य है। मेरी संगीत-कला रंजन के मोह में पड़कर शास्त्र की अवहे-लना करना नहीं जानती। बंदिश की ईमानदारी, राग की सच्चाई, ताल का अनु-शासन और लयकारी की बौद्धिक करामात की कसौटी पर पंडित जी का गायन हमेशा खरा ही उतरता था। तथापि कहीं कहीं संगीत परिषदों के व्यवस्थापकों की मजबूरी

आदि के कारण कहिए, पंडित जी को उनका उचित स्थान और सम्मान नहीं मिलता था। किंतु ऐसे समय पर भी वे कभी संतप्त नहीं होते थे। उस परिस्थिति के सिर पर सवार होकर वे अपना खरा किस्सा चमकाकर ही दिखाते थे।

बम्बई की घटना है। बंबई में एक विशाल संगीत-परिषद आयोजित की गयी थी। परिषद में बड़े बड़े उस्तादों का गायन होनेवाला था। पं. विनायकराव जी उसमें निमंत्रित थे। संयोजकों ने पंडित जी का गायन दोपहर चार बजे रखा, याने उस दिन की सभा का आरंभ उन्हींके गायन से होनेवाला था। शुरूवाले प्रोग्राम में प्रायः श्रोताओं की संख्या कम ही रहती है। लेकिन पंडित जी निरुत्साहित नहीं हुए। उन्होंने संयोजकों से कहा मेरे गायन के लिए उस्ताद अल्लादिया खां और उस्ताद फैयाज खां को बुलाइए। मैं उनकी उपस्थिति में गाऊंगा, और कोई श्रोता रहे या न रहे। उनकी प्रार्थना के अनुसार उस जमाने के गानमहर्षि उस्ताद अल्लादिया खां और आफताब-ए-मौसिकी उस्ताद फैयाज खां अपने अपने शागिर्दों और कद्रदानों के साथ उपस्थित हो गए। उस दिन पंडित जी का गायन बहुत ही प्रभावपूर्ण रहा। चुनौती को स्वीकारना और उसको मात करके अपनी विजय प्रस्थापित करना पंडित जी का स्वभाव ही था। उस दिन का उनका गायन सुनकर उस्ताद अल्लादिया खां इतने प्रसन्न हो गए कि पंडित जी की पीठ ठोंकते हुए उनके मुंह से उद्‌गार निकले-- "मेरा मंझी मर नहीं गया" मंझी खां (मंझले खां) खांसाहब के बहुत प्यारे सुपुत्र थे। अपने वालिद से तालीम प्राप्त करने पर भी उस्ताद रहमत खां साहब की कुछ विशेषताओं को भी उन्होंने आत्मसात् किया था। उनके गायन पर समूचा महाराष्ट्र अत्यंत मोहित था। सन १९३७ में, ४० की अवस्था में, उनकी अकाल मृत्यु हो गयी। मंजी खांसाहब के मन में खांसाहब की याद बराबर बनी रहती थी। ऊपर के उद्‌गार में इसकी झलक मिलती है और साथ ही खांसाहब की पैनी दृष्टि के भी दर्शन होते हैं। पंडित जी के गायन में खांसाहब को ग्वालियर घराने का सौंदर्य देखने को मिला, जिसका प्रभाव उन्होंने स्वयं अपने पुत्र मंझीखां के गायन में उस्ताद रहमतखां के माध्यम से पाया था। हो सकता है कि पंडित जी के गायन में अपने पुत्र के गायन का प्रतिबिंब उन्हें इस दृष्टिकोण से देखने को मिला।

इसी तरह उस्ताद अल्लादिया खां साहब का आशीर्वाद पंडित जी को और दो प्रसंगों में मिला। 'रंगमंच और संगीतमंच' अध्याय में यह देखा गया है कि पंडित जी की कुछ नाट्यगीत-स्वररचनाओं पर मुग्ध होकर खांसाहब ने रंगगृह में जाकर उन्हें शाबाशी दी थी। पंडित जी १९४०-४१ में कलकत्ते की संगीत-परिषद में भाग लेने के लिए गये थे। जब वे ऐसी परिषदों में जाते तब अपने सफर के दौरान अन्य शहरों में भी अपने कार्यक्रम पेश करते। इस समय वे पटना से गया की यात्रा कर रहे थे।

उनके साथ उनकी साथ-संगत करने वाले दो-तीन शिष्य भी थे। एक स्थान पर जहां पंडित जी ठहरे थे वहीं पर उस्ताद अल्लादिया खां भी ठहरे थे यात्रा में भी शिष्यों को संगीत–शिक्षा देने का उपक्रम पंडित जी मनोयोग से निभाते थे। एक दिन पंडित जी शिष्यों को राग 'खट' की तालीम दे रहे थे। खां साहब के कानों पर संगीत के स्वर पड़े तो वे उठकर कमरे के पास खड़े हो गए। खट जैसे प्रचलित राग को साधिकार सिखानेवाले पंडित विनायकराव जी से खां साहब बोले – "तुमको अच्छी तालीम मिली है; वरना आजकल खट कौन सिखाता है?"

संगीत के क्षेत्र में 'गुन' ही सर्वोपरि है, जाति-पांति के लिए वहां कोई स्थान नहीं। पं. विनायकराव जी अपने जमाने के सभी उच्च कोटि के उस्तादों का बड़ा आदर करते थे और उनके द्वारा लाभान्वित होने के लिए भी तत्पर रहते थे। इस संदर्भ में उस्ताद फैयाज खां से संबंधित उन्हींके सुपुत्र प्रोफेसर नारायणराव का एक संस्मरण उल्लेखनीय है। बड़ौदे की एक संगीत-सभा में (सन १९४९) पं. नारायण-राव का गायन था। उन दिनों उस्ताद फैयाज खां बहुत बीमार थे। उनके वे आखिरी दिन थे। महफिलों में उनके दर्शन अब नहीं हो सकते थे। फलतः कद्रदानों के 'कोर-निशात' अब नहीं मिलते थे। संगीत की दुनिया ही ऐसी है। जबतक कलाकार चमकता रहता है तभी तक उसकी कद्र रहती है। और कलाकार की मानसिकता ऐसी रहती है कि रसिक भक्तों से नित्य प्रति मिलनेवाला प्रोत्साहन ही उसके लिए प्राणवायु का काम करता है। जब उसमें कमी आ जाती है तब कलाकार का दिल टूटने लगता है। उन दिनों फैयाज खां ऐसी ही मनोदशा में थे। विनायक-राव जी खां साहब के दर्शन करने और अपने स्नेह से उन्हें कुछ कुछ उत्साहित करने के लिए समय निकालना चाहते थे; किंतु अपने संगीतविषयक अनेकविध कार्यों में वे इतने व्यस्त थे कि अपना यह कर्तव्य पूरा करने के लिए समय ही नहीं निकाल पा रहे थे। इसलिए जब पं. नारायणराव बड़ौदा जानेके लिए प्रस्तुत हुए तब उन्होंने उनसे कहा कि उस्ताद फैयाजखां साहब के दर्शन करना न भूलना। खां साहब को मेरा आदरपूर्वक प्रणाम बताओ और यह भी कहना कि हम सभी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि आप इस बीमारी से जल्दी चंगे हो जाएं। पं. नारायणराव खांसाहब के यहां गए। और नम्रतापूर्वक उन्हें पंडित जी का संदेश निवेदित किया। पंडित जी के और खांसाहब के संबंध पुराने थे। संगीत को लेकर उनमें कुछ तात्त्विक मतभेद भी हुए थे; किंतु स्नेह में बाधा नहीं आयी थी। पंडित जी का संदेश सुनकर तथा नारायणराव की नम्रता पर प्रसन्न होकर खांसाहेब ने पास से ही इत्र की एक शीशी निकाली और नारायणराव जी को इत्र लगाकर वह शीशी उन्हें भेंट में दे दी और कहा– "मै जिन्हें अपना मानता रहा वे आजकल इधर दखल देने से भी

रहे। लेकिन तुम आ गए। तुम्हारे वालिद का और मेरा बहुत वर्षों का स्नेह-संबंध है यह स्नेह-सुगंध ऐसा ही साबित रहे, इसलिए यह इत्र की शीशी मेरी तरफ से पंडित जी को दे देना।"

ऋणानुबंध

संगीत सभाओं की विजय-यात्रा के दौरान उत्तर भारत के तथा महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारत के कुछ शहरों से पं. विनायकराव जी के ऋणानुबंध दृढ़तर हो गए। इस संदर्भ में जबलपुर के 'भातखंडे संगीत महाविद्यालय' के संस्थापक संगीताचार्य पं. आर. डी. धनोपिया के संस्मरण से ज्ञात होता है कि इस शहर के साथ पंडित जी के संबंध न केवल सांगीतिक दृष्टि से पक्के हो गए थे। पं. धनोपिया लिखते हैं— "सन १९३८ से ही पंडित जी की इस नगर पर कृपा हुई जब कि इस नगर में 'संगीत समाज' नामक संस्था की स्थापना के अवसर पर दादा देशपांडे (स. भ.) के माध्यम से आपके सुश्राव्य गायन के कार्यक्रम से समाज का उद्घाटन संपन्न हुआ। आपके कर-कमलों द्वारा 'संगीत समाज' का उद्घाटन होना अति सौभाग्य की बात थी।" इस घटना के पश्चात् भातखंडे संगीत विद्यालय में पंडित जी का कई बार आगमन हुआ। सन १९६० के आसपास इसी संस्थाद्वारा आपका अभिनंदन भी स्थानिक महाराष्ट्र हायस्कूल के रामदास हॉल में हुआ, जिसमें संस्थाद्वारा आपको अभिनंदनपत्र भी दिया गया। उन्हीं दिनों जबलपुर के प्रसिद्ध संगीत-परिवार की आदरणीया डॉ. सुशीलाबाई पोहनकर (आज के प्रसिद्ध गायक श्री. अजय पोहनकर की माता जी) के यहां भी आपका अत्यंत हार्दिक स्वागत हुआ। इसी काल में जबलपुर में दिल्ली घराने के उस्ताद नसीर अहमद खां का गायन था। उस समय प्रास्ताविक के तौर पर पं. विनायकराव जी का महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। इस भाषण में पंडित जी ने आधुनिक गायकों की उन बातों पर प्रकाश डाला, जिससे भारतीय संगीत की शुद्धता पर आघात पहुंचता है। उदाहरण के लिए, कुछ गायक 'सरगम' कहते समय स्वर-उच्चारण में उन-उन स्वरों को अति आंदोलित बनाकर उसके मूल व्यक्तित्व को ही बिगाड़ देते हैं। पंडित जी ने इस दोष को क्रियात्मक ढंग से गाकर श्रोताओं के सामने स्पष्ट किया। वस्तुतः इस प्रकार की शैली उस दिन के गायक उस्ताद नसीर अहमद के गायन में भी थी। परंतु पंडित जी सत्य बात कहने में कभी भयभीत नहीं होते थे।

जबलपुर में पंडित जी का आगमन न केवल गायक के रूप में बल्कि कभी कभी परीक्षक की हैसियत से भी होता था। इस संदर्भ में एक विशेष संस्मरण (ब-कौल पं. धनोपिया) उल्लेखनीय है। एक बार सन १९५५ में पं. विनायकराव जी स्थानीय सिटी कॉलेज में. बी. ए. संगीत के परीक्षक के नाते पधारे। उसी अवसर पर सितार की परीक्षा भी आपको लेनी थी। सब श्रोतागण उत्सुक थे यह देखने कि पंडित जी

तो कंठसंगीत के कलाकार हैं। सितार की परीक्षा किस तरह लेनेवाले हैं। किंतु सभी संगीत आचार्य श्रोतागण आश्चर्यचकित हुए। जब पंडित जी ने सितार के बोलों को तराने के माध्यम से हू-ब-हू निकालकर परीक्षार्थी को उन्हें सितार पर बजाने के लिए कहा। सितार की गत भी गाकर बतायी। इतना ही नहीं तो तबले-मृदंग से संबंधित राग अड़ाणा की त्रिवट गाकर तबला-वादक को भी संगत के लिए सामग्री दी।

यहां जाते-जाते यह बताना जरूरी है कि पंडित जी परीक्षा-संचालन में छात्रों को प्रोत्साहित करके उसके ज्ञान की परीक्षा करते। परीक्षार्थी की योग्यता का अंदाज आपको उसके गायन या वादन के शुरू होते ही आ जाता था। फिर बड़ी चतुराई से परीक्षार्थी को प्रोत्साहित करते करते वे उसके सुप्त गुणों की परीक्षा लेते।

जबलपुर को समय समय पर जाने के सिलसिलेमें पंडित जी को एक पारिवारिक लाभ भी हुआ। प्रातःस्मरणीय पं. विष्णु नारायण भातखंडे जी के प्रधान शिष्य डॉ. एस. एन. रातंजनकर के प्रयास से पं. विनायकराव जी की सुयोग्य गायिका कन्या कमलताई पटवर्धन का विवाह-संबंध पं. भातखंडे जी की परंपरा के गायक कलाकार श्री केलकर जी से संपन्न हुआ। इस संबंध के जुड़ जाने से पंडित जी का रायपुर नगर भी स्वाभाविक रूप से आना-जाना होता रहा। इसका आनुषंगिक फल यह हुआ कि खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति डॉ. एस. एन. रातंजनकर जी ने खैरागढ़ विश्वविद्यालय में परीक्षक, अतिथि कलाकार तथा संगीत-गोष्ठियों के मार्ग-दर्शक के रूप में पं. विनायकराव जी को ससम्मान निमंत्रित किया। फिर जबलपुर खैरागढ़ या रायपुर की यात्रा के बीच पड़ता है। इससे समय समय पर पंडित जी का जबलपुर में भी आगमन होता रहता था। एक बार पंडित जी जबलपुर के संगीत महाविद्यालय में एम. ए. के परीक्षार्थी श्री कुलजीतसिंह के गायन पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सिंह जी को अपने कुछ अमूल्य सुझाव दिए। तदनुसार श्री कुल-जीतसिंह न केवल विश्वविद्यालय के स्वर्णपदक-विजेता हुए बल्कि भविष्य में 'सुरमणी की उपाधि से भी विभूषित हुए।

पंडित जी की जबलपुर यात्राओं का एक लाभ यह भी हुआ कि वहां के संगीत-रसिकों को पंडित जी के सुपुत्र पं. नारायणराव पटवर्धन, सुपुत्री कमलताई तथा सच्छिष्य पं. डी. वी. पलुस्कर का गायन सुनने का भी लाभ मिला। क्योंकि पंडित जी अपनी संगीत-यात्रा में चुने हुए शिष्यों को अपने साथ ले जाते थे और संगीत-प्रस्तुति के संस्कार भी उनपर डालते थे। ऐसे शिष्यों की नामावली बड़ी लंबी है। उनमें से कुछ नाम हैं– श्री डी. वी. पलुस्कर, पिंपलखरे (पुणे), जानोरीकर (पुणे), नारायणराव तथा मधुसूदन पटवर्धन (पंडित जी के सुपुत्र), बलवंतराय जायस्वाल, कृ. द. जंगम (बंबई), श्री पेंडसे, विनायकराव कुलकर्णी इत्यादि।

गुरुदेव का आदर्श

पंडित जी की यह सारी कार्यप्रणाली अपने गुरुदेव के आदर्श के अनुसार ही चलती थी। अलग अलग यात्राओं में अलग अलग शिष्यों को वे अपने साथ ले जाते। इससे अनेकविध शिष्यों को उनके मार्गदर्शन का लाभ मिलता था। इससे और भी यह लाभ होता था कि महाराष्ट्र के बाहर के क्षेत्रों में महाराष्ट्र के संगीत-प्रशिक्षण का नमूना प्रस्तुत हो जाता था। एक और आनुषंगिक फल यह निकलता था कि पंडित जी के गायन से और गायन के समय तानपूरा-संगत करनेवाले शिष्यों को उनके द्वारा मिलनेवाले मार्गदर्शन से उस शहर के युवा संगीत-प्रेमी प्रभावित हो जाते थे और उनमें कुछ जन पंडित जी के पास सीखने के लिए पुणे की ओर चल पड़ते थे।

१९४७ में पंडित जी के साथ उनके सच्छिष्य और आज के सुप्रसिद्ध संगीत-गुरु एवं गायक पं. त्र्यंबक जानोरीकर (पुणे) पतियाला संगीत परिषद में गये थे। जानोरीकर जी के साथ पंडित जी के पुत्र श्री रामभाऊ पटवर्धन भी थे। उस संगीत-परिषद में पंडित जी ने आग्रहपूर्वक अपने शिष्य का स्वतंत्र गायन करवाया था। पं. जानोरीकर अपने संस्मरण में रेखांकित करते हैं कि पंडित जी यात्रा में हम सभी शिष्यों तथा सहवादकों के साथ बराबरी के नाते से पेश आते। गायन में संगत करने का मानधन शिष्यों को देने का सवाल ही नहीं था, फिर भी वे नित्यप्रति कोई न कोई छोटी-मोटी भेंट-वस्तु पुस्तकों या अन्य रूप में प्रसादस्वरूप अवश्य देते।

पंडित जी के साथ अनेक समय पर सारंगी की संगत करनेवाले उन्हींके शिष्य श्री मधुकर खाड़िलकर का अनुभव भी यही बताता है। उन्होंने अपने गुरुमहोदय से पैसे की कभी अपेक्षा नहीं रखी। शिष्य होने के नाते पंडित जी पर भी इसका कोई बंधन नहीं था। लेकिन पंडित जी हर कार्यक्रम का मुआवजा मधुकर जी को बिना भूले दे देते। मधुकर जी का होटल था। पंडित जी वहां जाकर उनकी मेज पर उनकी दक्षिणा पहुंचा देते और कहते— "आपने जो मेहनत और अध्ययन किया है उसका यह प्रतिफल है।" कार्यक्रम के समय शिष्यों और सहवादकों की व्यवस्था का स्तर कभी हल्का नहीं रखने देते। उनका आग्रह रहता कि मेरे साथ जो जो शिष्य सहायक आए हैं उनकी और मेरी व्यवस्था में कोई पंक्तिभेद नहीं रहना चाहिए। १९६२ में बऱ्हानपुर (म. प्र.) में उनका एक कार्यक्रम था। मधुकर जी उनके साथ थे। वहां पहुंचने पर पंडित जी ने देखा कि सहवादकों के ठहरने का इंतजाम दूसरे और हल्के स्थान पर हुआ है। पंडित जी ने तुरंत व्यवस्थापक को बुला भेजा और उनसे कहा — "मेरे सहवादकों के ठहरनेका इंतजाम मेरे निवास में ही होना चाहिए। ऐसा हो जाने पर ही कार्यक्रम हो सकेगा, नहीं तो नहीं।" यह फटकार सुनते ही

व्यवस्थापकों ने उन सबकी व्यवस्था इकट्ठा कर दी। ये सारी घटनाएं बहुत छोटी-छोटी हैं किंतु उसके द्वारा पंडित जी के उदात्त और उदार व्यक्तित्व का प्रकाशन हो जाता है। और यह भी ध्यान में आता है कि उनकी प्रत्येक हरकत संगीत की प्रतिष्ठा और संगीत के प्रसार की प्रेरणा से अनुप्राणित रहती थी। पुणे के तबलावादक श्री. दत्तात्रय (दत्तोबा) राऊत जी ने भी अपने संस्मरण में यही बात बतायी है। (पंडित जी उन्हें अपने साथ नेपाल की संगीतयात्रा पर ले गये थे। वारसी की यात्रा में प्रयाग, काशी भी दिखाया।) और एक महत्त्वपूर्ण बात जोड़ दी है कि सहवादकों के साथ सम्मान और समानता का व्यवहार करते समय उनका एक आग्रह अवश्य रहता था कि सहवादक निर्व्यसनी होना चाहिए। अपने इस तत्त्व पर वे हमेशा अटल रहे। एक बार तो तबलानवाज उस्ताद अहमदजान तिरखवा को भी उनकी नाराजी का शिकार होना पड़ा था।

स्वयं अनुशासन का निर्वाह

पंड़ित जी की इन अखिल भारतीय संगीत-यात्राओं के संबंध में एक कुतूहल यह भी हो सकता है कि इन यात्राओं में उनकी कर्मठता, धार्मिकता, अनुशासन, स्वावलंबन, खान-पान के नियम आदि का परिणाम किस तरह हो सकता था? फिर उनके एकांत-प्रिय, अंतर्मुख और गंभीर व्यक्तित्व के लिए यात्राओं की यह धूमधाम और चहल-पहल कैसे सुहाती होगी? इस संबंध में यह निर्भ्रान्त रूप में कहा जा सकता है कि अपनी समस्त दूर और पास की यात्राओं में पंडित जी ने अपने 'कर्मवाद' को भूल कर भी तिलांजलि नहीं दी। यात्रा में वे शिष्य सहयात्रियों के साथ खुल जाते और प्रसन्नतापूर्वक बातें करते हुए यात्रा के श्रम को कम कर देते। अपने साथ उनके अपने खाद्य पदार्थ रहते। वे कभी स्टेशनपर चाय-कॉफी वगैरेह नहीं लेते थे। यद्यपि कुछ अन्य प्रसंगों में उनकी उग्रता और क्रोधीपन प्रकट हो जाता था तथापि संगीत-यात्राओं में वे भरसक शांत रहते और अपने विशिष्ट उच्च स्थान का दबदबा न मचाकर सबके साथ बराबरी का व्यवहार करते। ये अनुभव उनके सहयात्रियों के हैं, जिनमें पुणे की विख्यात गायिका और गानकोकिला हीराबाई बड़ौदेकर की बहन श्रीमती सरस्वती राणे का भी समावेश है।

यात्रा के दौरान पंडित जी अपने सूर्यनमस्कारादि व्यायाम, संध्यावंदन और रियाज के नित्यनियम को मनोयोग से निभाते। वस्तुतः वे अपने जमाने के अत्यंत ख्यातिप्राप्त और समादरणीय संगीत-कलाकार थे। जहां कहीं ठहरते वहां के व्यवस्थापक या गृहस्वामी दोनों हाथ जोड़कर उनकी हर सेवा के लिए तत्पर रहते। परंतु स्नानोत्तर कपड़े धोने और उन्हें सुखाने के लिए डालने के अपने निजी अधिकार का पंडित जी

ने कभी भी त्याग नहीं किया। ऐसी कर्मठता, शुचिर्भूतता और उच्च कोटि की संगीत-सामर्थ्य का मेल बिठाते हुए बड़े बड़े लोग भी हैरान रह जाते थे।

महिला-वर्ग के प्रति पंडित जी का जो पवित्रतम दृष्टिकोण था, उसका पालन भी यात्रा में आग्रहपूर्वक होता था। एक समय वाराणसी में पंडित जी का गायन हुआ। ठुमरी टप्पा की सम्राज्ञी पंडिता सिद्धेश्वरी देवी उपस्थित थीं। उन्होंने पंडित जी को घर चाय पर साग्रह निमंत्रित किया। पंडित जी ने हां तो कहा, लेकिन गए नहीं। इस यत्किंचित् 'अति' को थोड़ा नजरअंदाज कर दें तो यह अवश्य मानना पड़ता है कि अपने आचरण-शुचित्व के द्वारा पंडित जी ने भारतीय संस्कृति का एक जीता-जागता आदर्श ही सबके सामने उपस्थित कर दिया था। इसीके फलस्वरूप प्रत्येक संगीत यात्रा-स्थान में उनका मनःपूर्वक स्वागत होता और कोई भी घरानेदार गृहस्वामी उन्हें बिना संकोच के अपने यहां ठहराने के लिए उत्सुक रहता था।

इन अनेकानेक संगीत-यात्राओं के सिलसिले में अनेक नवोदित और उदय चाहनेवाले गायकों के साथ पंडित जी का सरोकार हुआ। इनमें पं. भीमसेन जोशी, पं. जितेंद्र अभिषेकी और पं. जसराज जी का नाम उल्लेखनीय है। आज ये तीनों स्व-नामधन्य कलाकार हैं। किंतु जब वे साधना के पथ पर थे तब पंडित जी ने उन्हें न केवल बढ़ावा दिया, बल्कि उनका मार्गदर्शन भी किया। इन तीनों महानुभावों ने अपने संस्मरण में इस बात का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख किया है। १९३३ की बात है जब पं. भीमसेन जोशी जालंधर (पंजाब) के 'हर वल्लभ मेले' में कलाकारों का गायन सुनने के लिए आए थे। उस समय उन्होंने उम्र के १६ वर्ष भी पार नहीं किए थे। उन दिनों पंजाब में वे पं. मंगतराम के पास ध्रुपद की शिक्षा पा रहे थे। उस समय पंडित जी गायन-प्रस्तुति के लिए वहां आए थे। महाराष्ट्र के पड़ोसी उत्तर कर्नाटक से आए हुए इस युवक पर पंडित जी का ध्यान गया। उन्होंने उनकी अपनेपन से पूछताछ की। जब उन्हें पता चला कि यह युवक गायन की शिक्षा पाने के लिए सुदूर कर्नाटक से आया है तब उन्होंने कहा —

"अरे, गाना सीखने के लिए तुम्हें इतना दूर आने की क्या जरूरत पड़ी? तुम कर्नाटक के हो न? तुम्हारे घर के पास ही गाना है। वहां जाओ।"

"वहां किसके पास जाना होगा?"

"कुंदगोल गांव जानते हो न? वहां रामभाऊ कुंदगोलकर हैं, उन्हें सवाई गंधर्व कहते हैं। उनके पास जाओ।"

भीमसेन ने पंडित जी की यह सलाह मानी और आज वे किराना घराने के सर्वोच्च

स्तर के गायक हैं। पं. भीमसेन अपने संस्मरण में बताते हैं—" यदि ' विनायकबुवा ' का सुयोग्य मार्गदर्शन मुझे न मिलता, तो कह नहीं सकता कि मेरा भविष्य क्या होता।"

आगे के दिनों में पं. भीमसेन जोशी का गायन भी पं. विनायकराव जी के समवेत होने लगा। इस संदर्भ में पं. भीमसेन बताते हैं—

" अन्य कलाकारों के लिए उनके मन में स्नेहादर की भावना रहती और उनकी बातों से उसकी झलक मिलती। किसी भी सहयोगी छोटे कलाकार की कैसी भी अड़चण का निवारण वे सोत्साह कर देते, उसे बढ़ावा देते। जब जब परिषदों में उनसे भेंट होती तब आस्थापूर्वक पूछते।" पटना के एक बड़े प्रोग्रम में पं. भीमसेन का गायन था। उस वक्त पं. विनायकराव जी ने उन्हें अपने तानपूरे स्वयं स्वर में मिलाकर दिए और पीठ ठोक कर कहा— दिल खोलकर खूब गाइए। इतना ही नहीं तो अपने सुपुत्र नारायणराव जी को पं. भीमसेन के साथ तानपूरे पर संगत करने के लिए कहा। इस प्रोत्साहन का असर गायन पर क्यों न पड़ता ?

कलकत्ते की एक परिषद में श्री जितेंद्र अभिषेकी का गायन था। उन्हें भी पंडित जी से इसी प्रकार बढ़ावा मिला था और उसके बाद कुछ वर्षोपरांत पंडित जी ने अपने विद्यालय में उनका गायन करवाया था। पं. जसराज जी को एक विशिष्ट ढंग से पंडित जी ने बढ़ावा दिया, जिसकी याद जसराज के मन में आज भी तरोताजा है। १९६१ में पं. विनायकराव जी की षष्ठिपूर्ति के भव्य समारोह में पं. जसराज को गायन के लिए निमंत्रित किया गया था। उस समय जसराज जी को पंडित जी ने अपने घर पर ही ठहराया था। महफिल में जसराज जी बहुत अच्छी तरह जम गए। तालियों की वर्षा में उन्होंने अपना गायन समाप्त किया। पंडित जी ने आशीर्वादात्मक भाषण किया और चावल से भरा हुआ चांदी का बढ़िया पात्र उनको भेंटस्वरूप देते हुए उन्होंने कहा—" जसराज जी, देखिए यह चांदी का पात्र पूरा भरा हुआ है। आप का गाना भी भविष्य में इसी तरह भरा-पूरा रहेगा और उसका बराबर उत्कर्ष ही होगा।"

पंडित जी का हमेशा यह दृष्टिकोण रहा कि सभी अच्छे गायक/वादक कलाकारों को उनका उचित स्थान मिलना चाहिए और सभा-गायन का प्रवाह अप्रतिहत रूप में चलना चाहिए इस संबंध में अप्रैल १९८५ के ' संगीत कला विहार ' में पं. विनायक राव जी के गुरुबंधु पं. नारायणराव व्यास के पहले बताए हुए कुछ संस्मरण छपे हैं। सन १९२६–२७ के आसपास पं. नारायणराव व्यास कोल्हापुर से बंबई रहने के लिए आए। नए नए आए थे। बंबई के संगीत क्षेत्र में उनका नाम आजके जितना नहीं था। पं. विनायकराव जी के कार्यक्रमों की बड़ी धूम थी। गणेशोत्सव के दिन थे और गायन-

वादन के अनेक कार्यक्रम चल रहे थे। ऐसे दो कार्यक्रमों में पं. विनायकराव जी का गायन तय हुआ था। किंतु शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे नहीं गा सकते थे। उन्होंने संयोजकों से कहा कि मेरे बदले में मेरे गुरुबंधु पं. नारायणराव व्यास गाएंगे। कोई भी संयोजक कार्यक्रम के यश को अनुमान पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं रहता। उनके ननुनच को पहचान कर पंडित जी ने कहा– "देखिए, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि कार्यक्रम अत्यंत सफल होगा। और सुनिए, अगर प्रोग्राम फेल हो जाए तो मानधन के पैसे आप मुझसे वसूल कर सकते हैं।" इतना आश्वासन मिलने-पर कार्यक्रम तय हो गया और आशातीत रूप में सफल रहा। फिर तो क्या पं. नारायणराव व्यास इस कदर खुल गए कि महफिलों और हर घर बजनेवाली 'राधे कृष्ण बोल मुख से' की ध्वनिमुद्रिकाओं के द्वारा उनका नाम चारों तरफ फैल गया। इस घटना का बयान पं. नारायणराव के सुपुत्र और बंबई विश्वविद्यालय के संगीत विभागाध्यक्ष डॉ. विद्याधर व्यास के संस्मरणों भी मिलता है।

पं. नारायणराव व्यास के साथ

पं. नारायणराव व्यास के साथ पंडित जी के संबंध घनिष्ठ रहे। एक तो वे गुरुबंधु थे और अनेक संगीत–परिषदों में पहले से ही एक साथ सहभागी होते। उनके साथ दूसरे गुरुबंधु पं. ओंकारनाथ ठाकुर और पं. वामनराव पाध्ये भी रहते। इन चारों 'बुलंद' गुरुबंधुओं का संगीत-परिषदों में उपस्थित होना उस काल में अपने सही अर्थ में 'संगीत-सभाओं की विजय-यात्रा' थी। इस संदर्भ में स्वातंत्र्यपूर्व काल की एक संगीत-परिषद की घटना विशेष महत्त्वपूर्ण है। १९४२ में होली के दिनों सिंध प्रांत के शिकारपुर नगर में पंडित जी का कार्यक्रम था। तानपूरे पर साथ करने के लिए उनके एक शिष्य (आज) संगीत प्रवीण पं. दत्तात्रेय (डी. के.) जंगम गए थे। उन्हींके संस्मरण में इस महफिल का विवरण है। पं. विनायकराव जी के साथ पं. नारायणराव व्यास, पं. वामनराव पाध्ये, उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब के पुत्र और उस जमाने के सदाबाहर गायक सुरेशबाबू माने, उस्ताद अमानअली खां-साहब के शागिर्द पं. शिवकुमार शुक्ल और पंजाब के विख्यात गायक पं. भाईलाल थे। शिकारपुर के एक हांडे में (संगीतसभा में) पं. विनायकराव जी का गायन था तो दूसरे हांडे में पं. व्यास जी का। वहां के हांडों में सबेरे ९ से ३ और रात को ८ से ३ का समय नियत था। यह संगीत-परिषद तीन दिन तक चली और उसमें पं. विनायकराव जी को छः बार गायन प्रस्तुत करना पड़ा। श्रोताओं में अधिकतर सिंधी व्यापारी समाज था।

शिकारपुर से सर्वश्री विनायकराव, वामनराव, नारायणराव और भाईलाल तथा श्री

डी. के. जंगम सक्कर को आ गए। उस काल में पं. विष्णु दिगंबर के इन धुरंधर शिष्यों का इतना नाम था कि सक्कर में एक थिएटर में इन तीनों का स्वतंत्र गायन रखा गया। इतनेपर भी श्रोतागण संतुष्ट नहीं हुए। यहां के संयोजक सेठ तुलसीदास जी ने प्रस्ताव रखा कि अब इन तीनों गुरुबंधुओं का एकत्रित रूप में गायन प्रस्तुत हो जाए। तमाम महफिल में उत्साह और उत्तेजना भरी हुई थी। रसिकजनों के इस आवाहन को टालना मुश्किल था। फिर कलाकार को गुणग्राहक श्रोताओं की सेवा करने जैसा संतोषप्रद और क्या है ? बागेश्री का खयाल 'कौन गत भई री मोरी।' मध्यलय तीन ताल में शुरू हुआ और तीनों गानपंडितों ने सवा घंटे तक वह ख्याल पेश करके समस्त श्रोतागणों को संगीत का एक अनोखा दिव्यानंद प्राप्त करा दिया। और इस प्रोग्राम का नाम रखा गया— 'तिगलबंदी।'

तिगलबंदी के ऐसे कार्यक्रम फिर से तो नहीं हुए किंतु जुगलबंदी के कार्यक्रम धूम-धाम से होते रहे और वह भी पं. विनायकराव जी तथा पं. नारायणराव व्यास जी के एकत्रित गायन से। यों जुगलबंदी एकदम से नयी बात नहीं थी। क्योंकि ध्रुपद गायन में दो-दो गायकों के एक साथ ध्रुपद प्रस्तुत करने की परंपरा ही रही है। परंतु ख्याल-गायन में जुगलबंदी का अनुभव निश्चय ही नूतन अनुभव था। ऐसे कार्यक्रम में एक तरह का नाट्य और एक तरह की सुखद स्पर्धा रहती है। दोनों गायक एक ही तालीम पाए हुए हों तो एक दूसरे का गायन अनुपूरक बनकर प्रस्तुत होता है और श्रोताओं के कलास्वाद में एकतानता आ जाती है। यदि गायक भिन्न प्रकृतिवाले और भिन्न घराने के हों तो वह जुगलबंदी कलास्वाद की प्रभावान्विति की दृष्टि से उतनी सफल नहीं लगती। एक और बात यह भी है कि जुगलबंदी के गायन का स्वरूप अधिकतर बहिर्मुखी रहता है, जब कि अकेले कलाकार का गायन अंतर्मुखता के कारण अधिक गहरा और कलात्मक होता है। फिर भी इन दोनों गुरुबंधुओं की इस जुगल-बंदी ने उस जमाने के संगीत-क्षेत्र में अपना एक समां बांध दिया था और काफी अर्से तक उनके इन कार्यक्रमों ने संगीत-रसिकों का भरपूर रंजन किया।

जुगलबंदी के इस सिलसिले के पीछे एक हल्की सी नाट्यमय घटना भी हुई थी, जिसका उल्लेख प्रसिद्ध संगीत-शिक्षक पं. वसंतराव राजोपाध्ये के संस्मरणात्मक लेख में मिलता है। बम्बई के 'व्यास संगीत विद्यालय' में पं. विष्णु दिगंबर जी की पुण्यतिथि हर वर्ष मनायी जाती थी। एक पुण्यतिथि के अवसर पर (१९४५ के आसपास) श्री वसंतराव राजोपाध्ये ने प्रस्ताव रखा कि इस वर्ष पं. नारायणराव और पं. विनायकराव की जुगलबंदी का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाए। अब बात यह थी उन दिनों पं. नारायणराव के ज्येष्ठ बंधु तथा पंडित जी महाराज के ज्येष्ठ शिष्यों में से एक पं. शंकरराव व्यास के साथ पं. विनायकराव जी के तात्त्विक

मतभेद हुए थे और वे इतने चरम सीमा तक पहुंचे थे कि विनायकराव जी ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं व्यासभवन की सीढ़ी पर पैर नहीं रखूंगा। अपने गुरुबंधु के जिद्दीपन को पं. नारायणराव अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने वसंतराव जी से कहा— "व्यर्थ का प्रयत्न मत करो। वे आएंगे नहीं। नाहक मुंह की खाओगे और कुछ नहीं होगा।"

वसंतराव जी को विश्वास था कि पंडित जी महाराज की पुण्यतिथि के लिए पं. विनायकराव जी 'ना' कह ही नहीं सकते। महाराज तो उनका वुइक पॉइण्ट है। और हुआ भी वैसा ही। विनायकराव जी आए और गए। अपनी हमेशा की प्रथा के अनुसार, जिसमें अपने गुरुदेव की पुण्यतिथि में वे कोई नया राग पेश करते थे, उन्होंने 'केदार-बहार' नामक नया राग सुनाया। उसके बाद नारायणराव जी और विनायकराव की जुगलबंदी हुई। उसमें इतनी रंगत आ गयी कि अगले ही शनिवार को श्री ब्रजनारायण जी ने 'सुरसिंगार' की तरफ से पुनश्च वह कार्यक्रम आयोजित किया। उस कार्यक्रम की भी एक संयोगजन्य खासियत बतानेलायक है। उसमें चार 'नारायण' एक ही मंचपर आ गए थे। संयोजक ब्रजनारायण, सारंगीवादक रामनारायण, गायक नारायणराव और दूसरे गायक विनायक नारायण पटवर्धन। तो कहनेका मतलब यह कि उस कार्यक्रम के बाद संगीत के क्षेत्र में 'व्यास-पटवर्धन जुगलबंदी युग' का श्रीगणेश हुआ। उसकी एक दीर्घ ध्वनि मुद्रिका भी (एल. पी.) प्रकाशित हुई है। अस्तु। इन दो गुरुबंधुओं का मेल-मिलाप उनकी गुरुभक्ति ने ही कराया था। ऐसा था वह संगीत-युग! जहा गुरुभक्ति और गानरसिकों की सेवा के लिए प्रतिबद्धता को गायक अपना अटल कर्तव्य मानते थे।

भारत के बाहर भी

भारत के भिन्न भिन्न शहरों में पं. विनायकराव जी ने अपनी महफिलें प्रस्तुत कीं और वहां के संगीत-रसिकों को निहाल कर दिया। परंतु भारत के बाहर भी उनके कार्यक्रम हुए और वहां भी उनको आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सन १९५६ में पंडित जी भारत सरकार की तरफ से नेपाल के दौरे पर गए। यह पांच सदस्यों का एक सांस्कृतिक शिष्ट-मंडल था जिसके सदस्य थे स्वयं पंडित जी और उनके शिष्य पं. मुकुंदराव गोखले, श्री. मधुसूदन पटवर्धन और वादक श्री. शंकरराव बिनीवाले (व्हायलिन) और श्री. दत्तोबा राऊत (तबला)। इस विदेशयात्रा का विवरण तबलावादक श्री. राऊत तथा पंडित जी के सुपुत्र डॉ. मधुसूदन जी के संस्मरण में मिलता है। गांधी जयंती के दिन मुख्य कार्यक्रम और उसके साथ अन्य छोटे कार्यक्रमों का आयोजन किया गया था। शासकीय व्यवस्था बहुत ही सराहनीय थी। उच्च श्रेणी के होटल में सबके निवास की व्यवस्था थी। पुणे से पटना तक का प्रथम श्रेणी का रेल-

किराया और पटना से काठमांडू का वायुयान का किराया दिया गया था। सारा व्यय भारत सरकार ने वहन किया था। हर कार्यक्रम के पूर्वार्ध में पं. मुकुंदराव और श्री. मधुसूदन जी के गायन की जुगलबंदी की प्रस्तुति होती और उत्तरार्ध में पंडितजी का गायन होता। नेपाल में भारतीय दूतावास की ओर से हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन जी सबकी व्यवस्था देखने के लिए मौजूद थे। प्रोग्राम के आरंभ में सुमन जी बढ़िया प्रास्ताविक करते। इससे कार्यक्रम का आरंभ उत्साहमय वातावरण में होता।

इन सभी कलाकारों का सम्मान भी बड़े राजसी ठाठ के साथ हुआ। काठमांडू के प्रशस्त सभागृह में हृद्य सत्कार संपन्न हुआ। उस समय का गायन का कार्यक्रम भी खूब जमा। उसके बाद नेपाल नरेश तथा रानी रत्नादेवी के राजमहल में आयोजित खानगी महफिल ने तो और ही रंग जमा दिया। यह महफिल रात के समय हुई। दूसरे दिन प्रातः पशुपति मंदिर में बैठक हुई क्योंकि यहां पंडित जी ने दरबारी अड़ाणा, त्रिवट, भजन, तथा विलंबित में राग-सागर पेश किया। इस बैठक के संबंध में एक विशेष संयोग यह रहा कि इसी मंदिर में गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर का गायन भी हुआ था। इन तमाम कार्यक्रमों के बाद विदा के अवसर पर कलाकारों को और खासकर पंडित जी को संस्मरणीय मूल्यवान भेंट-वस्तुएं प्रदान की गयीं। इतना ही नहीं, नेपाल की आकाश-वाणी पर पंडित जी तथा मुकुंदराव एवं मधुसूदन जी के गायन का कार्यक्रम भी प्रसारित कराया गया। इस प्रकार पं. विनायकराव जी की यह नेपालयात्रा सर्वार्थ में अत्यंत सफल हो गयी और उसकी बदौलत नेपाल के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंधों के दृढ़ होने में सहायता मिली।

सन १९५४ में भारत सरकार ने रूस, पोलैंड और झेकोस्लोवाकिया से अपने सांस्कृतिक संबंध दृढ़ करने के हेतु एक सांस्कृतिक शिष्ट-मंडल इन देशों के पास भेज दिया। इस शिष्ट-मंडल में भारतीय कंठ-संगीतकला का प्रतिनिधित्व करने का सम्मान पं. विनायकराव जी को मिला। यह एक लक्षणीय बात थी कि संपूर्ण भारत के महान गायकों में से उन्हींका चुनाव इस महनीय कार्य के लिए हुआ। संभवतः इसके दो प्रधान कारण हो सकते हैं। पंडित जी के साथ अन्य कलाकार भी सम्मिलित थे। इनमें पं. रविशंकर (सितार), पं. विजय राघवराव (बांसुरी), उस्ताद शकूर खां (सारंगी) कु. मीरा चटर्जी (गायन), श्रीमती तारा चौधरी (नृत्य), श्री. नारायण स्वामी (सरस्वती वीणा), श्रीमती सुरेंद्र कौर (पंजाबी सुगम संगीत), पं. किशन महाराज तथा ग्यानबाबू घोष (तबला)। इनमें से कतिपय कलाकार आज कीर्ति के शिखर पर हैं, किंतु १९५४ में इनकी गणना बुजुर्ग कलाकारों में नहीं हो सकती थी। इस संपूर्ण सांस्कृतिक शिष्ट-मंडल में पं. विनायकराव जी ही वयस्क व्यक्तित्व और अनुभव

की दृष्टि से वरिष्ठ थे। इस संदर्भ में उस काल में पुणे के प्रतिष्ठित समाचारपत्र दैनिक 'सकाळ' में एक समाचार छपा था : "रूस के दौरे पर जाने के दौरान दिल्ली में शिष्ट-मंडल का प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू से साक्षात्कार हुआ। पं. विनायकराव जी ने प्रधानमंत्री जी के सामनें भजन प्रस्तुत किया : 'अब की टेक हमारी। राखो लाज गिरिधारी' इस भजन से प्रधान मंत्री पं. नेहरू प्रभावित हुए। उन्होंने विनायकराव जी से कहा— "पंडित जी, आप संगीत-विद्या और उम्र दोनों के लिहाज से वरिष्ठ हैं। इन बच्चे लोगों को संभालना।" प्रधानमंत्री जी के इस उद्‌गार में गहरा अर्थ भरा हुआ है। संपूर्ण भारत के महान गायकों में से मराठी प्रदेश के विनायकराव जी का ही चुनाव इस महनीय कार्य के लिए क्यों हुआ, इसका कुछ कुछ संकेत इस उद्‌गार में समाया हुआ है। पं. विनायकराव जी गायन में तो उच्च स्थान के अधिकारी थे ही। परंतु ऐसे उच्च स्थान पर अधिकार पा सकनेवाले अन्य गायक भी थे। पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व में गायन के साथ साथ एक और गुण था– भारतीय संस्कृति का यथोचित प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्तित्व। सदाचारिता, शुचिता, नम्रता, आत्मसम्मान का तेज, जाज्वल्य राष्ट्राभिमान, व्यसनहीनता, और इन सब गुणों को शतगुणित करनेवाली भव्य-दिव्य देहयष्टि। संभवतः यह सोचा गया होगा कि भारतीय गायकों का प्रतिनिधित्व ऐसा ही व्यक्ति कर सकता है। और यह स्पष्ट हो ही जाएगा कि पंडित जी ने अपनी कला तथा अपने आचरण से रूस के सांस्कृतिक परिवेश को भलीभांति प्रभावित किया और अपने देश की शान बढ़ा दी।

२४ अगस्त १९५४ को यह शिष्टमंडल वायुयानद्वारा भारत से रवाना हुआ। जिनीव्हा, जूरिच तथा आस्ट्रिया से होते हुए २६ अगस्त को संध्या के छः बजे सब लोग मास्को पहुंच गये। पं. विनायकराव जी के बहुत से कार्यक्रम रूस में ही हुए। इस यात्रा में उनके कुल २८ जलसे हुए। उनका ब्योरा इस प्रकार है, जिसमें कोष्ठक में जलसों की संख्या दी गयी है : मास्को (६), लेनिनग्राड (३), कीव्ह (२), सोची के समुद्री किनारे पर (१), इरेवान (२), टिफलिस (२), ताश्कंद (२), वॉर्सा (३), पोजनान (१), प्राग (३), ह्रदीस (१), बर्नोला (१) और ब्रात्स्लोव्हा (१)। पंडित जी का सांस्कृतिक शिष्टमंडल का यह दौरा २८ अक्तूबर १९५४ को समाप्त हुआ। और ३ नवंबर १९५४ को सबेरे वे पुणे पहुंच गये।

रूस की इन संगीत-सभाओं में पंडित जी ने विलंबित ख्याल की अपेक्षा द्रुत की बंदिशें, भजन और तराना ही गाना पसंद किया, जो उचित भी था। 'गिरिधर आगे नाचूंगी' (राग बहार), विलंबित में 'घूंघट के पट खोल' (दरबारी), 'पग घुंगरु बांध मीरा नाची' (मालकंस), 'अबकी टेक हमारी' (काफी) तथा उनका सुप्रसिद्ध भजन 'जोगी मत जा' (भैरवी) इत्यादि गीतों के साथ उन्होंने अड़ाणा, तथा

अन्य रागों में तराना गायन पेश किया। ताश्कंद में एक २९, ३० सितंबर को पंडित जी तथा अन्य कलाकारों के जलसे हुए दि. ३० सितंबर को सब लोगों ने 'कांजर्वेटिव म्यूजिक एसोसिएशन' नामक संगीत-संस्था की भेंट की। पंडित जी अपनी डायरी में लिखते हैं– "इस संस्था में ३५० छात्र और १५० शिक्षक हैं। यह देखकर विशेष संतोष हुआ"। १ अक्तूबर को रात देर तक संगीत का कार्यक्रम चलता रहा। रात को बारह बजे के बाद २ अक्तूबर का उदय हुआ और इस अवसर का लाभ उठाकर पंडित जी ने 'रघुपति राघव राजाराम' भजन को बड़ी रंगत के साथ पेश किया। यही नहीं बल्कि श्रोताओं को उसके शब्द समझाकर उन सबसे यह भजन गवा भी लिया।

प्रस्तुत भजन का समस्त विष्णु दिगंबर शिष्यमंडली में विशेष स्थान रहा है। 'प्रेरणा का प्रस्थान-बिंदु' शीर्षक अध्याय में इसका उल्लेख हुआ है कि इस भजन को स्वयं पंडित जी महाराज ने स्वर दिया था और यह भजन महात्मा गांधी जी की सायं-प्रार्थना का एक सम्मानित अंग बन गया था। पं. ना. गो. खरे जी ने महात्मा जी के आश्रम में इसे लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचा दिया था। राष्ट्रीयता, भक्ति-भावना और संगीतकला का मानो त्रिवेणी संगम इस भजन में बन आया था। इसलिए २ अक्तूबर के दिन सुदूर रूस जैसे विदेश में पंडितजी द्वारा इस भजन की प्रस्तुति अपने आप में एक विशिष्ट घटना है। २ अक्तूबर १९५४ के दिन दोपहर पंडित जी दलसमेत मॉस्को पहुंचे। वहां श्रीमती एम्. चंद्रशेखर भारत सरकार द्वारा सचिव के नाते नियुक्त थीं। उनके कमरे में शिष्टमंडल के सभी सदस्य जमा हो गए। पंडित जी ने ४–५ मिनट का भाषण किया। फिर 'रघुपति राघव' भजन गाया और दल के साथियों और वहां के अफसरों को भी अपने साथ गाने के लिए प्रेरित किया।

१४ तथा १५ सितंबर १९५४ को शहर 'कीव्ह' में पंडित जी की संगीत–प्रस्तुतियां हुईं। यहां पंडित जी ने अपनी एक तरकीब से सब श्रोताओं को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने वहां बोली जानेवाली 'युक्राइन' बोली का एक गाना पलुस्कर नोटेशन शैली में देवनागरी लिपि में लिख लिया और सबको ज्यों का त्यों गाकर सुनाया। इतना ही नहीं बल्कि एक जलसे में भी उसे गाया। इन अनेक संगीत-प्रस्तुतियों में पंडित जी की तराना–प्रस्तुति की सर्वाधिक प्रशंसा हुई। यहां तक कि एक प्रस्तुति के समय रूस के तत्कालीन प्रेसिडेंट भी उपस्थित थे। उन्होंने दुभाषिए द्वारा पंडित जी से पूछा कि हो न हो आप अपने मुंह के अंदर कोई मशीन बिठाए हुए हैं, वरना इतनी द्रुत गति से उच्चारण होना कतई संभव नहीं। तब पंडित जी ने मुंह खोलकर दिखाया और कहा कि आप स्वयं ही देख लें! पंडित जी ने ४–९–५४ को मास्को से मिरज नरेश श्रीमंत तात्यासाहब पटवर्धन को पत्र लिखकर अपनी रूस-

यात्रा के बारे में लिखा था। अपनी सभी गतिविधियों के संबंध में 'श्रीमंत' को पत्र-द्वारा सूचित करना वे अपना एक कर्तव्य मानते थे। इस पत्र में पंडित जी ने लिखा है—"हम सबके कार्यक्रम और मेरा गायन भी सब लोगों को बहुत ही पसंद आया। मेरे गायन की समाप्ति पर तालियों की वर्षा होती थी और उस करतल-ध्वनि के बीच मुझे पुनश्च संगीतमंच पर लाकर खड़ा किया जाता था।" इस प्रकार 'इंडियन कल्चरल डेलिगेशन' के साथ पंडित जी की जो रूसयात्रा हुई उससे उनकी संगीत-सभाओं की विजययात्रा में एक संस्मरणीय अध्याय जुड़ गया।

राष्ट्रीय भावना

पं. विनायकराव जी के सांगीतिक व्यक्तित्व में राष्ट्रीय भावना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। जब कभी संगीतद्वारा राष्ट्रीय भाव को अभिव्यक्त करने का अवसर मिलता तब वे सोत्साह उसमें सहभागी होते। राष्ट्रपिता के ये संस्कार विनायक-राव जी पर मुख्यतः दो महापुरुषोंद्वारा अंकित हुए थे एक पं. विष्णु दिगंबर तथा दूसरे लोकमान्य तिलक। इसमें आगे एक और युगपुरुष का नाम जुड़ जाता है—महात्मा गांधी। रूसयात्रा के संदर्भ में 'रघुपति राघव राजाराम' का वर्णन हुआ ही है। इसके साथ ही 'वंदे मातरम्' गीत का पंडित जी के संगीतविषयक कार्य में विशेष महत्त्व है। इसके पीछे उनके गुरुदेव की ही प्रेरणा थी। स्वयं पं. विष्णु दिगंबर जी ने इस राष्ट्रगीत को 'काफी' राग में निबद्ध किया था और अनेक बार राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में उसे गाया भी था। पं. विनायकराव जी इसी तर्ज में 'वंदे मातरम्' गाते थे और इस गीत को इसी राग एवं स्वररचना में गाया जाए, इसके बहुत आग्रही थे। पुणे शहर में प्रतिवर्ष १ अगस्त को लोकमान्य तिलक के पुण्य दिवस की सभा में वे वंदेमातरम् गीत को उसकी संपूर्ण कड़ियों के साथ गाते थे। हाथ में छोटी स्वरपेटिका लेकर बड़ी तन्मयता से लगभग दस मिनट तक उनका वंदे मातरम् गीत सभी श्रोता-गण एक विशेष भावभूमि में बहते हुए सुनते थे। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि लोकमान्य के पुण्य दिवस पर वंदे मातरम् गीत गाने के अपने उपक्रम को पंडित जी ने जीवनभर बिला नागा निभाया था। वे अपनी संगीत-सभाओं का प्रोग्राम ऐसा ही बनाते थे, जिससे १ अगस्त के दिन वे पुणे में रह सकें। यदि किसी कारणवश उन्हें दूर जाना पड़ता तो हर कोशिश के साथ वे उस पुण्य दिवस को अपना वह राष्ट्रीय संगीत-कर्तव्य निभाने के लिए आग्रहपूर्वक उपस्थित हो जाते। उनका यह विशेष उपक्रम लोकमान्य स्मृति-दिवस के साथ ही साथ स्वातंत्र्यवीर सावरकर जयंती तथा अन्य सभी राष्ट्रीय कार्यक्रमों में चलता रहा।

इस 'वंदे मातरम्' गीत के पीछे पं. विनायकराव जी को अपने सहयोगी श्रेष्ठ गायक मास्टर कृष्णराव के साथ एक विवाद में भी उतर आना पड़ा था और

स्वभावगत जिद्दीपन के कारण यह विवाद काफी हदतक आगे बढ़ गया था। १९३१ से १९३९ के अरसे में इस राष्ट्रगीत की तर्ज के विषय में बड़ा ही वाद-प्रतिवाद होता रहा। मास्टर कृष्णराव ने झिंझोटी राग की सरल तर्ज में इस गीत को पेश किया था और उसका प्रचार भी हो रहा था। वस्तुतः १९३१ के पूर्व पं. विष्णु दिगंबर के प्रभाव से तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के संदर्भ से इस गीत की काफी रागवाली तर्ज जनमानस पर अंकित हो गयी थी। और उस कालखंड में रास्ते के कोने कोने पर इसी तर्ज में लोग-बाग इसे गाते हुए सुनायी पड़ते थे। परंतु मास्टर कृष्णराव जी का मत था कि यह तर्ज सामान्य जनों के लिए सरल नहीं है, अतः इसे झिंजोटी में ही गाया जाना उचित है। यह विवाद १९३६-३७ में मानो अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। समाचार-पत्रों के माध्यम से दोनों पक्ष एक दूसरे पर तीरंदाजी करते रहे थे। बड़ी धूमधाम से सभाएं बुलायी जाती थीं और सप्रयोग अपने अपने मंतव्य का समर्थन किया जाता। ऐसी ही एक सभा पुणे के प्रसिद्ध 'तिलक स्मारक मंदिर' में बुलाई गयी थी। इस सभा में अनेक संगीतप्रेमी, राष्ट्रप्रेमी तथा पंडित जी के एवं मास्टर कृष्णराव के पक्षपाती उपस्थित थे। इस सभा में पंडित जी ने प्रतिपादन किया– "जिस प्रकार राष्ट्रगीत के लिए कोई परंपरा रहती है, उसी प्रकार उसकी तर्ज के लिए भी परंपरा का होना अवश्यंभावी है। क्या अंग्रेजों ने 'God Save The King' की तर्ज में कभी परिवर्तन किया है?" फिर 'तिलक मंदिर' की उस सभा में पं. विनायकराव जी ने 'वंदे मातरम्' को विधिवत् गाकर सुनाया और राष्ट्रीय आंदोलन की परंपरा के साथ चली आयी हुई यह तर्ज किस तरह सुयोग्य है इसे भी स्पष्ट करके समझाया। केवल इतने पर ही संतोष न मानकर उन्होंने अपने सुपुत्र श्री नारायणराव के द्वारा इस राष्ट्रगीत को तत्काल अन्यान्य रागरागिनियों में गवाकर प्रस्तुत कराया और यह साबित करने का प्रयास किया कि काफी राग की धुन के सामने अन्य रागों की धुनें किस तरह प्रभावहीन हैं। उस सभा में उनके एक शिष्य (और आगे लोकमान्यद्वारा स्थापित 'केसरी' पत्रिका के १९७५ के एक संपादक) श्री भा. द. खेर उपस्थित थे। वे पंडित जी पर लिखे 'जोगी चला गया।' शीर्षक ७ सितंबर १९७५ के मृत्युलेख में लिखते हैं– "पंडित जी के इस भाषण से हम सभी युवा लोग बहुत प्रभावित हुए। मुझे तो ऐसा लगा कि 'बुवा' साहब के साथ थोड़ी बातचीत करने का मौका पाना चाहिए। इसके लिए जब वे सभास्थान से बाहर जा रहे थे तब मैं उन्हींके साथ रहा। इस समय वे एक दूसरे प्रौढ़ व्यक्ति से कह रहे थे– "अजी, परंपरा का पालन तो होना ही चाहिए। हमारी संस्कृति का यह आदेश है। राष्ट्रगीत की ठुमरी नहीं बना देनी चाहिए।"

इस समस्त वादविवाद का निर्णय भविष्य में एक दूसरी ही घटना ने कर दिया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में राष्ट्रगीत का सम्मान 'जन गण मन' को मिला और 'वंदे मातरम्' को दूसरे स्थान पर रखा गया। इसका फल यह निकला कि अब बंकिमचंद्र रचित इस ऐतिहासिक गीत को दर्जनों तर्जों की यंत्रणाएं भुगतनी पड़ रही हैं। आकाशवाणी का वंदे मातरम्, फिल्मी वंदे मातरम् और इसी तरह के और और ढंग उसके बन गए हैं। लेकिन हां, 'जन गण मन' की जो तर्ज एक बार स्थिर हुई है उसमें राईभर का भी परिवर्तन नहीं हो पाया है। और यही वह विचार-बिंदु है जिसे पं. विनायकराव जी अपने पक्ष के समर्थन में बार बार उठाते थे। इस लघुप्रकरण को समाप्त करने के पूर्व इस विषय पर कुछ तटस्थतापूर्वक विचार किया जाए तो कुछ बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि इस तर्ज के लिए पं. विनायकराव जी का जो आग्रह था उसमें राष्ट्रीय परंपरा के साथ ही गुरुभक्ति की मात्रा कम नहीं थी। दूसरी बात यह कि भारत सरकार ने तर्ज की सुगमता और अंग्रेजी ढंग की आघातयुक्तता के पीछे पड़कर वंदे मातरम् की जो बलि चढ़ा दी उसे स्वीकारा नहीं जा सकता। अच्छा यह होता कि वंदे मातरम् को ही कोई सुलभ रूप दिया जाता और उसीको कायम किया जाता। गुरुद्वारा प्राप्त पंडित जी की तर्ज में गायन की मात्रा कुछ अधिक है और मास्तर कृष्णराव की झिंझोटी की तर्ज में जोश का अभाव है। यदि इस दृष्टिकोण से उस कालखंड में कुछ विचार किया जाता तो समस्या का कोई हल शायद निकलता। इतना सब विचारने के बाद भी यह स्वीकारना ही पड़ेगा कि 'वंदे मातरम्' की तर्ज के प्रति पं. विनायकराव जी की जो निष्ठा थी वह निश्चल थी। जो वे कहते और गाते थे वह उन्हें मन ही मन जंच गया था। उनके स्वभाव में दोगलापन नहीं था। जिसे वे विचारपूर्वक ठीक समझते उसे अनंत विरोधों के बावजूद अंत तक निभाते। 'वंदे मातरम्' से इसका एक अच्छा प्रमाण मिल जाता है।

राष्ट्रीय भावना पंडित जी के सांगीतिक व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग था। अपनी तमाम संगीत-सभाओं में पंडित जी ने ठुमरी गायन भूलकर भी कभी नहीं किया। इसके पीछे भी अप्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रीय भावना ही थी। उपर्युक्त संबंध में श्री भा. द. खेर का एक संस्मरण उल्लेखनीय है। सन १९५९ में पंडित जी की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य में 'केसरी' समाचारपत्र के द्वारा आयोजित सभा में उनका अभिनंदन किया गया। उस समय सहसंपादक के नाते श्री भा. द. खेर ने प्रास्ताविक किया और उसके दौरान पंडित जी की ठुमरी के प्रति होनेवाली अरुचि को रेखांकित किया। सम्मान के उत्तर के लिए किये हुए भाषण में पंडित जी ने इस कटाक्ष को लेकर जो उत्तर दिया वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पंडित जी बोले—"आपकी इस वास्तु के महापुरुष को मैं राष्ट्र-गुरु मानता आया हूं। यह तो नहीं कि मैं ठुमरी गाने में असमर्थ हूं। अगर कहा जाए तो बीसों ठाठ की ठुमरियां मैं अभी गाकर पेश कर सकता हूं। परंतु ध्यान रहे मैं अपने

शिष्यों को ठुमरी कभी नहीं सिखाऊंगा। कारण यह है कि ठुमरी गायन से शृंगारिक भावनाएं प्रज्वलित हो उठती हैं। ठुमरी में जो प्रेमिका रहती है उसका पिया कहीं परदेस में गया होता है। उसकी 'नींद नसानी' वाली दशा रहती है। सोचिए उस अवस्था में उसकी मानसिकता कैसी रहती होगी। उस भावभंगिमा को संगीत के द्वारा प्रस्तुत करते हुए इस राष्ट्रपुरुष के स्मरण से हम शर्मिंदा हो जाते हैं। मैं ठुमरी कभी नहीं सिखाऊंगा, वह पाप नहीं मोल लूंगा।"

और इसी प्रसंग में पंडित जी के सम्मानार्थ जब संपादक महोदय श्रीमान खेर साहब ने उनको शाल ओढ़ायी तब पंडित जी गद्‌गद् हो उठे। उनके मुंह से उद्‌गार निकले— "जीवन में अनेकानेक सम्मान मुझे प्राप्त हुए। दर्जनों शालें मुझे भेंट में मिली हैं। किंतु राष्ट्र-गुरु लोकमान्य तिलक की यह शाल पहनते हुए मैं धन्य धन्य हो गया हूं।"

संगीतद्वारा राष्ट्रसेवा करने का अवसर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की संगत में भी पंडित जी को प्राप्त हुआ। स्वातंत्र्यपूर्व काल में १९३२ में महात्मा जी पुणे के एरवड़ा जेल में बंद थे। दि. २७ तथा २८ सितंबर को आम्रवृक्ष की छाया में उस जेल में महात्मा जी के चरणों में अपनी गानसेवा समर्पित करने का सुवर्ण अवसर पंडितजी को मिला था। उस काल में स्वातंत्र्य-आंदोलन की गति इतनी तीव्र थी कि महात्मा गांधी जी की प्रत्येक हरकत और उनसे संबंधित प्रत्येक घटना को भारतभर में बात की बात में समाचार के रूप में प्रसृत किया जाता। उपर्युक्त घटना के बारे में भी यही हुआ और महात्मा जी के साथ पं. विनायकराव जी के नाम का भी उल्लेख भारत के सभी अखबारों में निकल आया। ऐसा ही एक दूसरा अवसर पं. विनायकराव जी को तब मिला जब १९४२ में राष्ट्रपिता को पुणे के आगाखां महल में बंदी के रूप में रखा गया था। वहां नित्यप्रति महात्मा जी की सायंप्रार्थनाएं होतीं और अवसर मिलने पर महात्मा जी भक्तिसंगीत का श्रवण भी करते। एक अवसर ऐसा आया कि सोमवार के दिन पं. विनायकराव जी को महात्मा जी की सेवा में उपस्थित होना पड़ा। सोमवार को महात्मा जी का मौन व्रत रहता था। स्वाभाविक रूप में पंडित जी ने पूछा कि यदि आपका मौन हो तो मैं किसी और दिन उपस्थित होऊंगा। महात्मा जी ने कागज पर लिखा — "मौन का नियम कानों के लिए लागू नहीं है।"

पं. विनायकराव जी का संपूर्ण जीवन ही संगीतमय था। १९५८ में उनकी षष्ठिपूर्ति का भव्य समारोह आयोजित किया गया। वह आद्योपांत संगीत के जलसों से ही सजा हुआ था। १९७१-७२ में पं. विष्णु दिगंबर जन्मशती समारोह मनाया गया वह भी एक से एक बढ़कर श्रेष्ठ गायक-वादकों की संगीत-प्रस्तुतियों से संस्मरणीय बन गया। पं. विनायकराव जी प्रतिवर्ष २१ अगस्त को अपने गुरुदेव का पुण्यस्मरण करनेके

उपलक्ष्य में उनकी स्मृति में अपनी संगीत-सेवा भी चढ़ाते और गुरुघराने से कोई अलग, अनूठा या नवनिर्मित राग भी प्रस्तुत करते। यह राग प्रस्तुत करते समय वे स्वयं विद्यार्थी बनकर उस राग के समस्त अंगोपांगों का बारीकी से अध्ययन करते और उसे अपने गले पर चढ़ाकर फिर उसे आत्मविश्वासपूर्वक संगीत-सभा में पेश करते। इस अवसर पर राग को पेश करने में संगीत-प्रस्तुति के साथ ही साथ संगीतप्रशिक्षण का भी खयाल रखते और गायन के पूर्व प्रास्ताविक तौर पर उस विशिष्ट राग की रूपात्मक विशेषताओं की व्याख्या करते और उसके बाद उस राग का गायन आरंभ हो जाता।

सभागायन–कौशल

पंडित जी की अनेकानेक संगीत-सभाओं का एक एक करके वर्णन करना संभव नहीं परंतु इन संगीत-सभाओं, परिषदों और खानगी बैठकों में पंडित जी जो गायन प्रस्तुत करते उसकी कतिपय विशेषताओं का और ऐसी संगीत-प्रस्तुतियों के लिए उनके द्वारा प्राप्त योगदान का बयान करना परमावश्यक है।

गायन-परंपरा का विचार करने पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में आती है कि यद्यपि पं. विनायकराव जी ग्वालियर-परंपरा के गायक थे तथापि उन्हें पं. विष्णु दिगंबर के प्रभाव से तथा अपनी स्वीय प्रतिभा की बदौलत ग्वालियर घराने की एक उपशाखा का प्रतिनिधित्व करनेवाले गायक मानना होगा। पं. विनायकराव जी की गायन-शैली के संबंध में आज के जागतिक कीर्तिसंपन्न पं. भीमसेन जोशी जी का यह अभिप्राय विशेष उल्लेखनीय है। पं. भीमसेन अपने संस्मरणात्मक लेख में कहते हैं— "उनका गाना विशुद्ध रूप में ग्वालियर घराने का ही गाना था। तथापि ग्वालियर घराने की पं. शंकर पंडित, कृष्णराव पंडित आदि की जो परंपरा है उसकी अपेक्षा विनायकराव जी का गाना थोड़ा-सा अलग था। ग्वालियर घराने के सर्वसामान्य गायकों में टप्पा अंग की विशेष प्रधानता रहती है, इससे इस प्रकार की शैली में स्थिरता को कम आश्रय मिलता है। एक तरह की चंचलता-सी उनमें महसूस होती है। किंतु विनायकराव जी के गायन में स्थिरता और गंभीरता का गुण विशेष रूप से पाया जाता था।"

पं. भीमसेन जी के उपर्युक्त मंतव्य से यह बात स्पष्ट होती है कि पं. विनायकराव जी ने अपने गायन में आलाप–तत्त्व को अग्रस्थान दिया था। परंतु फिर भी उनके गायन में अतिविलंबित लय की अलसगंभीरता (जिसे कोई शायद दोष भी कह सकता है) नहीं रहती थी। तथापि वह ग्वालियर की निजी लय से कुछ खिंची हुई रहती थी। दूसरी बात यह कि उनका गाना बंदिश के अंग से बढ़ता था। यदि बंदिश की सम पंचम पर हो तो उसकी बढ़त भी पंचम से ही शुरू होती। फिर उसीके लिहाज से बोलतान, बोलबांट और तानफिरत का क्रम आ जाता। डॉ. मधुसूदन पटवर्धन जैसे

उनके निकटवर्ती शिष्यों का यह अभिप्राय है कि उनके गायन में तारसप्तक के 'रिषभ' का सौंदर्य विशेष रूप से प्रकट होता और जब वे उस रिषभ पर ठहराव लेकर अवरोह की ओर तीव्र गति से आ जाते तब सांगीतिक सौंदर्य की परमावधि हो जाती और इस संपूर्ण प्रस्तुति को उनके बेहद सुरीली बुलंद स्वरसंधान और अवरोही मींड के सौंदर्य के कारण एक विशेष गरिमा प्राप्त होती।

अपने ख्याल गायन में पंडित जी ने विलंबित एकताल को ही अधिक अपनाया और झूमरा को भरसक टाल दिया। इसके लिए उनका एक विशेष सांगीतिक दृष्टिकोण था। वह यह कि पारंपरिक झूमरा ताल में संगीत-प्रस्तुति करते समय लयकारी की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इससे संगीत-प्रस्तुति में कला के स्थान पर चमत्कृति को अधिक अवसर मिलने लगता है। पंडित जी को अपने जमाने में जो अखिल भारतीय कीर्ति मिली वह उनके ख्याल गायन की सफलता के कारण ही मिली इसमें संदेह नहीं। अपने संपूर्ण सांगीतिक कार्यकाल में ख्यालगायक के रूप में उन्होंने अपनी प्रतिभा को उजागर किया था। ठुमरी गायन के प्रति उनकी अरुचि का बखान हो ही चुका है। उनकी संगीत-प्रस्तुति में तराना और भजन को भी स्थान रहता था, किंतु वह आनुषंगिक रूप में रहता था। माना कि कतिपय संगीत-सभाओं में उनके तराने पर श्रोतागण अपने को न्योछावर कर देते थे, किंतु यदि पंडित जी के संपूर्ण सांगीतिक व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाए तो चमत्कार-प्रदर्शन को उन्होंने हद से अधिक महत्त्व कभी नहीं दिया। हां, उन्होंने तराने का उपयोग संगीत-परिषदों में एक अमोघ अस्त्र के रूप में अवश्य किया और उसके बल पर परिषद की स्पर्धा में हर बार विजयी रहे। तथापि गौर करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र की दृष्टि से उनकी चित्तवृत्ति ख्यालगायन में रमती थी तो भाव की दृष्टि से भजन गायन में। इसलिए उनके तराने के समान ही उनके 'जोगी मत जा' भजन ने श्रोताओं के हृदयों को जीत लिया था।

पंडित जी ख्यालगायन के बाद जो द्रुत बंदिश गाते उसमें वे इस बात का ध्यान रखते कि उसकी बढ़त तथा उपज विलंबित ख्याल से भिन्न रहनी चाहिए। उनकी आवाज में तानक्रिया के अनुकूल तरलता उतनी नहीं थी, जितनी कि उनके कुछ अन्य गुरुबंधुओं में मिलती। यह उनके लिए एक प्रच्छन्न अनुकूलता ही बन गयी, क्योंकि इससे उनका ध्यान आलाप, बोलबांट आदि पर अधिक गया।

पंडित जी की अपार रसिक-मान्यता के कुछ आनुषंगिक कारण भी देखनेयोग्य हैं। इसमें एक है उनका भव्योदात्त व्यक्तित्व। इस व्यक्तित्व के साथ ही उनकी प्रसन्न सुहास्य मुद्रा और रोम रोम से अभिव्यक्त होनेवाला आत्मविश्वास श्रोताओं के मन में एक स्वाभाविक आश्वासन को जगा देता था। गाते समय पंडित जी किसी भी

प्रकार के मानसिक दबाव में या तनाव की दशा में नहीं रहते थे। उनका अपने सहवादकों को प्रोत्साहित करना और तानपूरे पर संगत करनेवाले शिष्यों को बढ़ावा देना एक अनुभव करने योग्य श्राव्य दृश्य रहता था। द्रुत लय पर उतरने के बाद वे कभी कभी सरगम भी करते और तबलावादक को अपनी कला दिखाने का अवसर देते। ताल-ज्ञान में वे इतने गहरे थे कि बड़े बड़े दिग्गज तपस्वियों के साथ भी पानी की मछली की तरह खेलते और महफिल में प्रसन्नता का प्रवाह बहा देते। पंडित जी के गायन का सही मूल्यांकन करते समय साठोत्तर कालखंड के निकष लगाना ठीक नहीं होगा। उनके गायन को अपने जमाने में रखकर ही देखना होगा। इस दृष्टि से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि पंडित जी का गायन गुरुशिक्षा, शास्त्रज्ञान और रागशुद्धता का कठोरता से पालन करनेवाला गायन था। हां, कुछ हदतक उनकी संगीत-प्रस्तुति पर नाट्यगायन का कुछ प्रभाव हुआ था किंतु वह शास्त्रप्रणीत जितना था उतना ही उन्होंने स्वीकारा था। सारांश, पंडित जी का गायन एक स्थितप्रज्ञ कलासाधक की कला-प्रस्तुति का उत्कृष्ट आदर्श था।

सभागायन और गुरुभक्ति

पं. विनायकराव जी के सभागायन का गठबंधन उनकी अपार गुरुभक्ति के साथ अनोखे ढंग से हुआ था। एक पंथ दो काज नहीं, तीन तीन काजवाली कहावत उनके ऐसे कार्यक्रमों पर चरितार्थ हो सकती है। इन कार्यक्रमों में प्रतिवर्ष के गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर के पुण्यदिवस समारोह का विशेष रूप से उल्लेख करना होगा। पं. विनायकराव जी ने गुरुदेव का पुण्यदिवस एक वैशिष्ट्यपूर्ण 'संगीत-सेवा के द्वारा मनाने का उपक्रम २६ वर्ष तक निभाया था। संगीत के क्षेत्र में गुरुसेवा का महत्त्व अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। परंतु अपने गुरु के पुण्यस्मरण के दिन गुरु के दिए हुए ज्ञान में अपनी ओर से कुछ नया जोड़कर उसे सबके सामने प्रस्तुत करने का पंडित जी का उपक्रम गुरुसेवा के सही अर्थ को उजागर करता है। पंडित जी हर पुण्यतिथि के दिन याने १० अगस्त को एक या दो नए रागों की तैयारी करके उन्हें व्याख्यासहित प्रस्तुत करते। राग को प्रस्तुत करने से वे उस राग के स्वरूप का सांगीतिक विश्लेषण करते और उसके बाद उसकी प्रस्तुति के लिए आरंभ हो जाता। यहां नए राग से मतलब ऐसे रागों से है जो उन्हें गुरुघराने से नहीं प्राप्त हो सके थे तथा ऐसे राग जिन्हें पंडित जी ने स्वयं निर्मित किया था। उदाहरण के लिए गोरख कल्याण, सामंत कल्याण, लाचारी तोड़ी, जयंत मल्हार, बिहागड़ा इत्यादि राग ऐसे थे जो इन्हें गुरुदीक्षा द्वारा नहीं मिले थे। पंडित जी इन रागों का बहुत पहले से अध्ययन करते और जरूरत पड़े तो उनमें नयी बंदिशों को भी बिठाते। गायन के समय जो शिष्य तानपूरे पर बैठते उन्हें गायन के दौरान उस राग की दीक्षा भी मिल

जाती और श्रोताओं में बैठे हुए शिष्यों पर भी उस राग का संस्कार होता। पंडित जी ने पहला पुण्यतिथि-समारोह श्रावण शुद्ध अष्टमी के दिन १० अगस्त १९३२ को संपन्न किया और तबसे प्रति वर्ष यह समारोह बडे उत्साह के साथ मनाया जाता रहा। पंडित जी के ज्येष्ठ शिष्य पं. टी. डी. जानोरीकर ने १९४५ में अहमदनगर में यह पुण्यदिवस समारोह २४ घंटे लगातार संगीत-सेवा द्वारा मनाया। प्रातः ५ बजे से दूसरे दिन प्रातः ५ बजे तक अखंड रूप में गायन-वादन का कार्यक्रम होता रहा। पं. विनायकराव जी इस समारोह में रात के ११ बजे से प्रातः ५ बजे तक याने छः घंटे तक अविकल रूप से गाए। ऐसा ही एक कार्यक्रम पुणे में भी १९५० के आसपास मनाया गया था और उसमें भी पंडित जी ने और उनके शिष्यों ने भक्ति एवं उत्साहपूर्वक संगीत-सेवा समर्पित की थी। पं. जानोरीकर लिखते हैं कि एक पुण्यतिथि-समारोह के अवसर पर पंडितजी की आवाज ने जवाब दे दिया था तो वे रो पड़े थे।

इन समारोहों में जो नए राग गाए जाते रहे उन्हींको आगे चलकर 'राग-विज्ञान', भाग ६ और ७ में स्थान मिला और इस तरह पंडित जी की यह गुरुसेवा संगीत के अध्येताओं के लिए सदैव मार्गदर्शक सिद्ध हुई।

गुरुदेव की पुण्यतिथि के साथ ही गुरुपौर्णिमा का उत्सव भी विद्यालय के द्वारा बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता। पुणे के 'राजवाड़े मंगल कार्यालय' का स्थान इस कार्य के लिए नियत था। गुरुपूर्णिमा के इस कार्यक्रम में पंडित जी के ज्येष्ठ-कनिष्ठ शिष्य-गणों का गायन होता और तत्पश्चात् पंडित जी का गायन होता। यहां भी वे प्रायः कोई नया राग प्रस्तुत करते जिससे शिष्यों को उस राग का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता। इस संबंध में उनके एक प्रिय शिष्य श्री श्रीपाद पेंडसे जी का संस्मरण है कि ऐसी ही एक गुरुपूर्णिमा के दिन पंडित जी 'गोरख-कल्याण' राग गा रहे थे। तानपूरे पर उनके ज्येष्ठ शिष्य पं. मुकुंदराव गोखले और श्री पेंडसे थे। पंडित जी ने अपनी हमेशा की परिपाटी के अनुसार राग के स्वरूप को समझाकर दो-तीन आलाप लिए। श्री मुकुंदराव ने भी आलाप लिए। आगे राग का विस्तार बढ़ता गया। श्री पेंडसे ने भी आलाप दिए किंतु इस राग के 'पंचम स्वर' का अंदाज उनका गड़बड़ हो गया। श्रोतागण हंस पड़े। तब पंडित जी ने वही आलाप पुनश्च लिया और पेंडसे जी को अनुकरण करने का संकेत दिया। जब वह जम गया तब श्रोतागण खुश हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि पंडित जी ने अपने गुरु के पुण्यस्मरण के लिए जो संगीत-सेवा समर्पित की उसके पीछे अपने ज्ञान का विस्तार, शिष्यों का विकास और श्रोताओं का प्रशिक्षण ऐसे एकाधिक उद्देश्य थे और इन उद्देश्यों की परिपूर्ति उनके द्वारा बखूबी होती रही।

पंडित जी के स्वभाव में ही गुरुस्थान में रहनेवाले सभी महान व्यक्तियों के प्रति

विनम्र आदर की भावना सदैव बसती थी। पुणे के 'भारत गायन समाज' का गुरु-पूर्णिमा उत्सव था। 'भारत गायन समाज' के संस्थापक और समाज के सभी शिष्यों के गुरु पं. भास्करबुवा बखले की परंपरा में यह संगीत-संस्था अपना कार्य करती रही है। प्रतिवर्ष की गुरु पूर्णिमा में पं. भास्करबुवा के ज्येष्ठ शिष्य मास्टर कृष्णराव का गायन होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी था। परंतु एक वर्ष (१९३५ में) प्रभात फिल्म कंपनी के चित्रपट का संगीत-निर्देशन करने में वे इतने व्यस्त थे कि अपनी संगीत-सेवा के लिए उपस्थित नहीं हो सकते थे। 'भारत गायन समाज' के पदाधिकारियों के सामने प्रश्न था कि इस समारोह में बुजुर्ग गायक के रूप में किसे निमंत्रित किया जाए। तब पं. विनायकराव जी का नाम सर्वानुमति से तय हुआ; क्योंकि 'समाज' के लोगों को यह ज्ञात था कि यद्यपि पंडित जी पं. विष्णु दिगंबर के शिष्य हैं तथापि पं. भास्करबुवा के लिए भी उनके मन में श्रद्धा है। पंडित जी ने 'समाज' के एक अधिकारी पं. शंकरबुवा अष्टेकर जी से कहा– "भास्करबुवा और विष्णुबुवा मेरे लिए समान रूप से आदरणीय हैं। मैं अवश्य गाऊंगा।"

ऐसा ही एक संदर्भ जगद्विख्यात संत 'अवतार मेहेरबाबा' के संबंध में भी मिलता है। मेहेरबाबा कभी एक स्थान में नहीं रहत थे। उनका संचार अन्यान्य देशों में तथा भारत के विविध भागों में हुआ करता। अपनी इस अनंत यात्रा में प्रतिवर्ष पुणे शहर में भी एक–दो महीना ठहरने का उनका उपक्रम था। उनकी विशेषता यह थी कि वे निरंतर मौनव्रत का पालन करते थे। हर हफ्ते के शनिवार और इतवार के दिन वे भक्तों को दर्शन देते और उस अवसर पर उच्च श्रेणी के कलाकारों द्वारा संगीत-प्रस्तुति का कार्यक्रम हुआ करता। इन संगीत-प्रस्तुतियों में पं. विनायकराव जी का गायन हमेशा हुआ करता; क्योंकि स्वयं मेहेरबाबा उनके गायन पर बहुत संतुष्ट थे। संतश्री पंडित जी का गायन समाप्त होने पर अपना परम संतोष व्यक्त करते और उन्हें अंक में भर कर उन्हें कोई स्मृतिचिह्न प्रसादस्वरूप दे देते।

एक समय पर (नवंबर १९६२ में) मेहेरबाबा के पश्चिमी और भारतीय शिष्य-समुदाय की विशाल सभा में संगीत का कार्यक्रम होना तय हुआ। श्री मेहेरबाबा का आग्रह रहा कि इस सभा में पं. विनायकराव जी का गायन होना ही चाहिए। यह कार्यक्रम ४ नवंबर को सबेरे १० बजे था और पंडित जी को उसी दिन सबेरे ११ के आसपास की रेलगाड़ी से संगीत-परिषद के लिए लखनऊ जाना जरूरी था। उन्होंने अपनी मजबूरी सूचित की लेकिन श्री मेहेरबाबा ने आग्रहपूर्वक कहा कि आपको मेरे लिए गाना ही होगा। आधा घंटा भी सही, लेकिन आपका गायन होना ही चाहिए। आपको ठीक समय पर रेल्वे स्टेशन पहुंचा देने का दायित्व हमारा रहेगा। इसपर पंडित जी मना नहीं कर सके। उन्होंने भैरवी राग में एक तराना पेश किया और मंत्रमुग्ध

होकर सुननेवाली उस सभा को संगीत के आनंद में डुबो दिया। फिर तालियों की धुआंधार वर्षा के बीच उनका गायन समाप्त हुआ और संतश्री का शुभाशीर्वाद पाकर वे विदा हुए।

१९७१ में पं. विष्णु दिगंबर की जन्मशती के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाया गया। इस महोत्सव में तीन संस्थाओं ने भाग लिया था। पं. विनायकराव जी के द्वारा ही स्थापित किंतु अब स्वतंत्र रूप में परिचालित गांधर्व महाविद्यालय, फिर संबध–विच्छेद के बाद पंडित जी के द्वारा संचालित 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय' और पुणे में बहुत पहले से स्थित 'गोपाल गायन समाज'। इन तीनों संस्थाओं ने यह तय किया था कि संपूर्ण वर्ष याने १९ अगस्त '७१ से १८ अगस्त '७२ तक प्रतिमास एक कार्यक्रम 'गांधर्व महाविद्यालय' के सभागृह में संपन्न किया जाएगा और उनमें अनेक ज्येष्ठ और कनिष्ठ कलाकारों की संगीत-प्रस्तुतियां करायी जाएंगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं. विनायक-राव जी इस समारोह में अत्यंत उत्साहपूर्वक सहभागी हुए थे। कलाकारों का परिचय करा देना, संगीत के संबंध में कोई छोटा-मोटा अभिप्राय आवश्यकतानुसार प्रस्तुत करना आदि के द्वारा उन्होंने इन सभी कार्यक्रमों को एक गौरव प्रदान किया था। एक कार्यक्रम में श्रीमती हीराबाई बड़ौदेकर उपस्थित थीं। उस समय पंडित जी ने उनके स्वागत में कहा— "यदि मुझसे कोई पूछे कि गाना कितना सुरीला होना चाहिए, तो मैं तुरंत कहूंगा कि वह हीराबाई जी के जितना सुरीला होना चाहिए।"

विष्णु दिगंबर स्मारक

अपनी गुरुभक्ति के साथ संगीत-सभाओं का संबंध प्रस्थापित करने की पंडित जी की विशेषता थी। उसका सबसे ऊर्जस्वित फल उनके द्वारा मिरज में प्रस्थापित 'विष्णु दिगंबर स्मारक मंदिर' में मिलता है। यह स्मारक वे केवल अपने ही बलबूते पर बनाना चाहते थे, उसमें किसीका भी कोई अर्थसहाय्य वे लेना नहीं चाहते थे। स्मारक के लिए उचित स्थान उन्होंने मिरज ही चुना, क्योंकि गुरुदेव की शिक्षा-दीक्षा यहींपर हुई थी और स्वयं पंडित जी का जन्मस्थान भी मिरज ही था। मिरज नरेश श्रीमंत नारायणराव उर्फ तात्यासाहब पटवर्धन का प्रोत्साहन इस काम के लिए बहुत सहायक रहा। श्रीमंत तात्यासाहब ने मिरज के किला-विभाग में एक जमीन पंडित जी को इस स्मारक के लिए प्रदान की। यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था कि पं. विष्णु दिगंबर जी ने अपनी संगीत-तपस्या रियाज के रूप में इसी स्मारक से एक पड़ोसवाले घर में की थी। इस स्मारक को बनवाने में पंडित जी का यह उद्देश्य था कि मिरज और उसके आसपास के गांवों से गायक लोग यहां अपने संगीत की महफिलें प्रस्तुत करें। साथ ही प्रतिवर्ष पंडित जी महाराज की पुण्यतिथि के

समय भी संगीत सभाएं होती रहें। सारांश यह कि यह स्मारक-मंदिर संगीत-सभाओं का एक आश्रयस्थान बने। अपने अंतिम दिनों में पं. विनायकराव जी मिरज में ही रहने गए थे और इस स्मारक की देखभाल अच्छी तरह करते थे। उनकी मृत्यु के बाद अब विश्वस्तोंद्वारा उसकी निगरानी रखी जाती है और समय समय पर उनके सुपुत्र प्रो. नारायणराव तथा डॉ. मधुसूदन उसकी व्यवस्था देखा करते हैं।

इस मंदिर का उद्घाटन दि. २५ फरवरी १९६६ को मिरज में मिरज-नरेश श्रीमंत तात्यासाहब की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। उस समय अध्यक्ष-पद से श्रीमंत ने जो भाषण दिया था उसका कुछ अंश यहां दिया जाता है— "पं. विष्णु दिगंबर के अनेक स्मारक हुए हैं और होंगे भी। परंतु जिस परिसर में पंडित जी पले और बढ़े और जहां उन्होंने संगीत की अविश्रांत तपस्या की उस परिसर में उनका स्मारक होना और सो भी उनके प्रधान शिष्योत्तम के द्वारा होना अधिक समुचित है। इस मंदिर के सामने ही श्री सोनी जी का घर है। यहां पंडित जी पूरी रात मेहनत करते और राजभवन के एक लिपिक श्री शंकरराव अंबर्डेकर रात भर डग्गे पर उनकी संगत करते। पं. विष्णु दिगंबर जी ने अनेक शिष्यों को तैयार किया। किंतु इन में से जिनके पास संगीत अपने निजी अर्थ में साबित रहा है ऐसे शिष्य इने गिने ही हैं। इन में विनायकराव जी अग्रस्थान में हैं; इसमें मुझे संदेह नहीं। पुत्र को व्यावहारिक धन मिलता है, किंतु शिष्य को कला-धन प्राप्त होता है। पं. विनायकराव जी इस कलाधन के अधिकारी शिष्य हैं। हमारी यही आकांक्षा है कि यह स्मारक-मंदिर संगीत की महफिलों से नित्य जागृत रहे और उसके जरिए संगीत की विपुल सेवा होती रहे।"

इस तरह जीवन भर पंडित जी ने अपनी संगीत-सेवा के माध्यम से संपूर्ण भारत के संगीत-क्षेत्र में अपनी एक मुद्रा अंकित कर दी। अपने जमाने में संगीत की सभाओं के वे विजयी वीर ही थे। उनकी इस संगीत-विद्या, संगीत-प्रस्तुति और संगीत-प्रशिक्षण के फलस्वरूप उन्हें अनेकविध सम्मान प्राप्त हुए, जिनमें सर्वोच्च सम्मान 'पद्मभूषण' उपाधि-प्राप्ति का था। २६ जनवरी १९७२ को यह उपाधि घोषित की गयी और २५ मार्च १९७२ राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति वी. वी. गिरी के हाथों उसका वितरण हुआ। इसी प्रकार २४ दिसंबर १९६५ को भारत सरकार की तरफ से 'संगीत नाटक अकादमी' की ओर से पंडित जी को रत्नसदस्यत्व (फेलोशिप) प्रदान किया गया। तत्कालीन नभोवाणी-मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथों उनका अभिनंदन किया गया। सन १९७३ में ग्वालियर में नगर निगम के द्वारा तानसेन समारोह के उपलक्ष्य में पंडित जी को मानचिह्न प्रदान किया गया। और १९७२ में ब्रिजनारायण की 'सुरसिंगार' संस्था द्वारा 'स्वरविलास' उपाधि प्रदान की गयी।

निःसंदेह ये सभी सम्मान पंडित जी की संगीत-सेवा के ही अवश्यंभावी फल थे।

ऐसे अभिनंदनों और सम्मानों में उस कलाकार के प्रति समाज और शासन की कृतज्ञता अभिव्यक्त हुआ करती है। इन सभी सम्मानों की मालिका में पं. विनायकराव जी की षष्ठिपूर्ति का समारोह भी विशेष महत्त्व रखता है।

जुलाई १९५८ में यह षष्ठिपूर्ति समारोह पुणे में बड़ी धूमधाम से मनाया गया। दि. २० जुले से २२ जुले तक तीन दिन का यह समारोह संगीत–सभाओं और भाषणों से गूंज उठा था। दि. २२ को सायंकाल के अभिनंदन-कार्यक्रम का अध्यक्षस्थान मिरज रियासत के अधिपति श्रीमंत गंगाधर पंत उर्फ तात्यासाहब ने ग्रहण किया था। संगीत की महफिलों में निम्नलिखित कलाकारों की संगीत-प्रस्तुतियां हुईं— गायन में निवृत्ति-बुवा सरनाईक, पं. मास्टर कृष्णराव, श्रीमती हीराबाई बड़ोदेकर, श्रीमती पद्मावती गोखले, पं भीमसेन जोशी, पं. बसवराज राजगुरु, श्रीमती सरस्वती राणे, श्रीमती माणिक वर्मा, पं. राम मराठे, पं. प्रह्लादबुवा जोशी तथा पं. वसंतराव देशपांडे। वादन में पं. अरविंद पारेख (सितार), पं. मंगलवेढ़ेकर (पखावज), श्रीमती पुष्पलता कुलकर्णी (व्हायलिन) तथा खाँ खुर्शीद मिरजकर (सितार) विशिष्ट गायक-वादकों को उनकी संगीत प्रस्तुति के लिए चावल से भरा चांदी का पात्र भेंटस्वरूप पं. विनायकराव जी के हाथों दिया गया।

अभिनंदन-समारोह के अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रीमंत तात्यासाहब ने पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का यथोचित गौरव करते हुए उनके एवं अपने स्नेह के बारे में तथा उनके संगीत-संस्कारों के बारे में समयोचित भाषण किया। इसी षष्ठि पूर्ति के वर्ष में पुणे महानगरपालिका (कार्पोरेशन) के द्वारा पंडितजी को एक मान-पत्र दिया गया और नगर के द्वारा उनका समुचित गौरव किया गया।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि पं. विनायकराव जी ने अपनी संगीत-साधना और संगीत-सेवाओं के द्वारा संपूर्ण भारत को ही उपकृत कर दिया और उसीके प्रतिफल के रूप में उन्हें ये सारे सम्मान प्राप्त हुए। उनके व्यक्तित्व में दो विशेष प्रक्रियाएं हाथ में हाथ मिलाकर चलती रहीं। विद्यादान का महायज्ञ और संगीत-सभा-ओं की विजययात्रा। इन दोनों में से कौन-सा पहलू अधिक बलवान था इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है कि पंडित जी के व्यक्तित्वरूपी सिक्के के ये दो पहलू थे। यदि सिक्के का एक पहलू घिसा हुआ हो तो सिक्का चलता नहीं। पंडित जी की दृढ़ धारणा थी कि मुझे गायक ही बनना है। गायक ही सच्चा गुरु बन सकता है। इस दृष्टि से से वे आदर्श और सच्चे गुरु सिद्ध हुए। उनकी जीवनी का यह एक महत्त्वपूर्ण सारतत्त्व है।

६

एक अनुष्ठान का समापन

विश्वात्मा की लीला अगाध होती है। उसका तटस्थ भाव से सहज निरीक्षण करना भी अपनेमें एक उद्बोधक एवं रंजक व्यापार है। संसार की गतिविधियों का परिचालन अन्यान्य क्षेत्रों के कर्मठ सेवाभावी, जीवनवादी और कर्तव्यपरायण महान व्यक्तियोंद्वारा होता रहता है। किसीमें यह गुण कम रहता है तो किसीमें अधिक। सर्वार्थ में परिपूर्ण तो कोई मनुष्य है नहीं, तथापि जो और जितना गुण जिस किसी व्यक्ति में विद्यमान रहता है, उतनेतक वहांपर परमात्मशक्ति का निवास माना जा सकता है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

(भगवद्गीता : दशम अध्याय)

अर्जुन को कृष्ण भगवान ने समझाया कि संसार में जो जो सत्त्वयुक्त और ऊर्जस्वित है तथा जिसमें विभूतिमत्त्व रहता है, उसे तुम मेरा ही अंश मान लो।

पं. विनायकराव जी ऐसे श्रीमान और ऊर्जित विभूतिमत्त्व के कतिपय गुणों की साकार मूर्ति थे। संगीत के लिए समर्पित इस महान साधक ने अपने जीवन का प्रत्येक कण संगीत के लिए ही न्योछावर किया। उनका जीवन एक आदर्श अनुष्ठान था। विद्यासाधना और विद्यादान इसके दो महत्त्वपूर्ण पहलू थे। इन दो साधनासूत्रों में व्याघात उत्पन्न करनेवाला जो कुछ कारण उपस्थित हुआ, उसका पं. विनायकराव जी ने जी-जान से विरोध किया। हो सकता है कि उनका यह विरोध कभी कभी तर्क की कसौटी पर खरा न उतर सका हो, किंतु वे अपनी ओर से प्रामाणिक थे। इस संघर्ष के फलस्वरूप उनके घरेलू और सामाजिक व्यवहार में अमर्ष या सात्त्विक क्रोध के

उन्मेष बीच बीच में उठते थे और शिष्यों को तथा प्रतिपक्षियों को उनके क्रोध का शिकार बनना पड़ता था। फिर इसकी प्रतिध्वनियां पंडित जी के यहां रसोईघर में भी उठती थीं और सौम्यता की साकार मूर्ति पंडित जी की धर्मपत्नी श्रीमती राधाबाई को 'कांतासम्मित उपदेश' देना पड़ता। ऐसे ही एक प्रसंग में माता जी ने पंडित जी से कहा— "आप शिष्यों पर नाहक गुस्सा होते हैं। इससे विद्या उनके गले कैसे उतरेगी?" उस वक्त हमेशा की रीति के अनुसार एक शिष्य पंडित जी के पूजास्थान के निकट तानपूरे पर अभ्यास करता हुआ बैठा था। पंडित जी ने तुरंत उसे पुकारा और कहा— "पहले **इधर आओ**। बताओ मैं तुम लोगों पर गुस्सा करता हूं, वह किसलिए? बोलो, बोलो।" शिष्य ने दबी जबान से किंतु ईमानदारी से कहा—"जी, आप तो इसीलिए गुस्सा हो जाते हैं कि हम लोग अधिक मेहनत करें, हममें अधिक सुधार हो।" फिर विजयी मुद्रा से श्रीमती जी की ओर देखकर उन्होंने कहा—"देखा, यह बात होती है। तुम तो यों ही मुझे कोसने लगी।"

कथन है कि प्रत्येक महापुरुष की सफलता की पृष्ठभूमि में उसकी पत्नी की मौजूदगी रहती है। पंडित जी ने १९२२ से जीवन के अंत तक जो पहाड़ जैसे अनेकानेक महान कार्य किए वे अपने घर में मंद मंद झिलमिलानेवाली इस ज्योति के आश्वासन पर ही किए। घर की ओर से वे सदैव निश्चिंत रह सके। पंडित जी के अनेक शिष्यों ने अपने संस्मरणों में 'आदरणीया भाभी' जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। श्री विनायक कुलकर्णी (फोटो आर्टिस्ट) लिखते हैं कि १९५६ में मकरसंक्रांति के दिन उस बैच की घरेलू संगीत-कक्षा का समापन था। उस दिन इन ७–८ शिष्यों को पंडित जी ने तथा भाभी जी ने अपने परिवार के सदस्यों–जैसा आग्रहपूर्वक खाना खिलाया था। ऐसे भोजन के प्रसंग अन्यान्य शिष्यों के साथ अनेक बार आते रहते थे। कभी तो किसी शिष्य की चाल-ढाल से पता चलता कि इसे भूख लगी है, जिससे संगीत के रियाज में शिथिलता आ रही है। तब रसोईघर से माता जी उसे कोई पदार्थ प्रेमपूर्वक खाने को देतीं। पं. गंगाधर पिंपलखरे लिखते हैं— "पंडित जी को प्रणाम करने से पूर्व हम सभी छात्रों पर मातृवत् प्रेमवर्षा करने-वाली माता जी को हम सौ बार प्रणाम करते हैं।" श्रीमती राधाबाई के भाई तथा वर्तमान गांधर्व महाविद्यालय के प्राचार्य श्री धुंडिराज मराठे, जो स्वयं पंडित जी के ही शिष्य हैं, अपनी बहन के गुणों का बखान करते अघाते नहीं हैं।

श्रीमती राधाबाई जी ने पंडित जी के साथ अपनी जीवन-यात्रा चार वर्ष पहले समाप्त की और १९७१ के फरवरी में माघ वद्य अष्टमी को आप इहलोक से बिदा हुईं। उस दिन पंडित जी संगीत के दौरे पर थे। १७ फरवरी को यह घटना हुई थी और दूसरे ही दिन पंडित जी पुणे की राह पर थे। किसी अनाकलनीय संबंधसूत्र से

उन्हें मन ही मन अनामिक व्यथा का एहसास हो रहा था। घर आए तो सब कुछ समाप्त हो चुका था। पंडित जी की साथ-संगत विराम पा गयी थी। और यह घटना उस अवस्था में घटित हुई थी; जब कुछेक वर्षों से याने १९६५ से स्वयं पंडित जी के साथ महान व्यक्तियों की एक सनातन व्याधि ने अपनी मित्रता बढ़ाना आरंभ किया था और यह मित्रता काफी घनिष्ठ होने लगी थी। मधुमेह की व्याधि ने सिर उठाया था। यों यह पंडित जी पर एक आघात ही था, क्योंकि पंडित जी के खान-पान आदि की दो विशेषताएं थीं— माधुर्य-भक्ति और पंचमनिषेध। मीठे पदार्थ पंडित जी को बेशुमार प्रिय थे। जलेबी, बसौंधी, श्रीखंड, बर्फी, हलुआ आदि का भरपूर आस्वाद वे लेते थे और 'जो खाएगा वही गाएगा' वाली उक्ति को सार्थक करते थे। मधुमेह ने उनकी इस मधुराभक्ति में भयानक व्याघात उपस्थित कर दिया। किंतु पंडित जी के अंतेवासी बताते हैं कि उन्होंने इस व्याधि की परवाह न करके अपने मधुराभक्ति के व्रत को अंततक बड़े चाव से निभाया। पंडित जी का दूसरा व्रत था पंचमनिषेध। पंचम से तात्पर्य है तमाखू। तमाखू उनके लिए वर्ज्य थी। वे हमेशा कहते, हमारा तो 'मालकंस' का व्रत है (मालकंस में पंचम स्वर नहीं रहता)। चाय भी पंडित जी के खान-पान से कटी हुई थी। वैसे चाय उन्हें अत्यंत प्रिय थी, किंतु उसके त्याग के लिए एक विशेष घटना कारणीभूत हुई थी। १ अगस्त १९२० को लोकमान्य तिलक जी का देहांत हुआ और तबसे पंडित जी ने चाय पीना छोड़ दिया और उसका स्थान कॉफी ने ले लिया।

संदर्भ की बात यह कि धर्मपत्नी का देहांत पंडित जी को इस व्याधियुक्त अवस्था में सहना पड़ा था। उस दिन के बाद भी उनका सामाजिक संपर्क, संगीत तथा संगीत-शिक्षा आदि सब पूर्ववत् होता रहा, किंतु निकट से देखनेवालों को महसूस हुए बिना नहीं रहता था कि कहीं कुछ डांवाडोल हो गया है। जब १९७२ में उन्हें 'पद्मभूषण' का श्रेष्ठ सम्मान प्राप्त हुआ तब उनकी अंतरात्मा ने निश्चय ही अपनी जीवनसंगिनी के स्मरण से आंसू बहाए होंगे। यह सब अनुमान से इसलिए कहना पड़ता है कि उस पीढ़ी के पति-पत्नी संबंध 'मौनं सर्वार्थसाधनम्' की उक्ति को चरितार्थ करते थे। आधुनिक सभ्यता के अनुसार निजी अंतरंग भावों को बहिरंग में लाकर उसका 'सोशल इश्यू' बनाने के पक्ष में उस पीढ़ी के लोग नहीं थे।

१९७१ के बाद पंडित जी को कई और सम्मान प्राप्त हुए जिनका बयान पिछले अध्याय में हो चुका है। उनका सभागायनों, महफिलों और परिषदों का सिलसिला पूर्ववत् जारी ही था, यद्यपि उसमें अब कुछ थोड़ी ढील आ गयी थी। लेकिन गाने का जोश कम नहीं हुआ था। २३ अगस्त १९७५ को पुणे शहर में पंडित जी का स्वर्गवास हुआ। अपने अंतिम वर्षों में पंडित जी पुणे से मिरज को प्रस्थान कर गए

थे और वहींपर अपने ही बनाये हुए 'विष्णु दिगंबर स्मारक' में अपनी संगीतसेवा की साधना में रत हो गए थे। अगस्त आया और गुरुदेव विष्णु दिगंबर का पुण्यतिथि-समारोह (तिथि के अनुसार) पंडित जी ने मनाया। उस अवसर पर स्मारक-मंदिर में उनका गायन हुआ था। उस समय जो श्रोतागण उपस्थित थे, उन्हें पंडित जी के उस गायन में एक अपूर्व तेज का अनुभव हुआ और कइयों को यह भी महसूस हुआ कि शायद यह उज्ज्वलता दीपक के बुझने की निशानी है।

१७ अगस्त को दोपहर चार बजे पंडित जी मिरज से पुणे आए। अपने कनिष्ठ पुत्र डॉ. मधुसूदन जी के पास अपने अंतिम क्षण बिताने की इच्छा से आए। संभवतः वे समझ गए थे कि अब पैगाम आनेवाला है। आते ही पुत्र को बताया- "पुण्यदिवस का समारोह भलीभांति संपन्न हुआ। राजस्नुषा श्रीमती गायत्री देवी जी को भी कुछ पढ़ाया। पुण्य दिवस-समारोह में मेरा गाना अच्छा रहा... आदि।" दिनांक १७ और १८ अगस्त के दिन कुछ ठीक बीते। लेकिन १९ की सुबह को पंडित जी चारपाई से गिर पड़े। उन्हें जमीन पर बिस्तर बिछाकर सुलाया गया। दिनांक २० को सबेरे टायलेट के लिए खुद-ब-खुद ही गए। स्वावलंबन उन्हें छोड़ नहीं सकता था। लेकिन स्वास्थ्य प्रतिकूल हो चुका था। चक्कर खाकर गिर पड़े। शरीर की सारी शक्तियों ने धीरे धीरे जवाब देना शुरू किया था। इतनी अवस्था हो जाने पर २२ अगस्त को उन्हें पुणें के डेक्कन जिमखाना विभाग में स्थित 'डॉ. प्रयाग अस्पताल' में दाखिल कराया गया।

पंडित जी का एक गायन-कार्यक्रम पहले तय हो चुका था, उसे रद करना पड़ा। २१ अगस्त को गुरुवर विष्णु दिगंबर जी की पुण्यतिथि थी। पंडित जी ने मधुसूदन से कहा —"आज का दिन अच्छा है। इस दिन को साध लूं तो बहुत ही भला होगा। अस्पताल में भी उन्हें अपने नियत कार्यक्रमों की फिक्र हो ही रही थी। पंडित जी से मिलने के लिए संगीत और अन्य क्षेत्र के गुनीजनों का तांता लगा ही हुआ था। पंडित जी का निरंतर रामनाम-जप चल रहा था। सबसे बोलना अब लगभग रुक-सा गया था। उस दिन रात को कहने लगे—"मुझे उस पार जाना है, मगर मार्ग नहीं दीख रहा है। कुछ देख रहा हूं पर सुलझता कुछ नहीं।" जब मोटर कार में बिठाया गया तब कहा-"अरे मुझे अस्पताल ले जा रहे हो, लेकिन मेरा नहाना तो रह गया।"

२२ अगस्त के दिन अस्पताल में दाखिल हुए और उसी दिन डिहायड्रेशन ने उन्हें घेर लिया। पानी पिलाया जाता तो कहते मुझे ज्यादा पानी मत पिलाओ, मुझे गाना है...! और उनका गाना अधूरा ही रह गया! २३ अगस्त को सबेरे साढ़े आठ के आस-पास जीवन-ज्योति बुझ गयी। अपने कद्रदान श्रोताओं, भक्तप्रवर शिष्यों और अपने परिवार के प्रेमियों को सदा के लिए छोड़कर पंडित जी उस दिव्य लोक की

यात्रा पर चल पड़े।

बात की बात में यह समाचार सभी संबंधियों के पास पहुंचा और कुछ ही समय में अस्पताल में अंत्य दर्शन के लिए लोगों का तांता लग गया। अंत्ययात्रा समाप्त हुई और 'मिल्यो पौन में पौन' की तरह पंडित जी की आत्मा पंचत्व में विलीन हो गयी। एक देदीप्यमान व्यक्तित्व की परिसमाप्ति हो गयी, एक अभूतपूर्व अनुष्ठान का समापन हो गया। भारतीय संगीत के इतिहास का एक जीता-जागता अध्याय समाप्त हुआ।

दूसरे दिन बैठे बैठे पंडित जी के पुत्र मधुसूदन जी की निगाह छत की ओर गयी, तो अलगनी पर बहुत करीने से सूखने के लिए चढ़ाई हुई धोती और बनियन पर उनका ध्यान गया। हां, पंडित जी ने अंतिम क्षण तक अपना स्वावलंबन का व्रत निभाया था। वह निर्जीव धोती पंडित जी के इस पहलू की एक निशानी बन गयी थी। मधुसूदन जी अपने को संवरण नहीं कर सके। उनका गला रुंध गया और अश्रुधारा बह निकली।

किसी भी महापुरुष के अंतिम क्षणों का अधिक विस्तार से विवरण देना ठीक नहीं और जरूरी भी नहीं। एक बात यह है कि कर्तृत्वसंपन्न महापुरुषों का दैहिक अंत हो सकता है परंतु उनके कार्य की अमिट छाप इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हो ही जाती है। जब हम पंडित जी के बारे में सोचते हैं तब महसूस होता है कि उनके संपूर्ण जीवन का सूत्र एक संकल्पना में समाया हुआ था— '**अनुष्ठान**'। उनकी जीवन-गाथा का मतलब होगा इसी अनुष्ठान के आदि मध्य और विकास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना। पिछले पृष्ठों में इसी दिशा में प्रयास किया गया। अब इस अंतिम बिंदु पर उसका एक विहंगमावलोकन करना वांछनीय होगा। किंतु इसके पूर्व पंडित जी को संगीत से बाहर निकालकर उन्हें थोड़ा नजदीक से पहचानना कम रंजक नहीं होगा।

किसी भी महान व्यक्ति के विषय में जनसाधारण में प्रायः यह कौतूहल रहता है कि ये अपना फुरसत का समय किस तरह व्यतीत करते हैं। बहुत से कलाकारों की तो यह दशा रहती है कि जब वे साधनारत रहते हैं या कलाप्रस्तुति में मगन रहते हैं तब दिव्य मनोदशा में रहते हैं, किंतु जब वह समाधि अंत को प्राप्त करती है तब वे कुछ ऐसे खालीपन को महसूस करते हैं कि उससे राहत पाने के लिए पान-तमाखू, धूम्रपान या सुरापान या नारीसंग वाले बद से बदतर आकर्षणों का शिकार बन जाते हैं। न तो अखबार पढ़ने में रस ले सकते हैं, न भगवत्पूजा में, न और किसी अन्य सुंदर काम में। यह जरूर है कि ये कलाकार रसिकों को अपनी कला से आप्लावित कर देते हैं, उन्हें दिव्यानंद की प्राप्ति कराते हैं किंतु जब वे अपने में अकेले रहते हैं तब अपने को निराधार

और खाली खाली ही पाते होंगे। आज के कलाकारों की स्थिति दूसरी है। उनकी अभिरुचियां बहुमुखी हैं। संगीत के साथ ही साथ जीवन के अन्य अनुभवों को प्राप्त करने के लिए भी वे उत्सुक रहते हैं। पं. विनायकराव जी के जमाने में ऐसी स्थिति नहीं थी। परंतु पंडित जी का रवैया ही दूसरा था। उनकी निर्व्यसनता तो सर्वविदित ही थी। परंतु उनकी स्थिति 'विद्याभ्यसनं व्यसनं अथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्।' (=मुझे तो दो ही शौक हैं – विद्याभ्यास अथवा ईशसेवा) वाले वचन से भी भिन्न थी। अगर यह बताया जाए कि पंडित जी को क्रिकेट का और अंग्रेजी चित्रपटों का अतीव आकर्षण था, तो शायद किसीको आश्चर्य हो सकता है। किंतु पंडित जी अपने फुरसत के समय में क्रिकेट मैच देखने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। पुणे में कैण्टोन्मेण्ट विभाग में स्वातंत्र्यपूर्व काल में बहुत से मैच हुआ करते थे। पंडित जी जो मिले उस वाहन से, या कभी पैदल भी हाजिर हो जाते और मैच का मजा लूटते। अंग्रेजी चित्रपटों में उनकी विशेष अभिरुचि संभवतः उसमें पाये जानेवाले स्वाभाविक अभिनय और भव्य सेटिंग के कारण रही होगी। अखबार को नियमित रूप से पढ़ना पंडित जी का अटल नित्य क्रम था। वे देश और विदेश की गतिविधियों की बराबर जानकारी रखते और घरेलू और बाहरी गपशप में उसके संबंध में मत-प्रदर्शन भी करते। इसीसे राजनीतिक घटनाओं और समस्याओं में भी उन्हें रुचि पैदा हो गयी थी।

पंडित जी स्नान-संध्या, रामजप आदि भी नियमित रूप से निभाते थे। रोज प्रातः उठकर ठंडे पानी से नहाना, अपने कपड़े स्वयं धोकर सुखाने के लिए डालना और तत्पश्चात् संध्यावंदन और सूर्यनमस्कार का व्यायाम यह तो उनका नित्यक्रम था, जिसमें यात्रा के दौरान भी अपवाद रूप में ही व्याघात आता था। कलकत्ता के उस कालखंड के निवासी और पंडित जी के शिष्य श्री शंकरराव जोशी और उनकी पत्नी श्रीमती नलिनी के यहां पंडित जी अपना घर मानकर ही ठहरते थे। परंतु वहां भी वे स्वावलंबन के व्रत को छोड़ते नहीं थे। हां, वहां वे अपना मीठे पदार्थों का शौक अच्छी तरह पूरा कर लेते थे।

पंडित जी की धर्मसंबंधी निष्ठा में संगीत का ही स्थान सर्वोपरि था। हमने यह देखा है कि पूजास्थान के पास में ही वे शिष्यों को तानपूरा लेकर बिठाते और हाथ से भगवान की मूर्ति पर फूल चढ़ाते समय शिष्य का एकाध सुर गलत लगा तो वहीं पर उसे डांटकर समझा देते। वे पुरानी परंपरा के समर्थक थे किंतु पुराणपंथी नहीं थे। उनका प्रत्येक व्यवहार एक गहरे आत्मविश्वास के साथ अनुप्राणित रहता था। गुरुकृपा से और अपनी अमोघ तपस्या से उन्होंने संगीतविद्या की सर्वांगसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इससे उनके व्यक्तित्व में एक अपूर्व आत्मगौरव का तेज अपने आप प्रस्फुटित होता था। "एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।"

(एक ही शब्द का समुचित ज्ञान जिसने पाया और उसका समुचित प्रयोग करना जिसे आया उसे इस लोक में तथा स्वर्ग में भी परम सफलता प्राप्त होती है।) पंडित जी के परितोषपूर्ण आत्मविश्वास का यही रहस्य था। इससे दिग्गज कलाकारों के साथ टक्कर लेते समय भी वे कभी विचलित नहीं हुए और संगीत-तत्त्वचर्चा के समय कट्टर विरोधियों के सामने भी वे कभी नहीं झुके।

वक्त की पाबंदी पंडित जी का एक विशेष गुण था। यों इस प्रकार के अनुशासन की झलक हमें उस पीढ़ी के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों में मिलती है। पंडित जी उसमें से एक थे। घूमने जाने का उन्हें शौक था और अपने घर से ठीक नियत समय पर निकलकर गंतव्य तक पहुंचना और फिर उसी रास्ते पर लौटना उनका एक प्यारा नित्यक्रम था। इस नित्यक्रम की एक खूबी यह थी कि पुणे शहर के कुछ भले व्यक्ति उनके आने-जाने पर ध्यान रखकर घड़ी को ठीक कर लेते थे। वक्त की पाबंदी का यह नियम पंडित जी ने संगीत-सभाओं और संगीत की कक्षाओं में भी बखूबी निभाया था। सबेरे के परिभ्रमण के बावजूद पुणे शहर के राजपथों पर पंडित जी पैदल चलते तब ऐसा लगता मानो पथ भर गया है। सुगठित लंबी गौरवर्ण तनु पर अत्यंत स्वच्छ और सुंदर पहराव शोभायमान रहता था। इस पहराव में ऋतुपरिवर्तन के साथ कुछ बदलाव भी आता था। ठंड के दिनों में लंबी ऊनी शेरवानी, सलवार और सिर पर पूर्णाकृति काली टोपी, तो गर्मी के दिनों में मलमल का कुर्ता और धोती। अपनी हंसमुख प्रसन्न मुद्रा से परिचितों के प्रणाम स्वीकार करते हुए अपनी द्रुतविलंबित गति से उनका जाना देखकर एक व्रतस्थ कलाकार के दर्शनों का दिव्य अनुभव मिलता।

सामान्यतः महान् व्यक्तियों के लिए एक अभिशाप भी रहता है कि उनके कोई अत्यंत निकटवाले अंतेवासी मित्र नहीं रहते। ऐसे व्यक्तियों की उदग्र दिव्यता के कारण संभवतः कोई उनके बहुत निकट नहीं पहुंच पाता अथवा वे अपनी निरंतर की आनंद-समाधि में किसी दूसरे को सहभागी होने नहीं देते। पंडित जी के व्यक्तित्व में यह एकाकीपन बहुत गहरा था। वे सबसे मिलजुलकर बोलते, सुहास्य मुद्रा से नमस्ते-सलाम होता किंतु फिर भी दूसरा व्यक्ति अपने को उनसे कुछ दूरी पर ही पाता। इस विशेषता की कुछ और भी कारणमीमांसा हो सकती है। पंडित जी बालवय से ही अकेले रहे। नौवें वर्ष में लाहौर के कठोर अनुशासनमय वातावरण में वे रहे। फिर अपने संगीतविषयक कार्य के दौरान उन्हें परिवार से भी बराबर दूर ही रहना पड़ा। बचपन में ही माता-पिता का वियोग हुआ और संगीतसाधना की बदौलत अन्य रिश्तेदारों से भी विशेष संपर्क नहीं बढ़ सका। एक और कारण यह हो सकता है कि नित्यप्रति सभा-समाज में उठने-बैठने की आदत पड़ जाने के कारण उन्हें घंटों तक किसी अंतेवासी मित्र के साथ समय बिताना असंभव और अनावश्यक लगता होगा। फिर उनका कुल

जीवन ही इतना कार्यसंकुल था कि मित्रता को जमाने और बढ़ाने के लिए उन्हें फ़ुरसत भी नहीं मिली होगी।

जब जीवन में ऐसे कुछ अभाव पैदा होते हैं तब व्यक्ति उनकी खानापूर्ति किसी दूसरे मार्ग से करना चाहता है। सामान्यतः लोग व्यसनों की शरण लेते हैं, किंतु पंडित जी का सवाल ही दूसरा था। उन्होंने इस कमी को क्रिकेट मैच, सिनेमा, सभाओं के भाषण आदि के द्वारा पूरने की कोशिश की। इसीके साथ एक और शौक उन्हें था नित्य नए नए कपड़े बनवाने का। दर्जनों की संख्या में रेशमी कुर्ते और झब्बे वे बनवाते थे और एकदम कीमती और दर्जेदार। जूतों का भी ऐसा ही शौक था। उन दिनों काले या भूरे पंपशू का फैशन था, सो पंडित जी एक से एक सुंदर पंपशू खरीदते। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि उनके शौक रंगीन नहीं थे, बल्कि सांस्कृतिक थे। कपड़ों की यह भव्यता और सुंदरता गुरुप्रसाद के तौर पर उनके स्वभाव में आयी थी। किंतु इन सब बातों के कारण पंडित जी का व्यक्तित्व कभी नकली या उथला नहीं लगता था। पं. विष्णु दिगंबर के समान उनकी यह वासप्रधानता गवैयों के सर्वसामान्य स्तर को बढ़ाने की दृष्टि से एक योगदान सदृश ही थी।

पंडित जी की स्वास्थ्य-संपन्नता किसी के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती थी। उनके खाने के शौक के बारे में बात हो चुकी है। उनके लिए शाकाहारी पदार्थों में से कुछ भी निषिद्ध नहीं था। खानेवाले अनेक होते हैं किंतु उसे पचाने की भी तो योग्यता रहनी चाहिए। जब वे रूस के दौरे पर जाने के लिए निकले तब उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा की जरूरत पड़ी। उनके फैमिली डॉक्टर श्री वामनराव बापट ने बताया कि मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि पंडित जी का स्वास्थ्य परिपूर्ण और निर्दोष है उन्हें किसी इंजेक्शन वगैरेह की आवश्यकता नहीं। यहां क्षणभर सोचकर देखा जाए तो यह ध्यान में आता है कि जीवनभर संपूर्ण देश में बिजली की तरह भ्रमण करने-के बाद भी पंडित जी का स्वास्थ्य कभी गड़बड़ नहीं हुआ। मधुमेह उनकी देह में सुप्त रूप में था ही किंतु उसे उन्होंने पैंसठवें वर्ष तक सिर उठाने नहीं दिया और उसके बाद भी वे उसकी छाती पर सवार होकर अपना कार्यबहुल जीवनक्रम उसी प्रकार चलाते रहे।

पंडित जी ने जीवन भर में जिस अनुष्ठान को व्रत की तरह निभाया उसकी पृष्ठभूमि में उनके व्यक्तित्व की यह समस्त गुणसंपदा विद्यमान थी। इसी गुणसंपदा के बल पर वे विद्यादान का महायज्ञ और संगीत-सभाओं की विजय-यात्रा दोनों में सफलकाम हो सके। वस्तुतः उनके इस अनुष्ठान के ये ही दो प्रधान पक्ष थे और उन्होंने अपनी आयु में जो जो किया उन सबको हम इन्हीं दो पक्षों के उपपक्ष के रूप में देख सकते

हैं। उनका रंगमंचीय कर्तृत्व भी इसीके अंतर्गत आता है, क्योंकि रंगमंचीय वातावरण का उनकी साधना पर तनिक भी असर नहीं हो सका था।

पं. विनायकराव जी ने अपने जीवनानुष्ठान के द्वारा अपने गुरुवर के कार्य को अत्यंत सशक्त रूप में आगे बढ़ाया। पं. विष्णु दिगंबर तो अपने कार्य के कारण अजरामर हैं ही, किंतु उनको यह अमरत्व जो मिला उसका कुछ श्रेय उनके अनेक श्रेष्ठ शिष्यों को देना होगा। आदर्श शिष्य वही है जो अपने गुरु की कीर्ति में चार चांद लगाकर उसे स्थायी रूप प्रदान करता है। पंडित जी महाराज के बहुत-से शिष्यों ने इस कर्तव्य को निभाकर गुरुऋण से मुक्त होने का भरसक प्रयास किया। पं. नारायणराव व्यास, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. वामनराव पाध्ये, पं. शंकरराव बोड़स, प्रो. बी. आर. देवधर इत्यादि की नामावली, याने पं. विष्णु दिगंबर जी का ही कीर्ति–विस्तार है। इन सबमें पं. विनायकराव जी का नाम अनेक दृष्टियों से वैशिष्ट्यपूर्ण है।

पंडित जी का समस्त जीवन एक निरंतर का अनुष्ठान था और इस अनुष्ठान का केंद्रीय बिंदु था विद्या के प्रति ईमानदारी और उस विद्या को प्रदान करनेवाले गुरु के बारे में अपार श्रद्धा! पं. विनायकराव जी के जीवन का प्रत्येक पहलू इस केंद्रीय प्रेरणा से अनुप्राणित दिखायी देता है। अपने शिक्षाकाल में उन्होंने गुरु को दो वचन दिए थे– संगीतसाधना और संगीतप्रसार का कार्य आजीवन करूंगा और सच्चरित्रता में कोई व्याघात उपस्थित होने नहीं दूंगा। इन दो वचनों का परिपालन उन्होंने आमरण किया। नाट्यक्षेत्र के मोहमयी वातावरण में रहकर भी निर्व्यसनी रहे और वहां भी दो शिष्यों को संगीत सिखाकर इतना तैयार किया कि वे आगे चलकर स्वयं ही अपना विद्यालय चलाने के काबिल हो गए। नाट्यक्षेत्र से अलग होने के बाद तो संगीत-सभाओं के द्वारा, संगीत विद्यालय के द्वारा तथा ग्रंथलेखन के द्वारा उन्होंने संगीत के क्षेत्र में एक धूम ही मचा दी। उनके जितना शिष्य-परिवार किसी अन्य संगीताचार्य के नाम पर नहीं मिलता। भारत के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शहर में उनका कोई न कोई शिष्य मिल ही जाएगा। उन्होंने न केवल संगीत-शिक्षा दी बल्कि शिष्यों को संगीत-प्रसार के लिए प्रेरित किया और न केवल यह बल्कि उन शिष्यों को व्यक्तित्वसंपन्न बना दिया। आज भारत के अन्यान्य शहरों में उनके प्रमुख शिष्य सदाचारसंपन्न रीति से संगीत-साधना और संगीत-प्रसार के कार्य में निमग्न दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ तो अखिल भारतीय स्तर पर संगीत-अभ्युत्थान के कार्य में तन-मन-धन लगाए हुए हैं। इसका मूर्तिमान उदाहरण पंडित जी के एक प्रमुख शिष्य पं. विनयचंद्र मौद्गल्य हैं। दिल्ली में स्थापित उनका गांधर्व महाविद्यालय संगीतविषयक अनेकानेक उपक्रमों और अनुष्ठानों का आधारस्तंभ है।

पंडित विनयचंद्र जी ने अपने गुरुदेव के आदर्शों का अनुसरण करते हुए भारतभर में संगीतप्रसार और संगीत-अभ्युत्थान के लिए अपने को समर्पित कर दिया है। इसका एक दूसरा प्रमाण बम्बई में वाशीस्थित गांधर्व महाविद्यालय मंडल के 'विष्णु दिगंबर भवन' के रूप में सबको मिल रहा है। इस भवन का एक हिस्सा पूरा हुआ है और अल्पकाल में ही वह भव्य भवन पूर्णता को प्राप्त करेगा। मानो पं. विनायकराव जी ने अपने शिष्योत्तम के द्वारा अपने गुरुदेव विष्णु दिगंबर के स्वप्न को साकार कर दिया। १९२४ में बंबई के गांधर्व महाविद्यालय की इमारत को नीलाम के दिन देखने पड़े थे। उस समय पंडित जी ने कहा था— "मेरे शिष्य ही मेरी इमारतें हैं। वे मेरा कार्य आगे चलाएंगे।" उस महापुरुष की वह दिव्य वाणी आज उनके 'नाती–शिष्य' के भगीरथ प्रयत्नों से सत्यस्वरूप सिद्ध हुई। यह पंडित जी महाराज के महान शिष्य पं. विनायकराव जी की महान विजय है। ग्वालियर घराने के देदीप्यमान रत्न पं. कुमार गंधर्व की अध्यक्षता में परिचालित इस 'भवनयज्ञ' में पं. विनयचंद्र जी के साथ पं. विनायकराव जी के अन्य अनेक शिष्य तथा मंडल के दूसरे कार्यकर्ता सम्मिलित हैं, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं।

पंडित जी के विद्यादान के महायज्ञ का सुवर्णफल स्व. डी. वी. ऊर्फ बापूराव पलुसकर हैं। विनायकराव जी बापूराव जी को अपनी समस्त विद्या संपूर्ण मनोयोग से और नितांत निरपेक्ष भाव से प्रदान की। १९३६ से लेकर ६–७ वर्षतक पंडित जी ने बापूराव जी को प्रातः से रात्रितक अलग से समय निकालकर प्रतिदिन चार चार घंटे तक संगीत का अभ्यास कराया था। इसीके साथ दुनियादारी और संगीतक्षेत्र की अन्य व्यावहारिक बातों के संबंध में भी पंडित जी ने उन्हें प्रशिक्षण दिया। इसीका फल यह हुआ कि अकाल मृत्यु के बावजूद भी पं. डी. वी. पलुसकर विष्णु दिगंबर परंपरा के एक अन्यतम गायक के रूप में अमर हो गए। पं. डी. वी. पलुसकर याने पं. विनायकराव जी के विद्यादान-यज्ञ का एक अत्यंत मूल्यवान फल है। इस तरह पं. विनायकराव जी का जीवन संगीत के लिए समर्पित एक अनुष्ठान था। संगीत-साधक, महफिली गायक, संगीत-प्रशिक्षक, संगीत-प्रचारक, संगीत-अभिनेता, गंभीर राष्ट्रप्रेमी आदर्श नागरिक, अथक विद्याप्रेमी, औघड़ विद्यादानी, सच्चरित्रता और शील में सर्वोत्तम, श्रद्धालु ईश्वरोपासक, उत्कट गुरुभक्त इत्यादि अनेक पहलुओं से पंडित जी के व्यक्तित्व का निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि इन विविधमुखी बिंदुओं पर वे हमेशा ऊंचे ही रहे। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि उनके व्यक्तित्व की सभी गुणरूपी किरणें संगीतविद्या और संगीत-प्रसार के तेजोमय बिंदुओं से निकली हुई थीं। उनकी प्रत्येक कृति अंततोगत्वा संगीत से ही संबधित रहती थी। उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता का निर्वाह 'वंदे मातरम्' गीत के उद्धारार्थ और गायनार्थ

अपनी सेवाएं समर्पित करके किया। ईश्वरपूजा के अवसर पर भी पास में बैठे हुए शिष्य के गायन पर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। उनके व्यक्तित्व में जो शील और सच्चरित्रता थी वह प्रकारांतर से संगीत के लिए उपकारक ही रही। उनकी निर्व्यसनता ने एक तरफ शिष्यों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया तो दूसरी तरफ उनके शरीरस्वाथ्य का भी उपकार किया। विद्यादानी ऐसे कि फीस की कोई अपेक्षा न रखकर अनेक शिष्यों को पढ़ाया और आज वे ही शिष्य संगीतसाधना और संगीतप्रसार के व्रत को निभाते हुए अपनी शक्तिसामर्थ्य के अनुसार पंडित जी के तथा उनके गुरु पंडित जी महाराज के कार्य को अथवा अनुष्ठान को चला रहे हैं। महफिलों में ऐसे चमकते रहे कि उत्तर भारत, बंगाल, पंजाब इत्यादि राज्यों के बड़े बड़े शहरों में उनकी किसी राष्ट्रपति के समान आवभगत होती रही। पंडित जी का वह सधा हुआ, सफेद चार का सुरीला, मधुर ऊंचा स्वर, जो आज कुछ ध्वनिमुद्रिकाओं में सुनने को मिल सकता है उस जमाने का अखिल भारतीय 'पिक-पंचम' था। अपनी गुरु-परंपरा से प्राप्त विद्या को ईमानदारी से प्रस्तुत करते हुए पंडित जी ने उसमें आलापचारी को अनुस्यूत करके उसे और विकसित किया। तराने के तो वे सम्राट् ही थे। उस जमाने में पंडित विष्णु दिगंबर जी के चार-पांच शिष्य बराबर महफिलों में चमकते रहते थे। परंतु उन सबमें पं. विनायकराव जी की अपनी एक विशेषता रही जिसे कोई भी नकार नहीं सकता। शिष्यों के संख्याबल में वे सबसे आगे थे। आज भारत में उनके लगभग सौ-सवासौ शिष्य अवश्य मिलेंगे और उनमें से अनेक ऐसे हैं जिन्होंने संगीत को ही अपना जीवनसाधन बना लिया है। अतः इन शिष्यों के भी शिष्य बन रहे हैं और इस प्रकार पंडित जी का विद्यादान का महायज्ञ आज भी गतिमान रहा है।

पंडित जी अपने शिष्य-प्रशिष्यों के माध्यम से अजरामर तो हुए ही हैं, उसके साथ ही अपने 'बालसंगीत' और 'राग-विज्ञान' की ग्रंथमाला के कारण वे भारत के प्रत्येक संगीत महाविद्यालय में पहुंच गए हैं। आज भारत में संगीत-क्षेत्र के अंतर्गत 'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला की जितनी खपत है उतनी अन्य ग्रंथों की नहीं। इन ग्रंथों के निर्माण में पंडित जी ने अपार कष्ट उठाए। ग्रंथ में लिखी जानेवाली बातों को पहले शिष्यों को सिखाकर उन्हें पड़ताल लिया, उसके बाद उसे ग्रंथ में स्थान दिया। गुरु-परंपरा से प्राप्त रागों के अतिरिक्त अन्य अनूठे और संयुक्त रागों को 'राग-विज्ञान' में स्थान मिल जाने के कारण आज संगीत-अध्येताओं के निकट ये ग्रंथ अत्यंत उपयुक्त और मार्गदर्शक सिद्ध हुए हैं। निःसंदेह संगीत-क्षेत्र के लिए पंडित जी का यह योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

कोई भी मनुष्य सर्वगुणसंपन्न तो होता नहीं। पंडित जी के व्यक्तित्व में कुछ मानव-

सुलभ कमजोरियां अवश्य थीं। परंतु उनके गुणसन्निपात के सामने ये कमजोरियां नगण्य थीं। संसार मनुष्य को उसकी कमजोरियों के कारण नहीं, बल्कि उसके राष्ट्र और समाजोपयोगी महान कार्य के कारण पूजता है। पंडित जी में जो स्वभावगत दोष थे वे इतने व्यक्तिगत थे कि उनके कारण किसीका अहित या किसी की हानि होनेवाली नहीं थी। पंडित जी के विरोधक भी उनकी संगीत-विद्या, संगीत-प्रसार और विद्यादानीपन के विषय में शंका उपस्थित नहीं कर सकते।

पं. विनायकराव जी एक विशेष युग के प्रामाणिक प्रतिनिधि रहे। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर आठवें दशक तक उनके कर्तृत्व का कालखंड रहा। स्वातंत्र्य पूर्व काल से और लोकमान्य तिलक युग से लेकर नेहरू युग तक के और उसके बाद के भारत को उन्होंने देखा और परखा। अपने प्रदीर्घ कार्यकाल में अनेक आदर्श नेताओं और कार्यकर्ताओं को उन्होंने निकट से देखा। उनके हृदय में लोकमान्य तिलक का स्थान सर्वोपरि था, मानो वे अपने समूचे आदर्श व्यवहार लोकमान्य को साक्षी बनाकर किया करते थे। गहरी तत्त्वनिष्ठा, निरंतर कर्मशीलता, आर्थिक व्यवहार में विशुद्धता, दुर्दम्य ध्येयवादिता, त्याग और सेवाभाव इत्यादि जो विशेषताएं उस कालखंड के चुने हुए सज्जनों में प्रकर्ष के साथ मिलती थीं वे पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व में ऊर्जस्वित रूप में विद्यमान थीं। इन उत्तम गुणों का परिपाक याने पंडित जी का सांगीतिक जीवन था।

१९०७ में अपनी नौ वर्ष की अवस्था में मिरज रियासत से सुदूर लाहौर तक पहुंच कर इस बालक ने (अपनी अपार गुरुनिष्ठा, विद्याकांक्षा और अथक तपस्या के बल पर मानो एक युग का ही निर्माण किया। पं. विनायकराव जी की प्रेरणा का प्रस्थान-बिंदु लाहौर का गांधर्व महाविद्यालय रहा। फिर वे कठोर साधना के पथ पर अग्रसर हुए। बीच में संगीतमंच से हटकर उन्हें रंगमंच पर भी दस-एक वर्ष तक कार्य करना पड़ा। उसके बाद उनका विद्यादान का महायज्ञ आरंभ हुआ जो जीवन के अंततक अबाध गति से चलता रहा, जो समानांतर रूप से संगीत-सभाओं की विजययात्राओं से बराबर परिपुष्ट होता रहा। पंडित जी ने अपने समर्पित जीवन के द्वारा जनमानस में ऐसा स्थान पाया कि हजारों कंठों से एक ही स्वर निकला कि पं. विष्णु दिगंबर के कार्य को उन्हींके पदचिह्नों पर यदि किसीने चलाया हो तो पं. विनायकराव जी ने। आज उनके अनेक शिष्य आंसूभरे नयनों से उनकी शिष्यवत्सलता का बयान करते पाये जाते हैं। पंडित जी का शिष्य शास्त्र में कभी कच्चा नहीं रहा। उसकी रागविद्या कभी अधकचरी नहीं रही। पंडित जी का अधिकार ही वैसा था। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित करके उस उपाधि को ही विभूषित किया है।

पंडित जी के देहावसान के साथ हिंदुस्थानी संगीत-प्रसार एवं संगीत-साधना के दिव्य अनुष्ठान का समापन होता है— मानो एक तेजस्वी युग का अवसान हो जाता है। उनकी पवित्र आत्मा को आदरपूर्वक प्रणाम करते हुए एक ही उद्गार प्रकट हो सकेगा— '**वन्दे विनायकम्**'।

इति शम्

तृतीय विभाग

विशिष्ट लेख

पं. विनायकराव व नाट्यसंगीत

वसंत शांताराम देसाई

[प्रास्ताविक – श्री वसंत शांताराम देसाई आज सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति हैं और मराठी संगीत रंगमंच के साथ आपका वर्षों से घनिष्ठ संबंध रहा है। गंधर्व नाटक मंडल के तो आप अंतेवासी ही थे। आपके दो नाटक 'अमृतसिद्धि' और 'विधिलिखित' गंधर्व नाटक मंडलीद्वारा मंचित हुए थे और इन नाटकों में पं. विनायकराव जी ने नायक की भूमिका की थी और नाटक के अनेक पदों की स्वररचना भी की थी, जो बहुत रसिकप्रिय हुई थी। श्रीमान वसंतरावजी ने पं. विनायकराव जी को गंधर्व नाटक मंडली में वर्षों तक बहुत निकट से देखा। पं. विनायकराव जी के प्रति आपके मन:में सहज स्नेह की भावना रही। प्रस्तुत लेख में श्रीमान देसाई पं. विनायकराव जी से नाट्यसंगीत को जो योगदान प्राप्त हुआ उसका विवेचन कर रहे हैं।

लेख मराठी में है और लेखक की इच्छा के अनुसार इसे हिंदी में अनुवादित नहीं किया गया है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने संगीत रंगमंच, नाट्यसंगीत की विशेषता और उसमें पं. विनायकरावजी के विशेष कार्य का अत्यंत रंजक शैली में विवेचन किया है।

प्रस्तुत अभिनंदन ग्रंथ के जीवनी विभाग में 'रंगमंच और संगीतमंच' शीर्षक अध्याय की बहुत सी बातों का आधार प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण लेख ही रहा है।]

"यथावकाश नायकाच्या भूमिका करू शकेल असा एक तरुण गायक नट बालगंधर्वांनी मिळविला असून, तो आज दुपारच्या 'सौभद्र' नाटकात नारदाची भूमिका करणार आहे." ही बातमी, एका ओळीच्यासुद्धा जाहिरातीशिवाय, त्या दिवशी मुंबईतील नाट्यशौकीनांत पसरली होती. १९२२ सालच्या उत्तरार्धातील तो एक रविवार होता. त्या नव्या गायकनटाविषयीच्या कुतूहलामुळे, मुंबईच्या सुप्रसिद्ध 'पील हाऊस' विभागातील न्यू एल्फिन्स्टन थिएटरातील प्रेक्षकांची गर्दी अधिकच

वाढली होती. ते थिएटर अजून अस्तित्वात असले तरी ते नाटकांचे थिएटर राहिलेले नाही. पण त्या नाटकगृहात मराठी रंगभूमीवरचे महत्त्वाचे जितके नाट्यप्रयोग झाले, तितके त्या काळातील दुसऱ्या कोणत्याही थिएटरात झाले नसतील. गंधर्व नाटक मंडळीत आणि त्याबरोबरच नाट्यव्यवसायात त्या दिवशी प्रथमच प्रवेश करणाऱ्या त्या गायकाचे नाव होते विनायकराव पटवर्धन. प्रख्यात गायक विष्णु दिगंबरांचा तो प्रमुख शिष्य असून, त्यांच्या गांधर्व महाविद्यालयाच्या कार्यात सुद्धा त्याने बुवांना मोलाची मदत केलेली आहे, यापलीकडे प्रेक्षकांना कोणतीच जास्त माहिती नव्हती. आणि माझ्याविषयीच सांगावयाचे तर मी त्याचे नावसुद्धा ऐकले नव्हते, मग गाणे ऐकणे दूरच राहो!

महाराष्ट्रातील आघाडीवरच्या तरुण गायकांना आकर्षित करणारी मराठी संगीत रंगभूमी ही त्या काळातील एक महान शक्ती होती. केवळ गायकीच्या पेशात सर्वस्वी अशक्य अशी लोकप्रियता अव्वल दर्जाच्या अनेक नटांना मराठी रंगभूमीने प्राप्त करून दिली होती. चरितार्थसाधनेचा मार्ग म्हणूनसुद्धा गायकाच्या पेशापेक्षा नाट्यव्यवसायाचे अधिक आकर्षण वाटावे अशी त्या काळातली परिस्थिती होती. आणि म्हणूनच, भास्करबुवा बखले यांचे प्रमुख शिष्य मास्तर कृष्णराव आणि बालगंधर्व, अबदुल करीमखांसाहेबांचे प्रमुख शिष्य सवाई गंधर्व आणि शंकरराव सरनाइक, बाळकृष्णबुवा इचलकरंजीकर यांच्या परंपरेतील मिराशीबुवा आणि भाटेबुवा यांनी नाट्यव्यवसाय पत्करला होता. नटाचा पेशा पत्करला तर गायनी कलेची अप्रतिष्ठा होईल अशी शंकासुद्धा या तरुण गायकांच्या किंवा त्यांच्या गुरुजींच्या मनाला शिवली नव्हती, त्याचे कारणच असे की, अण्णासाहेब किर्लोस्करांनी १८८० साली मराठी संगीत रंगभूमीची स्थापना केली तेव्हापासून रंगभूमीवरील संगीत म्हणजे हलके-फुलके किंवा फुसके संगीत नसून अभिजात संगीतच असते अशी प्रतिष्ठा नाट्यसंगीताने मिळविली होती. त्या काळात प्रत्येक नाट्यसंस्थेचे स्वतंत्र बिऱ्हाड असून तेथे जेवणाखाण्याची आणि राहण्याची सोय होत असल्यामुळे, नाट्यसंस्थेच्या घटकांना मनःस्वास्थ्यही लाभत असे, ते निराळेच. कोणाचाही पगार हा जेवणाखाण्यासकटच ठरविला जात असे.

संगीत रंगभूमीवरील काही कल्पनाशून्य गायक-नटांनी त्यांच्या बेजबाबदारपणाने रंगभूमीवरील संगीताला मैफिलीतील संगीताचे स्वरूप प्राप्त करून दिले असले तरी किर्लोस्करी संगीत आणि मैफिलीतील संगीत यांच्या उद्दिष्टांत आणि गायकीत सुरुवातीपासून पुष्कळच निराळेपणा दिसून येत होता. अण्णासाहेबांनी नाटकाला संगीताची जोड दिली ती विविध रसांचा उत्कर्ष साधण्यासाठी आणि रसाला स्थिरता प्राप्त करून देण्यासाठी. रसाचा उत्कर्ष साधण्याची जबाबदारी झुगारून दिलेल्या संगीताला नाट्य-

संगीतात स्थानच नाही हे गायक नटांनी सदैव लक्षात ठेविले पाहिजे. ‘ येरी मैं का जा ’ या तीन शब्दांच्या आधारावर एखाद्या निष्णात गायकाला त्याच्या मैफिलीचा अर्धा तास रंगविता येईल, तसा प्रकार नाट्यसंगीतात चालू शकत नाही. मैफिलीतल्या बोलतानासारख्या कित्येक हरकती तर नाट्यसंगीतात वर्जच समजल्या जातात. कितीही कर्तबगार गायक असला तरी तो ‘ रंगभूमीवर आला, गायला आणि जिंकला. ’ असे कधी झाले नाही आणि होणारही नाही. रंगभूमीवर त्याला अनेक व्यवधाने सांभाळावी लागतात. एरवी रुबाबात चालणारा गायक रंगभूमीवर सुरुवातीला चार पावलेही नीट टाकू शकत नाही. त्याला संवाद पाठ करावयाचे असतात, ते नाट्यपूर्ण रीतीने बोलावयाचे असतात, अभिनय करावयाचा असतो आणि शेजारच्या नटाशी सहकाराचे संबंध ठेवावयाचे असतात. अशी अनेक अवधाने सांभाळणे आवश्यक असल्यामुळे त्याचा स्वतःच्या गायनावरील आत्मविश्वासही सुरुवातीला ढासळलेला असतो.

आणि म्हणूनच, नव्या गायकनटाची एकदम नायकाच्या भूमिकेवर स्थापना करण्याचा अतिरेक सहसा केला जात नसे. सुरुवातीलाच (मानापमानातील) धैर्यधराच्या भूमिकेवर आक्रमण करून त्याला जाहिरातीची जोड दिलेल्या काही पट्टीच्या गायकांची रंगभूमीवरील कारकीर्द औटघटकेची ठरल्याची उदाहरणे मराठी संगीत रंगभूमीच्या इतिहासात नमूद झालेली आहेत. रंगभूमीचा अनुभव, अभिनयाचे शिक्षण आणि रंगभूमीला शोभेल अशा रीतीने गायनाचा विस्तार करण्याची दृष्टी प्राप्त होईल अशा रीतीने लहानमोठ्या भूमिका अंगवळणी पडल्यानंतरच गायकनटाचे हात नायकाच्या भूमिकेपर्यंत पोहोचावे असा प्रघात होता. सौभद्र नाटकातली नारदाची छोटी पण महत्त्वाची भूमिका ही त्या दृष्टीने अत्यंत उपयुक्त भूमिका होती. नारदाच्या भूमिकेत चटकदार संवाद आहेत. अभिनयाला अवसर आहे, ‘ राधाधर मधु मिलिंद ’-सारखी गायनाच्या विस्ताराला योग्य अशी पदे आहेत आणि ‘ लग्नाला जातो मी ’-सारखे संगीतात्मक भाषणही आहे, आणि म्हणूनच, विनायकरावांच्या रंगभूमीवरील कारकीर्दीची सुरुवात करण्याकरिता नारदाच्या भूमिकेची निवड केली होती.

‘ राधाधर मधु मिलिंद ’ या परिचित पदाचे शब्द त्या दिवशी पडद्यातून ऐकू येताच, सर्व प्रेक्षक आपापल्या जागेवर सरसावून बसले. जो नारद पाहायला ते आले होते, तो त्यांना आता दिसणार होता. त्या पदाची पहिली ओळ गात गातच नारदाने रंगभूमीवर प्रवेश केला. नारद हा काहीसा सडपातळ, भगवे वस्त्र परिधान केलेला आणि त्याच्या चेहऱ्यावर भरपूर मिस्किलपणा दिसत असलेला, असा असेल अशी प्रेक्षकांची अपेक्षा होती. पण तो नारद काहीसा निराळा होता. फक्त पितांबर आणि रुद्राक्षांच्या माळा धारण केलेला आणि काहीसा स्थूल असा तो गौरवर्णी नारद असून, त्याच्या चेहऱ्यावर मिस्किलपणा शोधावाच लागला असता. कारण मिस्किलपणा हा विनायक-

रावांचा मनोधर्मच नव्हता. त्यांच्या गायनात सुरेलपणा आणि मेहनतीने कमावलेला आवाज जाणवत होता. नारदाने अर्जुनाबरोबर संवाद केला, त्याच्या वाट्याची पदे म्हटली आणि 'पावना वामना' हे पद गात तो निघून गेला. एक नवा नारद पाहिला यापलीकडे काही घडले नाही. बालगंधर्वांच्या प्रत्येक गोष्टीचे कौतुक करण्याचा तो काळ असल्यामुळे शक्य तितके कौतुक विनायकरावांच्याही पदरात पडले. अर्जुनाला भांबावून टाकण्यासाठी आलेला नारद स्वतःच भांबावल्यासारखा दिसत होता आणि ते साहजिक होते!

कारण त्यापूर्वी विनायकरावांना रंगभूमीचा यत्किंचितही अनुभव नव्हता, परंतु त्या पहिल्या अनुभवामुळे ते नाउमेद झाले नाहीत. बालगंधर्वांनी त्यांचे जमेल तितके कौतुकच केले. कारण त्यांना त्यांच्याबद्दल विश्वास वाटत होता. नारद आणि काही इतर तशाच भूमिका केल्यानंतर रंगभूमीचे हे तंत्र अगदी निराळे आहे, इथे गाण्याचे आणि संगीताचे धागे एकत्र करून एक महावस्त्र निर्माण करावे लागते, रसाचा उत्कर्ष साधेल असे हमखास स्वर गळ्यातून बाहेर पडावे लागतात, पदाची सुरुवात, मध्य आणि शेवट अशा तीन बिंदूंचा एक परिणामकारक आकार तयार व्हावा लागतो, अशा अनेक गोष्टी आस्ते आस्ते त्यांच्या ध्यानात आल्या. बालगंधर्व तर सोडाच, इथे आपल्याभोवती जगन्नाथबुवा पंढरपूरकर यांच्यासारखे सनईसारख्या गोड आवाजाचे आणि मास्तर कृष्णरावांसारखे हरहुन्नरी गायक आहेत. त्यांच्या वेढ्यातून आपला मार्ग शोधून काढला पाहिजे. "आपल्याला अजून पुष्कळ शिकायचे आहे आणि त्याकरिता कष्टही करायचे आहेत." ही समज येऊन तिच्या पाठीशी त्यांनी त्यांच्या रोमरोमांत भिनलेली गांधर्व महाविद्यालयातील शिस्त, जिद्द आणि कष्टाळूपणा उभा केला.

विनायकरावांना शिकायचे होते. पण त्यांना शिकवील असा पहिल्या दर्जाचा प्रतिभावंत नाट्यशिक्षक, १९२२ साली गंधर्व नाटक मंडळीत उपलब्ध नव्हता.

आपल्या बुद्धिमत्तेने गुरुजनांना सुद्धा आश्चर्यचकित करणारा विद्यार्थी हा स्वतः चांगला शिक्षकही असलाच पाहिजे, अशी अपेक्षा करणे व्यर्थच समजले पाहिजे. कोणत्याही कलेत किंवा विद्येत स्वतः पारंगत असणे आणि ती इतरांना शिकविण्याची पात्रता असणे या अगदी निरनिराळ्या साधना असतात. त्या एकाच माणसाला साध्य झालेल्याच असतील असे आढळत नाही. गुरू हा स्वतः ज्ञाता असून भागत नाही, तो दाताही असावा लागतो. गायनी कलेचाच विचार केला तर एका ठिकाणी तासन् तास स्वतः बैठक मारून आपल्याला अवगत असलेली विद्या शिष्याच्या गळी उतरविण्याचे कष्ट गुरूला करावे लागतात. एखाद्या फुलपाखरासारखे वागण्याची वृत्ती असलेल्या कलाकाराने असे कष्ट करणेच अशक्य असते. शिष्य हा केवळ आपली

नक्कल करीत नसून, आपण जे शिकवतो ते तो स्वतंत्र प्रतिभेने श्रोत्यांस ऐकवितो आहे अशी सुद्धा खबरदारी गुरूला घ्यावी लागत असल्यामुळे, शिष्याच्या प्रतिभेची जात ओळखण्याचे चातुर्यही गुरूच्या अंगी असावे लागते. "मी तुला शिकवीन ते नारायणरावांना (बालगंधर्वांना) शिकवणार नाही आणि त्यांना शिकवतो ते तुला शिकवणार नाही. त्यांना रंगभूमीवर भूमिका करायच्या आहेत तर तुला मैफिली रंगवायच्या आहेत," असे भास्करबुवा मास्तर कृष्णरावांना सांगत असत.

कोणालाही शिकवणे म्हणजे त्याची तालीम घेणे या अर्थाने, मराठी नाट्यव्यवसायात नाट्यशिक्षकाला 'तालीममास्तर' हे अभिधान प्राप्त झाले होते. अण्णासाहेब किर्लोस्करांच्या तीनही नाटकांच्या तालमी त्यांचे शिष्य आणि नाटककार गोविंदराव देवल यांनी घेतल्या. मराठी रंगभूमीच्या संगीत विभागातील देवल हे अत्यंत कुशल आणि आद्य तालीममास्तर समजले पाहिजेत. स्वतःच्या नाटकांच्या तालमी स्वतः देवल घेत असत, आणि खाडिलकरांच्या नाटकांच्या तालमी ते स्वतः घेत असत. देवलांच्या हाताखाली तयार झालेले गणपतराव बोडस आणि चिंतोबा दिवेकर यांच्याकडे नेहमीच्या तालमी सोपविल्या होत्या. १९२२ पूर्वी चिंतोबा व्यवसायनिवृत्त झाले, देवल मरण पावले आणि प्रकृतीच्या नादुरुस्तीमुळे गणपतरावांनीही तात्पुरती व्यवसायनिवृत्ती स्वीकारल्यामुळे, विनायकरावांना तालमी देऊ शकेल असा कुशल तालीममास्तर गंधर्व नाटक मंडळीत उपलब्ध नव्हता. स्वतःच्या नव्या नाटकाच्या तालमी स्वतः खाडिलकर घेत असत, पण द्रौपदीनंतर (१९२०) त्यांनी नवे नाटक लिहिले नव्हते.

पण विनायकरावांचा जिद्दी स्वभाव त्यांना स्वस्थ बसू देणारा नव्हता. गणपतराव जवळ नसले तर आपण त्यांच्याजवळ गेले पाहिजे असे ठरवून, ज्या ज्या वेळी सवड सापडेल त्या त्या वेळी सांगलीला जाऊन गणपतरावांकडून गंधर्व नाटक मंडळी करीत असलेल्या नाटकांतील भूमिकांची ते तालीम घेऊ लागले आणि गणपतराव हे फार हौसेने त्यांना मार्गदर्शन करू लागले. परंतु, गणपतराव हे कितीही कुशल तालीममास्तर असले तरी कोणत्याही प्रवेशातील एकाच पात्राची एकाच नटाला तालीम देणे हे कधीच फारसे फायदेशीर होऊ शकत नाही. तालमीचा खरा फायदा व्हावयाचा असेल तर ज्या प्रवेशाची तालीम घ्यावयाची, त्यातील प्रत्येक पात्र तालमीच्या वेळी हजर असणे अवश्य असते. त्याच्या अभावी स्वतः गणपतरावांनाच इतर सर्व पात्रांची भाषणे म्हणावी लागत होती. प्रवेशाचे रहस्य समजणे, शब्दोच्चार निर्दोष असणे, गायनाचा रसात्मक आविष्कार करणे या गोष्टींचे शिक्षण त्या 'एकपात्री' तालमीतही विनायकरावांना मिळाले हा लाभसुद्धा थोडाथोडका समजता येणार नाही.

नवीन नटाच्या वाटेला जुन्या नाटकांतल्या भूमिका याव्यात हे साहजिकच आहे. इतर नटांनी केलेल्या त्या भूमिका त्याने बहुधा पाहिलेल्या असल्यामुळे त्या कशा

कराव्या यासंबंधीचा एक आदर्श त्याला उपलब्ध असतो, परंतु इतर नामवंत नटांनी केलेल्या भूमिका करून नव्या नटाने प्रेक्षकांना खुष करावे हे अवघडही असते. कारण नामवंत नटांनी केलेल्या भूमिकेशी तो करीत असलेल्या भूमिकेची तुलना होऊन प्रेक्षकांना त्याचा नवेपणा ठिकठिकाणी जाणवत असतो, आणि म्हणूनच, नव्या नाटकातली एखादी रंगतदार भूमिका जर नव्या नटाच्या वाट्याला आली, आणि त्याने ती रंगभूमीवर चांगली वठविली, तर नट म्हणून तो लवकर नामवंत होतो. विनायकराव गंधर्व नाटक मंडळीत आले त्या पूर्वीपासून सुप्रसिद्ध गायकनट, जगन्नाथबुवा पंढरपूरकर हे नायकाच्या भूमिका करीत असत. परंतु, १९२४ सालानंतर प्रकृतिस्वास्थ्याच्या अभावी, त्यांची वाटचाल आस्ते आस्ते निवृत्तीकडे सुरू झाली. त्यामुळे १९२५ साली गंधर्व नाटक मंडळीच्या रंगभूमीवर आलेल्या विठ्ठल सीताराम गुर्जर यांच्या नव्या 'नंदकुमार' नाटकात विनायकरावांना नायकाची—म्हणजे कृष्णाची भूमिका करण्याची संधी मिळाली. पण ती भूमिका मुळातच रंगतदार नसल्यामुळे विनायकरावांच्या भूमिकेचा बोलबाला झाला नाही. परंतु नव्या नाटकातल्या रंगतदार भूमिकेसाठी विनायकरावांना दीर्घकाळ तिष्ठत बसावे लागले नाही.

१९२६ सालच्या मे महिन्यात गंधर्व नाटक मंडळीच्या रंगभूमीवर आलेल्या (महाभारतातील विश्वामित्र-मेनका प्रकरणावरील) 'मेनका' नाटकातील 'विश्वामित्र' या प्रभावी भूमिकेसाठी विनायकरावांची निवड करण्यात आली आणि तेथूनच रंगभूमीवरील त्यांच्या कारकीर्दीची खरी सुरुवात झाली. विश्वामित्राच्या दर्शनासंबंधी आपल्या ज्या कल्पना असतात, त्यापेक्षा विनायकराव हे अधिक स्थूल (आणि एक प्रकारचे सुखासीन) दिसत असले आणि चराचर सृष्टीचा नाश करायला सिद्ध झालेल्या विश्वामित्राचा अनिवार क्रोध त्यांच्या भूमिकेत व्यक्त होत नसला, तरी नव्या नाटकातील प्रभावी भूमिका, सर्व नटांसकट तालमी आणि खाडिलकरांसारखा कुशल तालीममास्तर असा त्रिवेणी संगम विनायकरावांच्या कारकीर्दीत जुळून आला होता. प्रत्येक कुशल नाटककार हा स्वतःच्या नाटकाच्या तालमी घेऊ शकणारा कुशल तालीममास्तरही असतो असे नाही. देवल आणि खाडिलकर हे उत्कृष्ट नाटककार आणि उत्कृष्ट तालीममास्तर असले, तर श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर आणि राम गणेश गडकरी हे तालीममास्तरकीच्या वाटेला कधी गेले नाहीत. खाडिलकरांच्या तालमीमुळे विनायकरावांची रंगभूमीविषयीची भीती, सारा संकोच नाहीसा होऊन तेव्हापासून ते सर्वच भूमिका आत्मविश्वासाने आणि सफाईने करू लागले.

१९२८ च्या एप्रिल महिन्यात माझे 'विधिलिखित' नाटक गंधर्व नाटक मंडळीच्या रंगभूमीवर आले आणि योगायोग असा की, बालगंधर्वांच्या मानाच्या आमंत्रणाचा स्वीकार करून गणपतराव बोडस हे त्याच सुमारास गंधर्व नाटक मंडळीत दाखल झाले. गणपतराव

हे १९२८ ते १९३१ पर्यंत गंधर्व मंडळीत होते. त्या मुदतीत त्यांच्या तालमीचा खरा लाभ विनायकरावांना होऊन ते प्रत्येक भूमिका अधिक सफाईने करू लागले. १९३१ सालच्या अखेरीस गंधर्व नाटक मंडळीच्या रंगभूमीवर आलेल्या ना.वि.कुलकर्णी यांच्या 'कान्होपात्रा' नाटकातील विलासरावाची भूमिका तर विनायकरावांनी फार झोकात केली. आता एका मातबर गायकाचे गायक नटात रूपांतर झाले होते आणि त्यासाठी विनायकरावांना सतत सहा वर्षे परिश्रम करावे लागले होते. रंगभूमीवरील रसांचा विनायकरावांना साक्षात्कार होऊन नाट्यसंगीताची त्यांना उत्तम समज आली होती.

हिरा हा स्वयंप्रकाशी असतो आणि स्वतःच्या तेजाने पाहणाऱ्याला दिपवीत असतो. परंतु त्याच्यावर 'प्रकाशझोत' टाकला म्हणजे त्याची शोभा अधिकच वाढते. बालगंधर्व हा एक जबरदस्त प्रकाशझोत होता. मास्तर कृष्णराव किंवा तिरखवा हे स्वयंप्रकाशी कलावंत होते. पण ते बालगंधर्वांच्या सान्निध्यात आल्यामुळे त्यांचा लौकिक चौफेर पसरला. बालगंधर्वांच्या प्रकाशाचा फायदा विनायकरावांनाही मिळाला होता.

संगीत नाटकातील संगीत योजनेची त्या काळात एक विशिष्ट पद्धत होती. नाटकातील संगीतानुकूल प्रसंग निवडावा, त्या प्रसंगाला अनुकूल अशी चाल निवडावी आणि त्या चालीबरहुकूम पद नाटककाराने रचावे अशी ती पद्धत होती. चाली देणाऱ्या गायकाला प्रसंगानुकूलतेची समज असली म्हणजे चालीची निवड करण्याचे काम पुष्कळच सोपे होत असे. कोणत्याही संगीत नाटकातील सर्व पदांच्या चाली एकाच गायकाने दिल्या आहेत असे कधी घडलेले नाही. काही चाली इतर गायक सुचवीत असत आणि त्या पसंत पडल्यामुळे त्यांचा उपयोग केला जात असे. परंतु बहुतांश चाली ज्या गायकाने दिल्या असतील, त्यानेच चाली दिल्या असा उल्लेख होत असे. निरनिराळ्या चालींनी नाट्यसंगीत समृद्ध करण्याचे कार्य जसे किर्लोस्कर, गंधर्व आणि ललित कलादर्श या नाटक मंडळ्यांत झाले, तसे इतर मंडळ्यांत झाले नाही. किर्लोस्कर नाटक मंडळीच्या मानापमान नाटकासाठी बहुतांश चाली गोविंदराव टेंबे यांनी दिल्या, तर स्वयंवर आणि द्रौपदी या गंधर्व नाटक मंडळीच्या नाटकांसाठी भास्करबुवा बखले यांनी दिल्या. १९२३ ते १९३३ या दहा वर्षांच्या प्रदीर्घ कालावधीत गंधर्व नाटक मंडळीच्या रंगभूमीवर आलेल्या सात नाटकांसाठी चाली देऊन मास्तर कृष्णराव यांनी एक विक्रमच केला. चाली देणाऱ्या गायकाने गुणगुणून दाखवतेवेळी चाल सुरेख आहे असे वाटते. पण तालमीत ती तितकी आकर्षक वाटत नाही आणि तालमीतही आकर्षक वाटलेली चाल प्रत्यक्ष प्रयोगात रंगत नाही, असासुद्धा अनुभव येतो. प्रसंगानुकूल नसलेली चांगली चाल वाया जाते तर एखादी साधी पण प्रसंगानुकूल चालसुद्धा रंग मारून जाते. नाटकातील संगीताच्या बाबतीत अशी अनेक अवधाने सांभाळावी लागतात आणि प्रेक्षक या

‘ वस्तूला ’ तर कधीच विसरता येत नाही. सुरुवातीच्या प्रयोगांच्या वेळी जशी ‘ हवा ’ जमेल, तिजवर नाटकाचे यशापयश अवलंबून असते आणि ती जमण्यात प्रेक्षकाचा फार मोठा सहभाग असतो.

विनायकराव गंधर्व नाटक मंडळीत आल्यानंतर तिच्या रंगभूमीवर आलेल्या ‘ नंद-कुमार ’ आणि ‘ मेनका ’ या नाटकांसाठी मास्तर कृष्णरावांनी चाली दिल्या होत्या. पहिल्या पाच वर्षांच्या अनुभवानंतर नाटकाची आणि नाट्यसंगीताची भरपूर समज आल्यानंतर, माझ्या ‘ विधिलिखित ’ नाटकाच्या वेळी आपल्या पदांच्या चाली आपणच द्याव्या असे वाटण्याइतके विनायकराव धीट झाले होते आणि बालगंधर्वांनीसुद्धा त्यांचा प्रस्ताव मान्य केल्यामुळे स्वतःच्या सात-आठ पदांच्या चाली विनायकरावांनीच दिल्या. नाटकासाठी निवडलेली चाल ही ती गायला सुरुवात करताच आकर्षक वाटली पाहिजे. विनायकरावांनी दिलेल्या तीन-चार चाली तालमीत आकर्षक न वाटल्यामुळे, त्यांनी त्या बदलल्या. नाटकाच्या तालमी चालू असताना विनायकराव आणि मी ललितकलेचे ‘ शिक्काकट्यार ’ नाटक पाहायला गेलो होतो. त्यातील बापूराव पेंढारकरांनी गायिलेले ‘ मंगळ ते प्रियधाम ’ हे जयजयवंती रागातील पद विनायकरावांना अतिशय आवडले. त्यानंतर नाटक संपून बिऱ्हाडी गेल्यानंतरसुद्धा ते काहीसे बेचैन दिसत होते. दुसरे दिवशी भल्या पहाटे उठून तंबोरा घेऊन जयजयवंती रागातील एक चीज ते आळवीत बसलेले दिसले. त्या चिजेची चाल मलासुद्धा आवडल्यामुळे तिला अनुकूल असलेल्या एका प्रसंगीचे पद बदलून मी नवीन पद (मी न वंचक) तयार केले. विनायकरावांनी दिलेल्या सर्वच चाली प्रेक्षकांच्या पसंतीस उतरल्या होत्या. त्यानंतरच्या ‘ कान्होपात्रा ’ नाटकातील विलासरावाच्या भूमिकेसाठी त्यांनी दिलेल्या चाली आणि त्या चालीवरील पदे (‘ अशि नटे ही चारुता ’सारखी) लोकप्रिय झाली होती. विनायकराव हे परंपरागत शास्त्रोक्त संगीत मानणारे गायक होते. तो त्यांचा सांगीतिक धर्म होता. त्यामुळे एका रागात दुसऱ्या रागाचे मिश्रण करणे किंवा नवे राग प्रसविणे अशा खटपटींच्या वाटेला ते कधी गेले नाहीत.

विनायकराव हे आता नाट्यव्यवसायात रुळले होते, रमले होते, पण ‘ नाटकी ’ बनले नव्हते. खाडिलकर, गणपतराव बोडस आणि बालगंधर्व यांच्याविषयी त्यांच्या मनात नितांत आदर होता. विनायकराव हे एखादे वेळी अकस्मात संतापलेले दिसले तरी वृत्तीने तसे शांतच होते. गंधर्व नाटक मंडळीतील खेळीमेळीच्या वातावरणात ते त्यांच्या मनमिळाऊ स्वभावामुळे मिसळून गेले होते. त्यांच्या स्नानसंध्याशील आचरणात नाट्य-व्यवसाय स्वीकारल्यामुळे कोणताच फरक पडलेला नव्हता. पहाटे उठून नित्यनेमाने गाण्याची मेहनत करावी, स्नानसंध्या आणि व्यायाम केल्यानंतर सकाळ, नवा काळ, आणि केसरी ही दैनिके लक्षपूर्वक वाचावी, आपल्याला पुष्कळ शिकायचे आहे या

वृत्तीने जुन्या आणि नव्या नाटकांच्या तालमींना वक्तशीरपणे हजर राहावे, नक्कल नेहमी चोख पाठ असावी. जनार्दन मराठे आणि विष्णु घाग या मुलांना गाण्याची तालीम द्यावी, चहाला किंवा सुपारीलासुद्धा कधी स्पर्श करू नये इतके निर्व्यसनी असावे, अशा रीतीने विनायकराव कालक्रमणा करीत होते. स्वयंवरातला भीष्मक, एकच प्याला या नाटकातील रामलाल आणि द्रौपदी नाटकातील दुर्योधन या त्यांच्या भूमिका रसिकांच्या पसंतीला उतरल्या होत्या. संशयकल्लोळ नाटकातील त्यांच्या अश्विन-शेटच्या भूमिकेची तारीफ करणारे रसिक अजूनही भेटतात.

विनायकरावांच्या गाण्यात श्रोत्यांना मंत्रमुग्ध करणारा गोडवा होता असे म्हणता येणार नाही. परंतु त्यांचा आवाज शेवटपर्यंत निर्दोष आणि निकोप होता आणि अखंड मेहनतीमुळे त्याला एक श्रवणीय वजनदारपणा प्राप्त झाला होता. स्वतःच्या भूमिकेत शेजारी उभे असलेल्या बालगंधर्वांनीसुद्धा संतुष्ट व्हावे इतके हमखास स्वर विनायक-रावांच्या गायनात ऐकू येत असत. विधिलिखित नाटकाच्या तालमी चालू असतानाचा एक प्रसंग मला अजूनही आठवतो. विनायकराव हे एक शोकरसात्मक पद अत्यंत भाव-पूर्णतेने म्हणत होते. त्यात ‘ विधिशासन जगी चुके कुणाला । मनुजा तृति विसावा ’ असे शब्द होते. बालगंधर्वांची ज्येष्ठ कन्या नुकतीच निवर्तल्यामुळे ते दुःखीकष्टी होते. विनायकराव तल्लीनतेने गात असलेल्या पदाच्या सुरांचा आणि शब्दांचा त्यांच्यावर इतका परिणाम झाला की, “ विनायकराव पुन्हा म्हणा ” असे सांगून बालगंधर्वांनी ते पद त्यांच्याकडून तीनदा म्हणून घेतले. एकंदर वातावरणच असे तयार झाले होते की, त्यानंतरची त्या दिवशीची तालीम बंद करावी लागली !

विनायकराव आता कारणपरत्वे लेख लिहू लागले होते, आणि क्वचित भाषणही करीत होते. रत्नाकर मासिकाच्या गंधर्व विशेषांकात त्यांनी बालगंधर्वांसंबंधी एक सुरेख आणि विस्तृत लेख लिहिला होता आणि “ संगीताचे मराठीकरण ” या विषयावर पुण्याच्या वसंत व्याख्यानमालेत एक भाषणही केले होते. पण—

कान्होपात्रा नाटक १९३१ सालच्या नोव्हेंबर महिन्यात रंगभूमीवर आले. त्यापूर्वी एक घटना अशी घडली की, तिजमुळे विनायकरावांच्या जीवनाला एक अगदी अन-पेक्षित कलाटणी मिळाली ! गुरुभक्तीने भारलेल्या विनायकरावांचे गुरुजी, विष्णु दिगंबर पलुसकर दिनांक २१–८–१९३१ रोजी निवर्तले !

गुरुजींचे अंत्यसंस्कार आटोपून विनायकराव परत आले, त्या वेळी गंधर्व नाटक मंडळीचा मुक्काम मुंबईत होता. तिच्या नव्या कान्होपात्रा नाटकातली विलासरावाची भूमिका विनायकराव उत्तम करणार अशी खात्री नुसत्या तालमी पाहूनसुद्धा वाटत होती. जवळ जवळ दहा वर्षे केलेली रंगभूमीची सेवा सफल होण्याचा क्षण जवळ आला होता. पण

त्या साफल्याकडे विनायकरावांचे आता लक्षच नव्हते. विष्णु दिगंबरांच्या मृत्यूनंतर त्यांच्या जीवनाचे उद्दिष्ट बदलले होते. विष्णु दिगंबरांचा मुलगा बापू, हा त्या वेळी लहान होता. त्याला संगीताचे शिक्षण द्यावयाचे आणि पुण्यात गांधर्व महाविद्यालयाची शाखा स्थापन करून संगीत विद्येची सेवा करायची ही दोन ध्येये विनायकरावांच्या नजरेसमोर साकार झाली होती. गंधर्व नाटक मंडळीच्या नाटकांत भूमिका करीत राहून ही उद्दिष्टे साध्य होणार नाहीत, या एकाच कारणाकरिता नाट्यव्यवसायातून निवृत्त होण्याचा निश्चय त्यांनी केला होता. गुरुभक्तीची थोरवी नारायणरावांना माहीत असल्यामुळे ते विनायकरावांच्या निश्चयाच्या आड आले नाहीत. पण म्हणाले, "विनायकरावांचा खरा उपयोग आम्हाला यापुढेच होणार होता आणि आता ते जाणार—प्रभूची इच्छा तशीच दिसते!" दहा वर्षांच्या काळात विनायकरावांनी नाट्यव्यवसायात किती स्पृहणीय प्रगती केली होती, ते बालगंधर्वांच्या या उद्‌गारावरून दिसून येईल. विनायकरावांचे मन वळविण्यासाठी, "विनायकराव, केवळ गुरुभक्तीच्या भावनेवर प्रपंच चालू शकत नाही." असे मी बोललो, तेव्हा, एका क्षणाचाही विलंब न लावता, विनायकराव म्हणाले, "नुसती मीठभाकर खाऊन जन्म काढावा लागला तरी हरकत नाही. गुरुजींनी दिलेल्या विद्येची सेवा मला केलीच पाहिजे!" इथे तर बोलणेच खुंटले! विनायकरावांची आठवण झाली म्हणजे त्यांचा हा निर्धार मला नेहमी आठवतो.

नाट्यव्यवसायात इतकी वर्षे अलिप्तपणे राहिल्यामुळे १९३२ च्या मार्च महिन्यात गंधर्व नाटक मंडळीचा निरोप घेताना विनायकरावांना यत्किंचितही वाईट वाटले नाही. त्यानंतरच्या साडेतीन तपांच्या प्रदीर्घ कालखंडात त्यांनी संगीत विद्येची सतत उपासना केली. १९४४ सालापासून सुरू झालेल्या कंत्राटदारांच्या नाट्यव्यवसायात त्यांनी प्रसंगपरत्वे धैर्यधर (मानापमान), भीष्मक (स्वयंवर), रामलाल (एकच प्याला), आणि अश्विनशेट (संशयकल्लोळ) या भूमिका केल्या तरी तो केवळ त्यांच्या हौसेचा आणि चाहत्यांच्या आग्रहाचा भाग होता.

आणि १९३३ सालापासूनची मराठी रंगभूमीची पीछेहाट लक्षात घेता आता असेच म्हटले पाहिजे की, त्या वेळी विनायकरावांनी जो निर्णय घेतला, तोच योग्य ठरला. संगीताच्या सेवेसाठी रात्रंदिवस राबणे, त्यासाठी स्थापन केलेल्या संस्थेचा संसार व्यवहारदक्षतेने चालवणे या गोष्टी त्यांच्या वृत्तीला आणि कार्यपद्धतीला अधिक अनुकूल होत्या. विद्यादानासाठी आणि विद्येच्या प्रसारासाठी त्यांचा जन्म झाला होता. आपल्या गायनाला अधिक परिपक्वता यावी म्हणून गंधर्व नाटक मंडळी सोडल्यानंतर त्यांनी काही काळ रामकृष्ण बुवा वझे यांची तालीम घेतली असली तरी आपल्या गुरुघराण्याच्या गायकीपासून ते रतिमात्रही चलित झाले नाहीत. बापूराव पलुसकरांना तालीम देऊन विनायकरावांनी

त्यांच्या गुरुजींचे ऋण फेडले. पुण्यात गांधर्व महाविद्यालयाच्या शाळेची स्थापना करून त्यांनी तिला नावारूपाला आणले आणि त्यानंतर स्वतःच्या 'विष्णु दिगंबर पलुस्कर' विद्यालयाची स्थापना करून शेकडो विद्यार्थ्यांना संगीताचे शास्त्रशुद्ध शिक्षण उपलब्ध करून दिले. स्वस्त प्रसिद्धीची हाव न धरता हे कार्य त्यांनी अत्यंत निष्ठेने आणि शिस्तीने केले. आपल्या घराण्याचे गाणे गाणारे जे शिष्य त्यांनी तयार केले, त्यांत त्यांच्या तीन चिरंजिवांचा आणि दोन कन्यकांचा समावेश होतो, हे आवर्जून सांगणे आवश्यक आहे. 'रागविज्ञानाचे' सहा खंड, 'माझे गुरुचरित्र' या नावाचे त्यांच्या गुरुजींचे चरित्र आणि इतर संगीतविषयक ग्रंथ विनायकरावांनी लिहिले, अखिल भारतीय आकाशवाणीच्या आणि अनेक विद्यापीठांच्या संगीतविषयक परीक्षक मंडळाचे आणि सल्लागार मंडळाचे ते सदस्य असून त्याकरिता आणि ठिकठिकाणच्या संगीत परिषदांत हजेरी लावण्याकरिता त्यांना अखिल हिंदुस्थानात प्रवास करावा लागत होता. आणि शेवटी शेवटी प्रकृतीची साथ नसली तरी ते प्रवास करीत होते. हिंदुस्थानी रागांची लक्षणगीते त्यांनी मराठीत तयार करून घेतली होती. बापूराव पलुसकर, मुकुंदराव गोखले, कालिंदी केसकर आणि कमल केतकर ही त्यांच्या काही नामवंत शिष्य-शिष्यिणींची नावे. आयुष्याच्या शेवटच्या कालखंडात मिरजेस स्थायिक होऊन ते विद्यादानाचे कार्य अविरत करीत होते, आणि गुरुजींचे स्मारक म्हणून, विष्णु दिगंबर स्मारक मंदिराची त्यांनी मिरजेत स्थापना केली होती. भारतीय संगीताच्या अभिजात परंपरेचा विनायकरावांना अभिमान होता, आणि त्याच परंपरेची जपणूक करण्याकरिता त्यांनी साडेतीन तपांचा प्रचंड खटाटोप केला!

स्व. पं. विनायकराव पटवर्धन : एक कर्तृत्ववान् संगीतकार

पं. वि. रा. आठवले

स्व. पं. विनायकराव जी द्वारा संगीत क्षेत्र में किया गया कार्य इतना समृद्ध और विस्तृत एवं विविधतापूर्ण है कि उस पर विचार करने लगे तो आश्चर्य होता है। इस समृद्धता का कारण यह है कि उनके सामने अपने गुरु स्व. पं विष्णु दिगंबर पलुसकर जी का आदर्श था। पं. विष्णु दिगंबर जी संगीत-क्षेत्र में बहुआयामी कार्य करने के आकांक्षी थे और वैसा ही उन्होंने किया भी। इसलिए पं. विनायकराव जी के सांगीतिक कार्य की व्याप्ति भी लगभग वैसी ही है। यदि दोनों के कार्य में अंतर ही देखना हो तो वह अंतर केवल अनुपात या मात्रा के रूप में ही देखा जा सकता है अर्थात् स्व. पं. विष्णु दिगंबर जी का कार्य मौलिक और जीवन के विविध अंगों को स्पर्श करने वाला तथा अत्यंत विपुल था, जबकि इस तुलना में पं. विनायकराव जी का कार्य सापेक्षतः थोड़ा कम किंतु विविधता और व्याप्ति की दृष्टि से समान ही कहा जा सकता है।

पं. विनायकराव जी के संगीत-जीवन का मूल्यांकन करना हो तो एक संगीतकार के रूप में उन्होंने इस क्षेत्र में जो कार्य किया है उसके विविध पहलुओं पर विचार करना पड़ेगा। जिस कालखंड में उन्होंने अपना कार्य प्रारंभ किया था उस समय एक संगीतकार को सिर्फ महफिल में गानेवाला एक कलाकार माना जाता था। अधिक से अधिक यह मान लिया जाता था कि वह कुछ शिष्यों को संगीत विद्यादान करनेवाला एक गुरु है। इस पृष्ठभूमि पर देखें तो पंडित जी एक श्रेष्ठ संगीतकार और एक महान् संगीत गुरु तो थे ही किंतु इसके अतिरिक्त अपने जीवन में उन्होंने अनेक प्रकार की सांगीतिक प्रवृत्तियों का ऐसा विकास साध लिया कि संगीत के विभिन्न अंगों पर उनके कर्तृत्व की अमिट छाप दिखाई देती है।

पहले इस पर विचार कर लेना उचित होगा कि संगीत जगत् में पं. विनायकराव जी एक कलाकार के रूप में क्या स्थान रखते थे; क्यों कि संगीतकार शब्द सुनते ही मानसपटल पर एक कलाकार की छवि उभर आती है। पंडित जी ने अपनी ८-१० वर्ष की उम्र में ही पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर जी का शिष्यत्व स्वीकार किया था। ग्वालियर घराने के सच्चे और दृढ़ संस्कार उनके सांगीतिक जीवन के पूर्वार्ध में अच्छी तरह से हो चुके थे। इस संस्कारक्षम उम्र का परिणाम था या उनके आग्रही स्वभाव की ही विशेषता थी; कहा नहीं जा सकता किंतु हम यह पाते हैं कि पं. विष्णु दिगंबर जी की तालीम का उनके ऊपर ऐसा असर हुआ था कि वे ग्वालियर घराने की गायकी को ही अपेक्षाकृत कुछ अधिक महत्त्व प्रदान करते थे।

वैसे देखा जाय तो पंडित जी १० वर्ष तक गंधर्व कंपनी में संगीत अभिनेता के नाते रहे थे। उस समय पं. भास्करबुवा बखले, पं. वझेबुवा, उस्ताद अल्लादिया खां, उस्ताद अब्दुल करीम खां, उस्ताद फैयाझ खां, आदि श्रेष्ठ कलाकारों का गायन उनके सामने थे। परंतु शायद उन्होंने ऐसा हठ ही कर लिया था, कि इन में से किसी का भी कोई प्रभाव वे अपने ऊपर नहीं होने देंगे। इसका यह अर्थ नहीं लिया जाय कि पं. विनायकराव अरसिक थे या उनको सौंदर्य दृष्टि नहीं थी। संगीत के विविध सौंदर्य-तत्त्वों का भली भांति आस्वादन करने तथा उन्हें आत्मसात् करने की उनमें पर्याप्त क्षमता थी। अपने शिष्यों को पढ़ाते समय वे उपर्युक्त गायकों के गुणों का उल्लेख भी किया करते थे। पं. भास्करबुवा की गायकी उन्हें बहुत ही पसंद थी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "मैंने भास्करबुवा की लगभग २०० बैठकें तो सुनी ही होंगी।" अपनी सौंदर्य दृष्टि के कारण ही तो उन्होंने वझेबुवा का गंडा भी बांध लिया था। केसरबाई केरकर का गायन उन्हें बेहद पसंद था। इतना ही नहीं संगीत के क्षेत्र में वे जिन्हें अपना प्रतिद्वंद्वी मानते थे; उन्हीं मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर की गायकी की प्रशंसा भी करते थे। मुझे याद है कि सन् १९४० के आस पास पुणे के संगीत क्षेत्र मे पं. पटवर्धन जी और मास्टर कृष्णराव एवं उनके प्रशंसकों के बीच का वाद-विवाद खूब जोरों पर था। इस वाद-विवाद के कारण ही मास्टर कृष्णराव के चाहतों ने जान बूझकर पुणे में एक संगीत महफिल का आयोजन किया था। पं विनायकराव जी ने मुझे जानबूझ कर इस महफिल में भेजा। वापस आने पर उन्होंने महफिल के संबंध में मेरा मत जानना चाहा। मैंने मास्टर कृष्णराव की तारीफ करते हुए कहा कि 'इसमें कोई संदेह नहीं कि इस बार मा. कृष्णराव का गाना अप्रतिम रहा।' इस प्रशंसा को सुनकर पंडित जी तुरंत कह उठे, "अरे भाई, कुछ भी हो मास्टर पं. भास्कर गुरुजी के ही तो शिष्य हैं, सचमुच ही वे बढ़िया गाते हैं। उनकी गायकी की श्रेष्ठता के संबंध में कोई विवाद हो ही नहीं सकता। विवाद सिर्फ

यह है वे साधारण श्रोताओं के समक्ष इतनी श्रेष्ठता के साथ अपना गायन प्रस्तुत नहीं करते हैं। हमारा विरोध उनकी इस मनोवृत्ति के खिलाफ है—उनकी गायकी के विरुद्ध कदापि नहीं।" तात्पर्य यह कि पं. विनायकराव जी रसिक ही नहीं थे या उन्हें सौंदर्य दृष्टि नहीं थी यह मानना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

लेकिन यहां प्रश्न यह उठता है कि तत्कालीन श्रेष्ठ संगीतकारों की गायकी के सौंदर्य तत्त्व का प्रभाव पंडितजी के गाने पर क्यों नहीं हो सका? अपने स्वयं के संगीत घराने के प्रति आग्रही अभिमान और जानबूझकर अप्रभावित रहने का हठ ही इसका कारण था। इस संदर्भ में मुझे एक प्रसंग का स्मरण हो रहा है। एक बार वे हमें सिखा रहे थे कि किसी संदर्भ में वे बड़ी भाव भंगिमा के साथ पं. भास्कर गुरु जी की गायकी का उल्लेख करने लगे। उन्होंने कहा, "मुझे भास्करबुवा की गायकी बहुत ही पसंद है।" और यह कह कर उन्होने राग नटकेदार का ख्याल पं. भास्कर राव जी की शैली में गाना शुरू कर दिया। उन्होंने यह राग ऐसी रसिकता और सुंदरता के साथ प्रस्तुत किया कि लगभग आधे घंटे तक हम यह भूल गए कि ये पं. विनायकरावजी हैं। मुझसे रहा नहीं गया और धीरे से मैंने पूछा, "गुरुजी, जब पं. भास्कर गुरुजी की गायकी आपको इतनी पसंद है और उसे आप इतने अच्छे ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं, तो आप इसी शैली में महफिलों में क्यों नहीं गाते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं ग्वालियर घराने की परंपरा का गायक हूं। मैंने पं. विष्णु दिगंबर की तालीम प्राप्त की है। मैं अपनी तालीम कैसे छोड़ दूंगा?" और ऊपरसे गीता का यह उपदेश सुना दिया, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" अतः यह कहा जा सकता है कि अपनी हठाग्रही भूमिका के कारण वे इस सौंदर्य से अलिप्त रह गए। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि संगीत में परंपरा श्रेष्ठ है या सौंदर्य? किस बात को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाए? परंतु यहाँ इस मुद्दे पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यहां हम इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कलाकार के रूप में पं. विनायकरावजी ने पटरी संभाली अर्थात् परंपरा को महत्त्व दिया और क्षमता एवं अनुकूलता होते हुए भी उन्होंने अन्य किसी प्रभाव को स्वीकार नहीं किया। इसलिए कुछ रसिकों ने उनके नाम पर 'कर्मठ कलाकार, बालबोध, नीरस गायक' आदि का ठप्पा लगाया था। लेकिन पंडितजी के प्रति इस प्रकार का मूल्यांकन न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। घरानेदार कलाकारों की दृष्टि में (गुरुपरंपरा को माननेवालों की दृष्टि में) एक संगीतज्ञ कलाकार के रूप में पंडितजी का जो मान-सम्मान और महत्त्व था, वह पं. विष्णु दिगंबर जी के अन्य शिष्यों की तुलना में निश्चय ही श्रेष्ठ था। एक दिन उस्ताद विलायत हुसेन खां ने मुझसे कहा था, "पं. विष्णु दिगंबर की परंपरा में तुम्हारे गुरु ही (पं. विनायकराव जी) सच्ची गायकी गाते हैं।

हां, और सब अच्छे हैं–ठीक हैं। लेकिन, तालीम की बात हो, तो पं. विनायकबुवा का ही नाम लेना पड़ेगा।”

किंतु इस सैद्धान्तिक चर्चा के विचार को थोड़ी देर के लिए किनारे कर दें, तो महफिलों में रंग जमानेवाले और सामान्य श्रोताओं को उद्वेलित करनेवाले एक दंगली गायक के रूप में निश्चित ही पं. विनायकराव जी की बहुत ख्याति थी। संगीत सम्मेलनों में बाजी मार ले जाने वाले एक कलाकार के रूप में उन्हें सर्वत्र ही आमंत्रण प्राप्त होते थे। यह तो सच है ही कि सर्व सामान्यों में वे इस दृष्टि से प्रिय थे ही। लेकिन ऊंचे दर्जे के संगीतकारों को भी उनके बाद महफिलों में रंग जमाने में भय लगता था–परेशानी होती थी। इस संदर्भ में एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। सन् १९४६ की बात है, कलकत्ता के श्री लाला बाबू खन्ना ने एक संगीत सम्मेलन का आयोजन किया था। इसके अंतर्गत उस्ताद बड़े गुलाम अली खां, पं. ओंकारनाथ, बाई केसरबाई जैसे नामी कलाकारों को निमंत्रित किया गाया था। एक दिन पं. विनायकराव के गाने के बाद बाई केसरबाई के गाने का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। उस समय पंडित जी ने लगभग एक घंटे भर गया और ऐसा रंग जमाया कि जब केसरबाई मंच पर जा रही थीं तो पंडित जी से कहने लगीं, “अब तो आपने हमें गाने के लिए मुश्किल में डाल दिया है।” और जब केसरबाई गाने लगीं तो सचमुच ही इस बात का अनुभव आने लगा कि बाई को गाना जमाने में कठिनाई हो रही है। आधे घंटे तक बाई का गाना जमने का नाम ही नहीं ले रहा था। पंडित जी के प्रभाव को दूर करने के लिए जल्दी जल्दी में एक-दो राग उन्होंने योंही प्रस्तुत किए। जमाने के लिए प्रयत्न जारी थे। मैं पंडित जी के पास ही बैठा था। मुझसे कहने लगे, “देखा, गाना जमाने के लिए किस तरह कोशिश की जा रही है?” लेकिन बाद में बाई जी ने ‘लंका दहन सारंग’ राग शुरू किया और ऐसा रंग जमाया कि पंडित जी स्वयं बहुत खुश हो गए और क्षण-क्षण में दाद देने लगे। इस प्रसंग से हम समझ सकते हैं कि एक दंगली गायक के रूप में और उसी प्रकार एक रसिक जानकार श्रोता के रूप में संगीत के अंतर्गत पंडित जी का क्या ख्याल था?

एक कलाकार के रूप में जब हम पं. विनायकराव जी के संबंध में विचार करते हैं तब ऐसा लगता है कि यदि उन्होंने अपनी गुरुपरंपरा के प्रति हठवादी रवैया नहीं अपनाया होता और सौंदर्य-दृष्टि से गायन की तरफ ध्यान दिया होता तो वे निश्चय ही अति उच्च कोटि के गायक सिद्ध होते। और उनमें इतनी क्षमता थी भी। पंडित जी की कलात्मकता के प्रति कुछ रसिकों के कुछ आक्षेप हैं, फिर भी उन्हें यह बात तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी की लगभग १५ वर्षों तक अर्थात् १९४० ते १९५५ तक भारतीय संगीत सम्मेलनों में पडितजी ‘हुकमी एक्का’ थे। उनकी बुलंद आवाज का

कुछ इस प्रकार जादू चलता था, कि श्रोता उनकी गायकी का विश्लेषण करना ही भूल जाते थे और उनकी गणना प्रथम श्रेणी के कलाकारों में ही होती थी।

एक सफल कलाकार होने के लिए पं. विनायकराव जी ने परिश्रम भी कम नहीं किया था। सर्व प्रथम तो उन्हें पं. विष्णु दिगंबर की तालीम प्राप्त हुई थी और बाद में उन्होंने अपने गुरु के भी गुरु पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर से प्रशिक्षण प्राप्त किया। गायक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर भी उन्होंने पं. वझेबुवा से भी गंडा बंधवाया था। जीवन भर उन्होंने विद्या की उपासना की और अत्यंत परिश्रमपूर्वक उन्होंने अपनी आवाज को बुलंद बनाया था। विद्वानों के साथ चर्चा करते हुए वे नित नया-नया ज्ञान अर्जित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उसके द्वारा प्रकाशित 'राग विज्ञान' मालिका के अंतर्गत ऐसे अनेक अप्रसिद्ध राग संमिलित हैं जो उनकी अपनी ग्वालियर परंपरा से संबंधित नहीं हैं। यह उनके सतत अध्यवसाय का ही परिणाम है। विद्यार्जन में उनकी उदार वृत्ति कार्य करती थी। मैंने जब उस्ताद विलायत हुसेन खां साहब से विद्या सीखने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं उन्होंने मुझे यह भी लिखा कि अप्रसिद्ध रागों को अर्जित कर के मैं उनके (पं. जी के) पास भेज दूं जिससे कि वे 'राग विज्ञान' में प्रकाशित उन्हें सकेंगे। एक बार राग 'ललित पंचम' के संबंध में चर्चा करते हुए मुझसे बोले, "इसे मुझे दे दो मैं इसे 'राग विज्ञान' के अगले भाग में प्रकाशित करूंगा।" यह बात उन्होंने मुझे अपने अंतिम वर्ष में कही थी।

लेकिन इस अध्यवसाय और विद्या के प्रति अपार प्रेम के बावजूद भी एक बात ध्यान में आती है कि कलाकार होने के लिए जो एक रसीली वृत्ति और सौंदर्योपासक दृष्टि होनी चाहिए उसे पंडितजी ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर, हेतुपूर्वक उसे अपने व्यक्तित्व से दूर रखा। अपनी परंपरा के प्रति हठवादी दृष्टि; और चरित्र में निर्व्यसनी शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों की साधना के लिए उन्होंने अपने स्वभाव में जो कठोर कर्मठता विकसित करली थी, उसके कारण संगीत के प्रति उनकी दृष्टि आक्रमक स्वरूप की बन गई थी–समर्पण की नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके अनेक संगीतात्मक गुण सुप्तावस्था में ही रह गए, विकसित नहीं हो सके। महफिल जीतना और अपना दबदबा बनाए रखना ही उन्होंने प्रतिष्ठा की बात मान ली थी। जिद्दीपन उनका स्थायिभाव था। इस संदर्भ में एक संस्मरण उल्लेखनीय है। सन १९४३ की बात है। शिकारपुर (सिंध प्रांत में सक्कर के पास-अब पाकिस्तान में) में होली के दिनों में एक संगीत सम्मेलन का आयोजन किया गया था। पं. बसवराज राजगुरु के बाद पंडितजी का कार्यक्रम था। पं. बसवराज की आवाज स्वाभाविक रूप से ऊंची थी। उन्होंने अपने तानपूरे को काली तीन में मिलाकर अपना गाना प्रस्तुत किया। मैंने

पंडित जी से पूछा, "तानपूरे को उतार कर सफेद चार के अंतर्गत मिलाना है क्या?" वास्तव में तो उनके लिए यह भी ऊंचा स्वर ही था। लेकिन उन दिनों ऊंचे से ऊंचे स्वर में गाना ही प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। पंडित जी बोले, "नहीं। मैं पं. बसवराज के स्वर में ही गाऊंगा।" और सचमुच ही वे काली तीन के स्वर में डेढ़ घंटे तक गाते रहे। उन्होंने अपनी आवाज की बुलंदी के आधार पर उस महफिल में रंग जमा दिया। लेकिन मुझे उनकी वह प्रस्तुति बिल्कुल कलात्मक नहीं लगी क्योंकि सब कुछ स्पर्धात्मक ईर्ष्या थी रसात्मक आर्द्रता का नाम भी नहीं था। लेकिन उनके गानों के कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जो मन पर स्थायी प्रभाव किए हुए हैं। इसलिए कलाकार के रूप में पंडित जी के सांगीतिक कर्तृत्व का विचार करते समय इन सभी बातों को ध्यान में रख कर, उनकी कला का मूल्यांकन तथा संगीत में उनके स्थान का प्रतिपादन करना पड़ेगा।

यह तो पं. विनायकराव जी के सांगीतिक कर्तृत्व का एक पहलू हुआ। परन्तु पंडितजी के सांगीतिक जीवन की कोई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है तो वह है अपने शिष्यों को मुक्त हस्त विद्यादान करने की उनकी गुरुता। एक आदर्श संगीत गुरु के रूप में उनका व्यक्तित्व विशेष उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उनका महत्त्व और उनका स्थान निश्चय ही उच्च श्रेणी का है। विद्यादान करते समय दिल का खुला पन, निष्कपटीपन, दृढ़ता, लगन, अनुशासनप्रियता और प्रामाणिकता आदि ऐसे गुण हैं जो पंडितजी को तत्कालीन संगीत गुरुओं में, श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। अनेक कलावंत गुरु अपने शिष्यों को बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था से पढ़ाने में रुचि नहीं रखते हैं। साधारणतः यह देखा गया है कि जो कलाकार महफिलों में कार्यक्रम प्रस्तुत कर प्रसिद्ध हो जाते हैं वे शिष्यों को सिखाने का कार्य टालते हैं। एक यह भी धारणा है कि जो कलाकार शिष्यों को पढ़ाने का कार्य स्वीकार कर लेते हैं, उनकी कलात्मक प्रतिभा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

परंतु गुरुवर्य पं. विनायकराव जी स्वभावतः विद्यादानी गुरु ही थे। वे अपने शिष्यों को बड़ी कुशलता और परिश्रम के साथ पढ़ाया करते थे। बड़ी रुचि, परिश्रम और ईमानदारी के साथ संगीत की शिक्षा देना उनका जन्मजात गुण था, फिर सामने बैठा हुआ विद्यार्थी एकदम प्राथमिक अवस्था का है या पहले से ही कुछ सीखा हुआ है अथवा बिल्कुल तैयार है, इन बातों से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता था। गुरुजी चिड़चिड़े स्वभाव के थे-क्रोधी थे और शिष्यों को उनसे भय लगता था; फिर भी उनके प्रति एक हार्दिक आदर भाव था। क्योंकि वे मन लगा कर ईमानदारी से पढ़ाते थे। उनके वे शिष्य जो उनके चिड़चिड़े स्वभाव के कारण दूर दूर रहते थे, वे भी पंडितजी के बारे में आदर्श गुरु के रूप में कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करते थे। अपनी उम्र के १६-

१७ वर्ष से जीवन भर अर्थात् लगभग ६० वर्ष की उम्र तक उन्होंने संगीत सिखाने पढ़ाने का कार्य किया। इस काल खड में सैकड़ों की संख्या में उन्होंने विद्यार्थी तैयार किए। उनके शिष्यगण में पं. द. वि. अर्थात् बापूराव पलुसकर जैसे श्रेष्ठ कलाकारों से लेकर बिलकुल सामान्य स्तर के प्राथमिक छात्रों तक का समावेश है। उनके पढ़ाए हुए शिष्य आज संगीत क्षेत्र में पर्याप्त यश और धन अर्जित कर रहे हैं। उनके अनेक शिष्य कलाकार, शिक्षक, संगीत विद्यालय संचालक-संयोजक, संगीत निर्देशक, लेखक, प्रचारक आदि के रूप में कार्य कर रहे हैं। पंडितजी ने एक तरफ प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की तरह अनेक शिष्य तैयार किए तो दूसरी तरफ आधुनिक विद्यालय पद्धति से भी सैकड़ों छात्रों को मुक्तहस्त विद्यादान किया। शिक्षणक्षेत्र में उनका कार्य पं. विष्णु दिगंबर के जैसा ही था, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। स्व. पं. विष्णु दिगंबर ने अपनी संस्था में संगीत सीखनेवाले सभी शिष्यों की आर्थिक जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले ली थी। पं. विनायकरावजी ने इस तरह का कोई आर्थिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया था; फिर भी उन्होंने अनेक जरूरत मंद विद्यार्थियों को अपने विद्यालय में आश्रय देकर बिना शुल्क संगीत शिक्षा प्रदान की। उनके विद्यालय में भारत के सभी प्रांतों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते दिखाई देते थे।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपने गुरुबंधुओं की तुलना में, पं.विष्णु दिगंबर जी के महान् आदर्श को ग्रहण करने और उनकी विरासत को अधिकाधिक मात्रा में निभाने का प्रयत्न सिर्फ पं. विनायकराव जी ने ही किया। एक आदर्श संगीत शिक्षक के रूप में पंडित जी का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है ही, परंतु संगीत शिक्षा का स्तर बढ़ाने के लिए; संगीत शिक्षा की अधिकाधिक सुलभता के लिए और संगीत के सार्वत्रिक प्रचार प्रसार के लिए उन्होंने जो प्रयास किए वे भी उतने ही ठोस और महत्त्वपूर्ण है। पंडितजी के सांगीतिक कर्तृत्व का यह तीसरा पहलू है। हिंदुस्थानी संगीत के अंतर्गत साधारणतः प्रचलित-अप्रचलित कुल २५०-३०० राग ही गाये जाते हैं। इन रागों की अधिकाधिक बंदिशें उन्होंने इकट्ठी कीं; जिनकी बंदिशें प्राप्त नहीं हो सकीं उनके लिए स्वयं ही कुछ रचनाएं स्वरबद्ध की और उन्हें स्वरलिपि के साथ (नोटेशन सहित) 'राग विज्ञान' भाग ७ में प्रकाशित कराया। संगीत के विद्यार्थियों के लिए यह एक अमूल्य और चिरस्मरणीय तथा अत्यंत उपयोगी कार्य है। 'राग विज्ञान' के सभी भागों में बंदिशों के स्वर लेखन (नोटेशन) तो हैं ही; साथ ही राग विस्तार की दृष्टि से आलाप, तान आदि भी हैं और राग की संपूर्ण जानकारी एवं तुलनात्मक चर्चा आदि के द्वारा अध्ययन की दृष्टि से उसे अत्यंत उपयोगी बनाया गया है। संगीत की शिक्षा में गायकी गुरु मुख से ही सीखनी पड़ती है तथापि प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए और संगीत के मार्गदर्शक शिक्षकों के लिए ये पुस्तकें अत्यंत

उपयोगी हैं। संगीत शिक्षा का स्तर बढ़ाने की दृष्टि से और संगीत के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से 'राग विज्ञान' भाग ७ का प्रकाशन अपने आप में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद कार्य है। पंडित जी के इस कार्य का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करन आवश्यक है।

राग विज्ञान के साथ ही ग्वालियर परंपरा की बंदिशों के स्वरलेखन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। पं. बाळकृष्णबुवा इचलकरंजीकर के शिष्य पं. मिराशीबुवा से अधिकृत बंदिशें प्राप्त करके और उनकी स्वरलेखन पद्धती पर पं. विनायक राव जी ने उन्हें 'भारतीय संगीत माला' नाम से तीन भागों में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त सभ्य समाज में अच्छे अर्थोंवाली बंदिशें गाई जाएं अर्थात् समाज पर अच्छे संस्कार हों; इस हेतु से, पंडित जी ने संतों की चुनी हुई रचनाओं को रागदारी संगीत के अंतर्गत स्वरबद्ध किया और उन रचनाओं को विद्यालय में पढ़ाया तथा पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी किया। संगीत शिक्षा की दृष्टि से उनके इस कार्य को कितनी सफलता प्राप्त हुई, इसे मतभेद का मुद्दा मान भी लें, तो भी पंडितजी के सांगीतिक कर्तृत्व के अंतर्गत यह एक और अधिक पहलू को जोड़ता है। संगीत का मराठीकरण करने की दृष्टि से भी उन्होंने कुछ रचनाओं को स्वरबद्ध करके प्रकाशित किया। यह बात अलग है कि उनके ये प्रयास अधिक सफल नहीं हो सके। परन्तु संगीत के क्षेत्र में उनके प्रयत्नों की महत्ता को ये कम नहीं करते।

विविध पहलुओं से विभूषित व्यक्तित्ववाले 'पं. विनायकबुवा' के कर्तृत्व का एक और भी उल्लेखनीय पहलू है और वह है उनका संगीत-संस्था-स्थापन विषयक कार्य। उन्होंने सन १९३२ में अपने गुरु की स्मृति में 'गांधर्व महाविद्यालय' पुणे की स्थापना की। बीस वर्षों तक निरंतर प्रयास करते हुए उन्होंने इस संस्था को पर्याप्त ऊंचा उठाया और अनेक व्यावसायिक संगीतकारों का निर्माण किया तथा सैंकडों विद्यार्थियोंने विद्यालय में संगीत विद्या का प्रशिक्षण प्राप्त किया। आगे चलकर अ. भा. गां. म. वि. मंडल के साथ उनका मतभेद बढ़ गया तो उन्होंने 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' नामक एक दूसरी संस्था स्थापित की और संगीत विद्यालय का कार्य स्वतंत्र रूप से इस संस्था के माध्यम से करते रहे। बाद में इस संस्था के सहकारियों से भी मतभेद बढ़ गया। परिणामस्वरूप उन्होंने 'पं. विष्णु दिगंबर स्मारक समिति' और 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय' (सन १९५२) नामक दो स्वतंत्र संस्थाओं को निर्माण किया। इन संस्थाओं के व्यापक कार्य को संभालते हुए पंडित जी ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था—मिरज में 'पं. विष्णु दिगंबर स्मारक मंदिर' का निर्माण। इस स्मारक मंदिर के रूप में उन्होंने एक अत्यंत उपयोगी और सुंदर इमारत खड़ी कर दी; साथ ही इसमें हर वर्ष गुरुवर्य पं. विष्णु दिगंबर की पुण्यतिथि समारोह

का आयोजन होता रहे, इसके लिए एक स्थाई 'विश्वस्त निधि' का संयोजन भी किया। इस कार्य की विशेषता यह है कि इसके लिए उन्होंने किसीसे भी आर्थिक मदद नहीं ली। अपने स्वयं के कर्तृत्व के आधार पर परिश्रमपूर्वक अर्जित की हुई संपत्ति का उपयोग उन्होंने इस कार्य के लिए किया। अपने गुरु पं. विष्णु दिगंबर के प्रति अपार भक्ति और श्रद्धा ही इस कार्य की मूल प्रेरणा मानी जा सकती है। पं. विष्णु दिगंबर के अन्य शिष्यों के कार्यों की तुलना में. पं. विनायकराव जी का यह कार्य विशेष उल्लेखनीय है।

स्व. पं. विनायकराव जी के जीवनकार्य पर विचार करते समय उनके सभी सांगीतिक कार्यों का आकलन करना अपेक्षित होगा। उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने संगीत के क्षेत्र में और भी बहुत से कार्य किए हैं। उदाहरण के लिए संगीत नाटकों में सहभाग, सिनेमा संगीतों का निर्देशन, आकाशवाणी में कलाकार-चयन-समिति की सदस्यता, विदेशों में जाने वाले सांस्कृतिक समितियों के सदस्य आदि अनेक कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है। एक संगीत कलाकार का व्यवसाय ही उनके अर्थार्जन का प्रमुख साधन था। संगीत गुरु के रूप में या,संगीत संस्था संचालक के रूप में उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक आमदनी नहीं होती थी। संगीत क्षेत्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का भार उन्होंने अपनी स्वयं की हिम्मत पर ही उठाया था। गुरुभक्ति, गुरु का आदर्श, गुरु द्वारा प्रदत्त संस्कार आदि के कारण पं. विनायकराव जी ने संगीत-क्षेत्र में इतने विविध और व्यापक एवं ठोस कार्य किए हैं कि तत्कालीन संगीतकारों में उनका वैशिष्ट्य अलग दिखाई देता है। उनके कर्तृत्व की व्यापकता को देख कर कभी-कभी ऐसा लगता है कि यदि उनके व्यक्तित्व में चिड़चिड़ापन या क्रोधीपन और लोकसंग्रह के लिए आवश्यक उदार एवं सहनशील वृत्ति का अभाव न होता तो संगीत-क्षेत्र में उनका कार्य इससे भी अधिक चमक उठता। लेकिन 'किंतु-परंतु-यदि' आदि की बातें छोड़ भी दें तो भी सभी लोग इसे स्वीकार करेंगे कि पंडित जी के द्वारा किया गया कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और संगीत जगत् में उनका अपना विशिष्ट स्थान है।

पं. विनायकराव पटवर्धन :
आदर्श गुरु

डॉ. म. वि. पटवर्धन

संगीत प्रचारक की भूमिका में, मैंने पं. विनायकरावजी को अत्यंत निकटता से देखा है—समझा है और बहुत कुछ सीखा भी है। पंडित जी एक उत्कृष्ट कोटि के गायक थे। संगीत-महफिलों में वर्षों तक तानपूरे पर मैंने उनका साथ दिया है। इसलिए बड़ी निकटता से मैंने इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव लिया है कि महफिलों में गानों को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए। पं. विनायकबुवा गुरुजी का सदैव ही यह प्रयत्न रहता था कि कार्यक्रम पूर्व निर्धारित ठीक समय पर ही प्रारंभ होना चाहिए। इस बात का व्यावहारिक महत्त्व समझ में आता है कि ठीक निर्धारित समय पर कार्यक्रम शुरू करने से वह आकर्षक और तृप्तिदायक रूप से संपन्न होता है। उनके आयोजनों में कभी ऐसा नहीं हुआ कि कार्यक्रम देर से प्रारंभ हुआ हो और लोग देरी के कारण परेशान हुए हों। विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय के निर्धारित कार्यक्रमों में श्रोता और संयोजक बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा करते थे। गुरुपूर्णिमा के कार्यक्रम विद्यालय के पासवाले राजवाडे मंगल कार्यालय के ऊपरी हॉल में हुआ करते थे। उन कार्यक्रमों में वे अपने गुरु से सीखे हुए राग और बंदिशें गाया करते थे। वे बंदिशें बड़ी प्रभाव शाली होती थीं। वे उस दिन इन बंदिशों में प्रमुख रूपसे मल्हार, केदार, मारवा, श्री, दरबारी, कानड़ा, जयजयवंती, भूप, पूरिया इत्यादि को प्रस्तुत करते थे। उनकी ये बंदिशें बड़ा ही रंग जमाती थीं। इन रागों में उनके गुरु द्वारा प्रदत्त विशिष्ट शैली की छाप स्पष्ट तौर पर दिखाई देती थी। इन उत्सवों में ही मुझे यह पता चला कि उनके गुरु एक असामान्य कोटि के संगीत शिक्षक थे। पिछले अनेक वर्षों से मैं इस बात पर गौर करता आ रहा हूं और आज भी यह मुझे एक चमत्कार लगता है। सचमुच ही गानों को इतनी अच्छी तरह से सिखाना एक कठिन कार्य है। इस तरह की प्रशिक्षण पद्धति की आज भी नितांत आवश्यकता है।

जब पं. विनायकराव जी घरानेदार रागों को प्रस्तुत करते थे तब, उनकी लय, गति वेग, अनुशासन, भावानुकूलता और रीति को देख कर मैं दांतों तले उँगली दबाने लगता था। आज यह लेख लिखते समय ऐसा लगता है कि वे गाने कानों में गूंज रहे हैं। उन गानों में वे सर्वप्रथम गुरुपरंपरा से प्राप्त प्रशिक्षण के दर्शन कराते, रागों का विकास करते और बाद में तराना, एकाध भजन, अष्टपदी, चतरंग, टप्पा, राग सागर आदि में से प्रसंगानुसार चुने हुए भाग गाते थे। राग मल्हार में "बाजत तत बीतत", केदार में 'बनठन कहां', श्री में 'गजरवा', दरबारी में 'घूंघट का पट खोल', जयजयवंती में 'लरा माई', मारवा में 'पिया मोरे', पूरिया में, 'फूलन के हरवा', भूप में 'जब ही सब निरपत' और 'धिरकट धी धीना', त्रिवट, मलार, जयजयवंती, भूप, अड़ाना, पूरिया, बिहाग, केदार इत्यादि रागों के बिलक्षण प्रभावोत्पादक तरानों को वे इतनी अच्छी तरह से प्रस्तुत करते थे कि यदि इन को अपनी विशिष्टताओं के साथ सुनना होता तो वे पंडित जी से ही सुने जा सकते थे। उनकी गायकी, बंदिशें और प्रस्तुत करने की रीति अप्रतिम होती थी। स्व. विष्णु दिगंबर की बंदिश–'चतरंग गावो गुनि सब मिलकर' पं. विनायक राव जी सिंदुरा राग में बहुत ही अच्छे ढंग से गाते थे। ऐसे प्रसंगों में पंडित जी के द्वारा प्रस्तुत चीजों में उस तालीम की अदा भी देखने को मिलती थी, जो उन्हें पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर जी से प्राप्त हुई थी। पं. बालकृष्णबुवा से जो बंदिशें उन्हें मिली थीं, उनमें से 'अष्टपदी' को वे अपने दादा गुरु–पं. बालकृष्णबुवा के नाम का (पं. बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर पं. विष्णु दिगंबर जी के गुरु थे) बार-बार उल्लेख करते हुए बड़ी तन्मयता के साथ गाते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनमें से बिहागड़ा राग के एक विलक्षण तराना–'ये मन हमीर' को गाते समय, राग सागर की अप्रतिम बंदिश और उसकी विशेष बोलतानों के कारण पंडित जी खूब रम जाते थे। सामंत कल्याण में 'कैसे दरस परस', गांधारी में 'बिरवा मनुवा', तथा खट में 'विद्याधर गुनियन' आदि अनेक बंदिशें अनेक अवसरों पर हमने उनसे सुनी जिनमें गुरुपरंपरा के विलक्षण दर्शन होते थे। रोचक इतिहास की तरह गुरुपूर्णिमा के तीन सप्ताह बाद ही पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर जी की पुण्यतिथि आती थी। उस दिन पं. विनायकराव जी के गाने कुछ और ही रंग दिखाते थे। वह दिन नए रागों का एक अपूर्व पर्व होता था। उस दिन पंडित जी प्रतिवर्ष एक नया राग और एक नई बंदिश प्रस्तुत करते थे। साल भर जिस चीज का रियाज करते उसे ही वे उस दिन अपने गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ अर्पित करते थे। श्रोता गण इन दोनों कार्यक्रमों की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते थे। गुरुपूर्णिमा के दिन इन श्रोताओं को अनेक गुरुओं से प्राप्त बेजोड़ तालीम के दर्शन होते थे तो पुण्यतिथि के कार्यक्रमों में पंडित जी के रागों की मौलिकता का अनुभव होता था। ये दोनों ही कार्यक्रम उच्च श्रेणी के तो थे

ही साथ ही, उनमें अनोखा आनंद-लाभ मिलता था। पुण्यतिथि का कार्यक्रम टिलक स्मारक मंदिर (पुणे) में आयोजित होता था। मूसलाधार वर्षा में अपार जनसमूह एकत्र हो जाता। पुण्यतिथि के दिन कार्यक्रम होगा ही, यह निश्चित था।

इसी तरह संगीत महाविद्यालय का पदवीदान समारोह भी बड़े उत्साह से संपन्न होता था। प्रारंभ में पदवी प्राप्त करने वाले संगीत स्नातकों को अपना गाना प्रस्तुत करना पड़ता था। यही उनकी सच्ची परीक्षा थी। पंडित जी पदवी प्राप्त करनेवालों को उपदेश देते हुए कहते थे, 'यह अच्छा ही हुआ है कि आप लोगोंने पदवी प्राप्त कर ली है। अब आप संगीत सीखने के योग्य बन गए हैं। यह ध्यान में रखिए कि पदवी गा कर ही प्रमाणित करनी पड़ती है इस प्रमाण पत्र की प्राप्ति के अभिमान में इस तथ्य को मत भूलिए। निरंतर परिश्रम करते रहना चाहिए। इस बात को वे जोर देकर कहते थे कि महिलाएं अपना घर गृहस्थी संभाल कर भी गा सकती हैं और पुरुष अपनी नौकरी करते हुए भी संगीत साधना कर सकते हैं। निष्ठापूर्वक परिश्रम होना चाहिए। आलस्य और निकम्मापन यहां नहीं खप सकता। इसी प्रकार से वे यह भी मार्गदर्शन करते कि नोटेशन अच्छी तरह से क्यों आना चाहिए? इस बात को वे गा कर, अनेक उदाहरण दे कर और अनेक ऐतिहासिक प्रसंग बताकर बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया करते थे।

आकाशवाणी ने अखिल भारतीय संगीत कार्यक्रमों (National Programmes of Music) के अंतर्गत गुरुशिष्यपरंपरा पर आधारित कार्यक्रम कदाचित सन १९६६ में प्रारंभ किए। आकाशवाणी ने यह निश्चय किया कि इसका श्रीगणेश पं. विनायकराव जी के कार्यक्रम से ही किया जाए। इस में उन्होंने दरबारी कानडा राग का 'मुबारक बादिया' बिलंबित ख्याल और 'बंधनवा बांधोरे' द्रुत चीज बड़ी ही विलक्षण शक्ति और बहारदार रीति से प्रस्तुत की। बीच-बीच में उस अच्छी तालीम के भी दर्शन होते थे जो उन्हें अपने गुरु से मिली थी। पं. विष्णु दिगंबर जी ने महफिलों के लिए जो शिष्य तैयार किए थे उन में उनकी शिक्षण कला तथा शिष्यों द्वारा कठोर रियाज करा लेने का कौशल झलकता था। इस बात का पक्का विश्वास आकाशवाणी के उक्त गुरु-शिष्य परंपरा वाले कार्यक्रमों में निश्चित रूप से हुआ। पं. विष्णु दिगंबर जी ने जब अपनी विशिष्ट नोटेशन पद्धति (स्वर लेखन पद्धति) प्रारंभ की थी तब पं. विनायकराव जी ने उनके विद्यार्थी और सहयोगी के रूप में उस प्रायोजना में कार्य किया। इस प्रायोजना के अंतर्गत पं. विनायकबुवा को प्रारंभ से ही यह सिखाना पड़ा कि हम जो राग गाते हैं उसका स्वर क्या है? उसमें कितनी मात्राएं हैं? झटपट इसका उत्तर देना शुरू-शुरू में बड़ा मनोरंजक था। पंडित जी इस कार्य के प्रारंभिक प्रवर्तक हैं।

नोटेशन करने में उनकी प्रतिभा विलक्षण रूप से कार्य करती थी। इस संबंध में उन्होंने एक पदवीदान समारोह में एक मजेदार किस्सा सुनाया। किस्सा इस प्रकार है—'एक बार एक सितारवादक खां साहब ने अपनी सितार पर एक 'गति' बजाते हुए कहा की गति कहां से प्रारंभ होती है यह समझना अत्यंत कठीन है। खां साहेब की यह चुनौती थोड़ी बहुत ठीक भी थी क्योंकि मात्राओं को खोजना इतना सरल कार्य नहीं है। लेकिन खाँ साहेब को इस बात का बिल्कुल अंदाज नहीं था कि पं. विनायकराव जी और उनके सहयोगी (पं. विष्णु दिगंबर जी के उस समय के अन्य विद्यार्थी) नोटेशन करने में इतने पारंगत हैं, क्योंकि तब तक नोटेशन विषय एकदम नया ही तो था। इस कार्य में ये विद्यार्थी इतने कुशल हो गए थे कि 'नोटेशन' शब्द सुनते ही, क्षण भर में नोटेशन तैयार कर देते थे। शुरू-शुरू में तो नोटेशन करने में एक निश्चित समय लगा करता था किंतु अब ये विद्यार्थी इतने अभ्यस्त हो गए थे की खां साहेब की वाणी सुनते ही क्षण भर में नोटेशन तैयार हो जाता। भैरवी में आठ मात्राओं के त्रिताल में एक पूर्ण और एक आधी मात्रा अर्थात् डेढ़ मात्रा समाप्त होनेपर उठने वाली वह 'गति' थी। झटपट नोटेशन बताकर ये विद्यार्थी अगले प्रश्न के लिए तैयार बैठे थे 'बोलिए खां साहेब। और कौनसा नोटेशन बतायें ?' विद्यार्थियों की इस भंगिमा को देख कर खां साहेब पं. विष्णु दिगंबर जी से कहने लगे, "ये तो सब चोर हैं।"

इतना सब होते हुए भी नोटेशन जानने के क्या लाभ हैं और उसकी क्या सीमाएं हैं--इस बात को पं. विनायकराव जी बहुत अच्छे ढंग से बताते थे। आज भी ऐसा लग रहा है कि उनके सामने ही बैटा हूँ और सुन रहा हूं। एक-एक चीज हजार-हजार बार क्यों बोलनी चाहिए और गुरुमुख से बार-बार क्यों सुननी चाहिए--उसकी बारीकियां क्या हैं ? तालों का रूप कैसा है ? इन सभी बातों का निदर्शन पंडित जी बहुत अच्छी तरह से करते थे। सन् १९१६ में याद किया हुआ बिहागड़ा राग का तराना उन्होंने १९६६ में ज्यों का त्यों गा कर सुना दिया था, बिल्कुल उसी भाव भंगिमा के साथ। वह तराना उन्होंने अपनी पुस्तक में छपवाया है।

पं. विनायकराव जी गा-गा कर यह समझाते थे कि रहमत खां कितने अच्छे ढंग से तराना गाते थे, उनके गाने की तकनिक कैसी थी और वे कितने ऊँचे थे ? पं. जी जब सिखाने लग जाते थे तब उन्हें समय का ध्यान नहीं रहता था। हम विद्यार्थी कई बार भूख से बेहाल हो जाते थे किंतु ऐसा लगता था कि उनके सामने गाते ही रहें साथ ही यह भी इच्छा बनी रहती कि वे भी गाते रहे। जब वे बंदिश को समझाकर उसे घोंटने के लिए कह देते और स्वयं अपने स्नान-ध्यान-संध्या करने में लग जाते, तब हम में से एक-एक विद्यार्थी उठता और मेरी मां के पास रसोई घर में जाकर

कुछ खा आता और फिर रियाज में बैठ जाता था। उन्हें लगता इन लड़कों को इतना पिदाया है फिर भी बिचारे ईमानदारी से गाने में जुटे हुए हैं। फिर भोजन करते समय उनके प्यारभरे आग्रह से भोजन का स्वाद दुगुना हो जाता था। कितना आनन्दमय था वह समय!

राग और बंदिशों के संबंध में परंपरा का ध्यान रखते हुए वे बड़ी आत्मीयता के साथ बोलते थे। सच तो यह है कि उस समय हमें उनकी इन बातों का महत्त्व समझ में नहीं आता था। हम सिर्फ इतना ही जानते थे कि पंडित जी जो-जो कहें उसे अच्छी तरह से करना चाहिए। उस समय एक नियम बन गया था कि रोज जिस समय पंडित जी हमें सिखाया करते थे—ठीक उसी समय हमें अपने रियाज पर बैठ जाना चाहिए; चाहे पंडित जी पुणे में हों या पुणे से बाहर! उस समय संगीत महफिलों में उन्हें इतना बुलाया जाता था कि भारत भर में उनका भ्रमण निरंतर होता रहता था। लेकिन निर्धारित समय रोज हमारा गाना शुरू हो जाता था।

एक बार 'अल्हैया बिलावल' के अंतर्गत उन्होंने 'दैया कहा' और 'कवन बटरिया' गाने बड़े ही उत्तम प्रकार से सिखाए। लेकिन मेरी तैयारी में कसर रह गई थी। जब उन्होंने मुझसे सुना और मैंने दोनों बंदिशें बोल दीं तो मेरे कच्चे पन पर उन्होंने तुरंत क्रोध प्रकट नहीं किया। लेकिन क्षण भर बाद मेरी यह धारणा गलत सिद्ध हुई कि सिखाते समय वे कभी क्रोध नहीं करते। क़िस्सा सुनने लायक है। बोले—"अब ये चीजें एक सप्ताह बाद फिर से सुनाइए।" आदरार्थी शब्द 'सुनाइए' का स्पष्टीकरण मेरी मां ने किया। उन्होंने ये चीजें सुनी थीं। मुझसे बोलीं, 'सुनाइए' का अर्थ तेरी समझ में नहीं आया है। एक सप्ताह में हजार बार ठीक तरह से बोलेगा तब तेरी समझ में आएगा कि इसका क्या अर्थ है! सिर्फ चीज कह देने से सुनाइए का कोई अर्थ नहीं है, उन्होंने तुझे जिस जगह 'सुनाइए' सुनाया है बंदिश का जो हिस्सा फिर से सुनाने को कहा है उसे गा कर देखेगा तभी समझ में आएगा। तेरे बारे में 'सुनाइए' आदरार्थी प्रयोग ठीक नहीं है अभी तू छोटा बच्चा ही तो है–तुझे तो वे सदैव एक वचन में ही पुकारते हैं। (पं. जी सभी विद्यार्थियों को आदरार्थी बहुवचन में संबोधित करते थे–एकवचन में कभी नहीं।) लेकिन 'सुनाइए' आदरार्थी बहुवचन का यहां अर्थ यह है कि तुम्हारी तैयारी में कमी है, उसे पूरा करो। इसे अच्छी तरह से समझ ले।

एक सप्ताह बीत गया, स्वयं पंडित जी ने ही इसकी याद दिलाई। मैं उत्सुकता से बैठा था। एक साथी को तबलो पर बिठाया। असल में पं. जी ने ही उसे उंगली का संकेत कर बैठने का निर्देश किया था। मैं गाने लगा। लय की बोलतानें, तान की बोलतानें और तानों के साथ विलंबित ख्याल पूरा हुआ और द्रुत अच्छी तरह तानें

खुली आवाज थी उनकी। काकु का प्रयोग नहीं करते थे। स्वर को बढ़ाते-बढ़ाते तार षड्ज तक पहुँचा कर शुद्ध रूप में खुली बुलंद आवाज में पंडित जी गाते ही रहें ऐसा लगता था। विशुद्ध रूप से षड्ज पर श्री.बालगंधर्व, और सुश्री हीराबाई जिस-जिस वलय और वक्रता से गाते थे वह मंत्रमुग्ध कर देता था। तीनों के तरीके अलग अलग थे; किंतु तीनों में ध्यान आकर्षित करने वाली बात थी 'तार षड्ज'। पंडित जी के साथ जो संगतकार तबले-सारंगी पर बैठते थे उनकी वे तारीफ करते रहते थे-महफिल में उनकी योग्यताओं का उल्लेख किए बिना नहीं रहते थे। बड़े अभिमान के साथ उनका बखान करते और इस प्रकार हम जो तानपूरे पर उनका साथ देते थे-उनके लिए एक उत्साहवर्धक वातावरण पैदा कर देते थे। लेकिन जब गाना शुरू हो गया तो कुहनी मार-मार कर यह संकेत करते थे कि देखो हमारा गाना किस तरह चल रहा है।

प्रतिवर्ष पलुसकर पुण्यतिथि पर नया राग प्रस्तुत करने से पहले पंडित जी लोगों को समझा देते थे कि राग का स्वरूप क्या है और उसकी बढ़त किस प्रकार होगी। तानपूरे और सारंगी के सहवादकों को इस प्रकार के स्पष्टीकरण से सहायता होती थी। सभी लोग बहुत अच्छे ढंग से साथ देते थे। वे इस बात का ध्यान रखते थे कि राग का स्वरूप खंडित न हो या गुरु जी को राग की प्रस्तुति में परेशानी न हो। नए रागों के प्रस्तुतीकरण से कई अच्छी बातें हुईं। नए राग और नई बंदिशों का महत्त्व समझ में आया। गुरु शिष्य परंपरा का विकास हुआ। इसी में से 'राग-विज्ञान' भाग ६ और ७ का निर्माण हुआ। 'राग-विज्ञान' के लेखन द्वारा पंडित जी ने संगीत जगत् को एक महान् भेंट प्रदान की है। उन्होंने इस मालिका के भाग १ से ७ तक लिखने में इतना कठोर परिश्रम किया जिसकी कोई तुलना नहीं है। इन भागों में उन्होंने २५० राग और १२०० नोटेशन सहित बंदिशों के लिखने का महान् कार्य किया है। इस कार्य के द्वारा वे संगीत संसार में अमर कीर्ति के पात्र हैं। संगीत के लिए उन्होंने अपने आप को पूर्णतः समर्पित कर दिया था। उनके विशुद्ध-निर्मल चरित्र, निर्व्यसन-मर्दाने व्यक्तित्व और बुलंद आवाज के वैशिष्ट्य को उनके शत्रु भी स्वीकार करते थे। संगीत-विकास के लिए उन्होंने अकेले ने जितना कार्य किया उतना शायद दस लोग मिलकर-सहकारी संस्था बनाकर भी कर पाते इसमें संदेह है। पंडित जी लयज्ञान, तालज्ञान, रागों के शुद्ध स्वरूप, बढ़त-विकास, बंदिश इत्यादि की शिक्षा बहुत ही अच्छे ढंग से देते थे। इस कार्य के लिए जितना वे कर सकते वह सब उन्होंने किया। पाठ्यक्रम निर्धारित करनेका कार्य; स्तरीय क्रमिक पुस्तकें लिखने का कार्य; सप्रयोग व्याख्यान देने का कार्य; वंदे मातरम् या ईशस्तवन गाने के कार्य; नाट्य-प्रवेश या नाट्य-वाचन अथवा स्वयं या समूह के साथ

नांदी पाठ करने का कार्य और इसी प्रकार विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों से लेकर छोटे छोटे बच्चों तक के बीच संगीत तत्वों के ज्ञान कराने के काम को उन्होंने बड़े उत्साह के साथ किया। काफी थक जाने पर भी उन्होंने इन कार्यों में अपनी अरुचि या शिथिलता प्रदर्शित नहीं की। समय की पाबंदी, आदर, अदब, नम्रता, स्वावलंबन आदि उनमें अलौकिक गुण थे।

संगीत शिक्षक के व्यक्तित्व में क्या क्या गुण होने चाहिए इसका उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता और गहनता से विचार किया होगा। दूसरों के साथ आदरपूर्वक व्यवहार करने की उनकी विशेषता उल्लेखनीय थी। कदाचित विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में घूमने के कारण यह विशेषता आई हो। छात्र चाहे कितना ही छोटा होता उन्होंने कभी किसी को 'तू-तड़ाक' कह कर संबोधित नहीं किया। सभी से 'आप' और तुम कह कर बोलते थे। शुरू-शुरू में छात्रों को बड़ा अटपटा लगता था–किंतु धीरे-धीरे सब ठीक हो जाता था। पंडितजी अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे तथा समय के जबरदस्त पाबंद थे। संगीत महाविद्यालय का कार्य भी अन्य विद्यालयों-महाविद्यालयों की तरह ही समय-सारिणी के अनुसार चलता था। कक्षाएं जिस समय शुरू होनी चाहिए ठीक उसी समय प्रारंभ होती थीं। शिक्षकों की पोशाकें संगीत परंपराओं के अनुसार होती थीं। स्वय पंडित जी अपनी पोशाख में बड़े प्रभावशाली लगते थे। धोती, कोट, टोपी सब कुछ व्यवस्थित और संजीदा। सभी कपड़े लोहा किए हुए एकदम टिपटॉप। ढीला-ढालापन या शिथिलता उन्हें पसंद न थी। उनसे नजरें मिलाना बहुत कठिन था। और कामचोर छात्र के लिए तो यह असंभव ही था। उनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। जब वे कक्षाओं का निरीक्षण करने जाया करते थे तो उन्हें देख कर छात्र सहम जाया करते थे। विद्यार्थियों की कठिनाइयों को वे झटपट समझ लेते थे और अनुशासनपूर्ण तरीकों से तत्परता के साथ उन्हें दूर भी करते-करा देते थे। लेकिन वे इस बात पर बहुत जोर देते थे कि विद्यार्थियों को अनुशासन का पूरा पालन करना चाहिए। उन्हें दानेदार तानें लेना आना चाहिए इसके लिए वे आवश्यक तानपलटे सिखाकर उनका गला भी तैयार करा लेते थे। उनकी आस्था, प्रयत्न और आदर्श कार्यकर्ता की लगन अत्यन्त प्रामाणिक थी। आलस्य तथा पराश्रय की प्रवृत्ति मानो उन्हें मालूम ही नहीं थी। स्वभावतः वे विद्यार्थियों से यही अपेक्षा रखते थे। विद्यालय में निरंतर संगीत की सरिता बहती रहती थी। किसी कक्षा में गाना चल रहा है, किसीमें रियाज, किसीमें तबला तो किसीमें तानपूरे के तार झनकार रहे हैं। विलक्षण मनोहारी दृश्य होता था। हर शनिवार के दिन सामूहिक जलसा होता था। उसमें छात्रों को गाना ही पड़ता था। इसके लिए छात्र तैयारी करते थे। इस जलसे के अंत में पंडित जी उन्हीं रागों को स्वयं प्रस्तुत करते थे, जो उन्होंने छात्रों को सिखाए थे। उसी समय उन

भूमिका अच्छी तरह से अदा की। अत्यंत प्राथमिक संगीत प्रशिक्षण से लेकर अति उच्च श्रेणी तक की शिक्षा-व्यवस्था पंडित जी ने उपलब्ध कराई। 'प्राथमिक पाठशाला बाल-संगीत' भाग १ से ३; 'राग-विज्ञान' भाग १ से ७; 'तबला मृदंग वादन-पद्धति' भाग १ से २, 'महाराष्ट्र संगीत प्रकाश'; 'नाट्यसंगीत', पंडित विष्णु दिगंबर जी का चरित्र, और मूर्च्छनातत्त्व पर लिखी पुस्तकें आदि का लेखनकार्य इतना विपुल मात्रा में किया गया है कि उसे हम संगीत जगत् को पंडित जी की महान् देन कह सकते हैं। सरगम, लक्षणगीत, ध्रुपद, धमार, होरी, अष्टपदी, टप्पा, ठुमरी, विलंबित ख्याल, द्रुत ख्याल आदि विविध प्रकार के रागों का दर्शन उनके इस साहित्य में होता है। अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष उन्होंने इस कार्य में खपा दिए और उससे जो कुछ निर्माण हुआ वह अपने आप में आश्चर्यकारक है। जिस अनुपात में उन्होंने लेखन किया है, उसी अनुपात में उसे उपयोग में लानेवाले व्यक्ति वर्षों तक उससे नई दृष्टि प्राप्त करते रहेंगे। पंडित जी के षष्ठिपूर्ति समारोह के समय उनकी ग्रंथसंपदा को देखकर एक पत्रकार ने कहा कि इन्होंने तो अपने गुरु विष्णु दिगंबर पलुसकर को पीछे छोड़ दिया है। पंडित जी के ग्रंथों में राग और बंदिशों को देखकर जो बात ध्यान में आती है वह यह है कि इन ग्रंथों में उन्होंने गुरुपरंपरा से प्राप्त सारी उपलब्धियों को तो समाहित किया ही है साथ ही उनमें वह भी सब कुछ है जो गुरुपरंपरा में नहीं था; किंतु समय की मांग के अनुसार नये तौर पर जोड़ दिया था और इस प्रकार उन्होंने अपने गुरु से आगे एक कदम बढ़ा कर दिखाया इसमें संदेह नहीं है। इस संबंध में उनकी एक स्पष्ट विचारधारा थी। यह विचारधारा बड़ी उद्बोधक है। उन्होंने कहा, है—

"मेरे गुरु की लेखन-संपदा और मेरे लेखन-कार्य के मूलस्रोत पर ध्यान दें तो मैं इसका इतना ही अर्थ समझता हूं कि इस कार्य से मैं कदाचित् उनका शिष्य कहलाने योग्य हुआ हूं। इसलिए मेरे और मेरे गुरु के कार्य की तुलना करने की आवश्यकता ही नहीं है। देखिए, उन्होंने नोटेशन तैयार करने का महत्त्वपूर्ण काम शुरू किया। इस कार्य में मैंने और उनके कुछ अन्य शिष्यों ने प्रारंभ से ही कार्य किया। इसलिए नोटेशन कैसे तैयार करना चाहिए, इसकी उपयोगिता क्या है और संगीत-शिक्षण-पद्धति में इसका कितना महत्त्व है ये सारी बातें हमारी समझ में आईं। उस समय संगीत-शिक्षा के लिए 'राग प्रवेश' जैसी पुस्तकों की नितांत आवश्यकता थी। इसलिए उस समय उन्होंने 'बाल प्रकाश' और 'राग प्रकाश', भाग १ से १८ जैसी पुस्तकें लिखीं। आगे चलकर उन्होंने टप्पा, ठुमरी, कर्नाटक संगीत आदि संगीत के विविध पहलुओं को स्पर्श करनेवाली छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं जिनसे तत्कालीन आवश्यकता की थोड़ी बहुत पूर्ति हुई।

"गुरुवर्य के दुःखद देहावसान के बाद जब मैं संगीत की दुनिया में विचरण करने

रागों के यथार्थ दर्शन होते थे। वैसे विद्यालय में फीस कम ही थी। लेकिन यदि कोई छात्र वह फीस भी नहीं दे पाता तो उसे विद्यालय से निकाला नहीं जाता था। कमजोर आर्थिक दशावाले छात्रों को बिना शुल्क के ही सिखाने का नियम बना लिया था।

बाहर की दुनिया में पंडितजी संगीत विद्यालय के प्राचार्य एवं अध्यापक के रूप में या गुरुजी के रूप में प्रसिद्ध नहीं थे और नहीं उन्हें इस रूप में धन की प्राप्ति होती थी। वे महफिलों में एक श्रेष्ठ संगीतकार के रूप ख्याति और धन अर्जित करते थे। किसी को तंग करके पैसा वसूल करना उनकी आदत नहीं थी। फिर भी उन्हें इतना धन, वैभव, मानसम्मान और यश प्राप्त हुआ जितना बहुत ही कम गायकों को मिलता है। वे जहां भी जाते सभी जगह उनका रोब जमा रहता। उत्तर भारत में उनका अत्यन्त मान-सम्मान था। जब वे अपने पूरे जोर पर थे तब पच्चीस-तीस वर्ष उनके बिना किसी भी महफिल का आयोजन नहीं होता था। उन्हें निरंतर निमंत्रण पर निमंत्रण आते रहते थे। आकाशवाणी, अखिल भारतीय कार्यक्रम, दूरदर्शन, संगीत परिषदें, संगीत-नाटक अकादमी की फेलोशिप, अनेक समितियों में सलाहकार के रूप में सदस्यत्व, गांव-गांव में अनेक कार्यक्रम –इस प्रकार उनके पास कार्यक्रमों की व्यस्तता बनी रहती थी। वे हमेशा रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में या वातानुकूलित डिब्बे में अथवा विमान से ही यात्रा करते थे। गायकों को उन्होंने उच्च श्रेणी की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान कराई थी। इस प्रकार के साधनों के उपभोग में उन्हें कोई संकोच कभी नहीं हुआ। वे उदार स्वभाव के किंतु अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। लेकिन साथ ही संगीत प्रचारक की भूमिका में वे अपने सामाजिक उच्च स्थान या महान् संगीतकार की हैसियत को भूल जाते थे। बड़े-बड़े शहरों में महफिलों के लिए वे जब पहुंचते थे तब कोई उनके पास नोटेशन जानने के लिए आता, कोई राग समझ लेने के लिए, कोई अपने विद्यालयों-महाविद्यालयों में व्याख्यान का निमंत्रण देने की इच्छा लेकर। तब पंडित जी अत्यंत सहजता के साथ उसे स्वीकार करते और ऐसे लोगों की अभिलाषा पूर्ति हेतु समय निकाल ही लेते। वे आलसी नहीं थे किंतु अधिक यात्राएं करने के कारण थकावट तो आती ही थी। फिर भी वे किसी लेने से 'नहीं' नहीं कहते थे। संगीत के प्रचार के लिए जी तोड़कर काम करनेवाले सीधे-सरल कार्यकर्ता बिरले ही होते हैं।

कई बार ऐसा लगता है कि पंडित जी के कंधे पर संस्था का बोझा न रहता तो अच्छा होता। लेकिन उनके दृढ़ निश्चयी स्वभाव, आह्वानों को स्वीकारने की प्रवृत्ति और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता के कारण अनेक गुणी विद्यार्थियों की व्यक्तिगत प्रगति तो हुई ही–सामूहिक प्रगति भी कुछ कम नहीं हुई। एक सच्चे कार्यकर्ता को इसी तरह का यश मिलना चाहिए। उन्होंने एक श्रेष्ठ शिक्षाविद् की

लगा तो मुझे बड़ी तीव्रता से यह लगने लगा कि गुरुजी के लेखन-कार्य को विकसित करने की और उसे बहुत ही आगे ले जाने की परम आवश्यकता है। गुरुजी ने मुझे जो दृष्टि प्रदान की है और तुलनात्मक अध्ययन करने की जो आदत लगाई है उसका मुझे बहुत बड़ा लाभ हुआ। इसी आधार पर मैंने उनका लेखन कार्य आगे बढ़ाया। नए युग के अनुसार नवीन रागों के वर्णन, आलाप, तान, बंदिशें और उनके नोटेशन आदि का कार्य तो मैंने किया ही, लेकिन गुरुपरंपरा से प्राप्त ग्वालियर घराने की चीजों में मुझे जो श्रेष्ठता दिखाई दी, उन्हें सदैव लोगों के समक्ष रखने के लिए मैंने ग्रंथ लिखे और उन्हें प्रकाशित किया। ये चीजें 'राग विज्ञान' भाग १ से ५ में समाहित हैं। इनका लेखन करते समय मैंने यह ध्यान रखा है कि एक जैसे लगनेवाले राग किस प्रकार एक दूसरे से अलग-अलग हैं और इन्हें समझाते समय जो कठिनाइयां मुझे उठानी पड़ी हैं वे आगे की पीढ़ी को न उठानी पड़ें। इसके बाद मैंने उन रागों का लेखन किया है जो मुझे गुरुपरंपरा से प्राप्त नहीं हुए हैं। आज षष्ठिपूर्ति समारोह के निमित्त मैंने उन्हें 'राग विज्ञान', भाग छठा के रूप में प्रकाशित कर जनता-जनार्दन को समर्पित कर दिया है। इस लेखन कार्य की प्रेरणा, क्षमता और विचार करने की शक्ति तथा आज के समयानुसार नवीन रागों के निर्माण करने की दृष्टि मैंने अपने गुरुजी से ही प्राप्त की है। यह सब कुछ गुरुजी का ही कार्य है ऐसा मान कर मैं यथाशक्ति इसमें लगा हुआ हूं। और मैं इतना ही मानता हूं कि आज मैं उनका शिष्य कहलाने योग्य हुआ हूं।"

पंडित जी के उपर्युक्त विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इस मुलाकात के बाद उन्होंने 'रागविज्ञान', भाग ७ लिख कर अपने लेखनकार्य को शिखर पर पहुंचाया। संगीत-जगत् के अंतर्गत पंडित विनायकराव जी एक आदर्श कार्यकर्ता प्रचारक-प्रसारक के रूप में विख्यात हुए। उन्हें विभिन्न घरानों में से जो कुछ भी अच्छा लगा उसे सुनकर-लिखकर और अपेक्षित रूप से अपना बनाकर प्रकाशित करने का बहुमूल्य कार्य उन्होंने किया। खुद को खपा देने की समर्पण वृत्ति आज शायद ही दिखाई देती है। उनके वे राग जो 'रागविज्ञान' भाग १ से ७ में सम्मिलित नहीं हो सके और वे राग जिन्हें मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं वे सभी तैयार हैं। उनकी बंदिशें, रूप, आलाप, तानें, स्वरलेखन (नोटेशन) सभी कुछ तैयार हैं। इन सभी रागों को प्रकाशित कर मैं जनता-जनार्दन के सामने प्रस्तुत करते हुए गुरुजी के कार्य को आगे बढ़ाने का समाधान चाहता हूं। पंडित जी ऐसा चाहते भी थे। इस बात के पीछे भी यही सूत्र कार्य कर रहा है कि जिस तरह गायकी कालसापेक्ष होती है उसी तरह राग भी कालसापेक्ष होते हैं। काल और परिवेश को ध्यान में रखकर यदि प्रयत्न किया जाए तो वे राग नये रूपों में ढाले जा सकते हैं। इन नए रूपों का निर्णय प्रयत्नकर्ता की

उस इच्छा पर निर्भर होगा जो उसके प्रशिक्षण-काल के परिवेश से उत्पन्न हुई है। वर्षोंतक पंडित जी के साथ-साथ रहने से राग स्वरूपों के प्रति देखनेके जो संस्कार मेरे ऊपर हुए हैं और जो स्वर-दृष्टि प्राप्त हुई है, उसके आधार पर उनके द्वारा छोड़ दिए गए रागों को लिख कर पूरा करना मेरा कर्तव्य था। वह मैंने पूरा किया है। यह उन्हींके द्वारा प्रदत्त प्रेरणा और दृष्टि का परिणाम है।

पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर और पं. विनायकराव जी को मैं परमात्मा नहीं मानता हूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनके कर्तृत्व का अवमूल्यन कर रहा हूं। वर्तमान काल में अनेक व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर भी इतना कार्य नहीं कर सकते, जितना पं. विष्णु दिगंबर जी अथवा पं. विनायकराव जी ने अकेले अपनी हिम्मत पर अथक परिश्रम के द्वारा संपन्न कर दिखाया है। उनका कार्य व्यक्तिगत रूप में उनके लिए, संगीत विषय के लिए और भारतीय संस्कृति के लिए भूषणास्पद है इस में कोई संदेह नहीं है। उन्हें मैं एक व्यक्ति नहीं समझता हूं बल्कि वे एक निरंतर प्रकाशमान ज्योतिस्तंभ हैं। मुझे इस बात का बुरा लगता है कि मैं पं. विष्णु दिगंबर जी के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सका। संगीत-क्षेत्र के इतने महान् व्यक्ति के दर्शन न होना मेरे लिए दुर्भाग्य की बात है। लेकिन पंडित जी के कार्य का मूल्यांकन करते समय उनके व्यक्तित्व में मुझे जब पं. विष्णु दिगंबर जी के दर्शन होते हैं तब एक सुखद अनुभव होता है। अपने गुरु की धरोहर का विकास करने और पं. विनायकराव जी जैसे शिष्य तैयार करने में उनके ‘ गुरु-पद ’ की महान् भूमिका के दर्शन होते हैं।

पं. विष्णु दिगंबर जी जब स्वर्गस्थ हो गए तब उनको एक मात्र पुत्र पं. डी. व्ही. पलुसकर ऊर्फ बापूराव ही पंडित जी के श्रद्धा स्थान थे।(पं. पलुसकर जी की अनेक संतानें पहले देवलोक जा चुकी थीं। बापूराव जब दस वर्ष के ही रहे होंगे और कुछ दिन पूर्व ही उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ था। तभी उनके ऊपर से पं. पलुसकर जी का साया उठ गया था) पं. विनायकराव जी ने प्रारंभ से ही अपने गुरुपुत्र श्री बापूराव की एक सुंदर प्रतिमा निर्माण की। उन्होंने नौ वर्षों तक निरंतर उनसे मेहनत करवा कर उन्हें इतना तैयार कर दिया कि आगे चलकर बापूराव भारतविख्यात हो गए। पंडित जी ने बापूराव को जो शिक्षण दिया वह मानो उनके शैक्षणिक कार्य का कलश था। (बापूराव का प्रशिक्षण और ‘राग विज्ञान’ भाग १ से ७ तक लेखन एवं प्रकाशन अपने आप में इतना बड़ा कार्य है जिससे पंडित जी का नाम भारतीय संगीत के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जा सकता है।) पं. विनायकबुवा ने भारत भर में इतनी महफिलों में विजय प्राप्त की, इतने स्वर्णपदक प्राप्त किए और परदेशों में अनेक महफिलों में असंख्य श्रोताओं के दिल जीत लिए कि उन सभी का उल्लेख करना अत्यंत कठिन है (१९५४ की रूस यात्रा के दौरान वे इतने प्रबल वेग और लय से गाते

थे, मानो गले में कोई यंत्र लगा रखा हो।) सन १९३२ से लेकर १९६२ तक के कालखंड में पंडित जी ने महफिलों के लिए इतना प्रवास किया कि उसे अंकित करने के लिए भारत का मानचित्र भी कम रह जायगा। वे एक जोरदार गायक, आदर्श गुरु, कठोर प्रशासक, लगनशील प्रचारक और संगीत के प्रति संपूर्ण जीवन समर्पित करनेवाले एक महान् ऋषि थे। तत्कालीन प्रसारण-मंत्री डॉ. केसकर जब पूना आए थे तब वे विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय देखने भी आये थे। आज वह महाविद्यालय एक आलीशान हाऊसिंग सोसाइटी के नीचे की मंजिल में चलता है। उस समय वह एक पुरानी इमारत में था। डॉ. केसकर ने पंडित जी का गायन सुनकर, उनकी शिक्षण-पद्धति का अवलोकन कर और प्रशिक्षित छात्रों की तैयारी देखकर कहा, "वाह पंडित जी! आप पेड़ के नीचे बैठ जायेंगे तो भी लोग आपसे संगीत-विद्या सीखने आयेंगे और हिमालय में चले गए तो आपकी जोरदार आवाज तथा तराने और तानों का चमत्कार सुनने के लिए वहां पहुंच जाएंगे।" सारांश यह है कि पं. विनायकबुवा एक उत्तुंग व्यक्तित्ववाले कलाकार थे। वे संगीत संसार के महान् पुरुष थे—संगीत-सूर्य थे। उस सूर्य का तेज उष्णता और चमक सभी कुछ प्रखर था। ऐसे महान पुरुषों का अवतरण समाज के लिए भाग्य की बात है।

स्व. पंडित विनायकराव पटवर्धन : एक महान् संगीत-प्रचारक

श्री म. रा. गंधे

जब मैं यह विचार करता हूं कि स्व. पं. विनायकराव पटवर्धन एक महान् गायक थे या शिक्षक, अथवा वे एक महान् ग्रंथकार थे या वक्ता, तब मुझे लगता है कि उनके व्यक्तित्व में इन सभी गुणों का एक उच्चस्तरीय समन्वय होते हुए भी पंडित जी एक महान् संगीत-प्रचारक थे। उक्त सभी क्षेत्रों में कार्य करते समय वे इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि उनका कोई भी कार्य संगीत-प्रचार के लिए हानिकारक सिद्ध न हो।

पंडित जी अपने जीवन के तीस-चालीस वर्षों तक संगीत के क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर अत्यंत लोकप्रिय कलाकार रहे। भारतभर में और भारत से बाहर भी उनकी उपस्थिति के बिना संगीत की कोई भी महफिल, कार्यक्रम और कॉन्फ्रेंस नहीं हो सकती थी। वे कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार संगीत कार्यक्रमों में भाग लिया करते थे। इन सभी प्रकार के कार्यक्रमों में उनका 'संगीत-प्रचारक' जागरूक दिखाई देता था। अपनी गायन-कला का प्रदर्शन करते समय पंडित जी एक कुशल संगीत-शिक्षक की तरह अपने राग से संबंधित हर पहलू की बारीकियों को स्पष्ट करते चलते थे और इसी प्रकार वे अपनी गायनकला का प्रदर्शन करते समय आवश्यकतानुसार उसका व्याख्यान भी किया करते थे।

संगीत-प्रचार को पं. विनायकराव जी ने कभी पैसे कमाने का साधन नहीं बनाया। पुणे का गांधर्व महाविद्यालय उनके समय में एक अखिल भारतीय संस्था थी। भारतभर से संगीत साधनेच्छु विद्यार्थी वहां संगीत-विद्या की साधना के लिये आते थे। यह संस्था उस समय राष्ट्रीय एकात्मकता का ही एक प्रतीक थी। किंतु पंडित जी ने इसे

कभी भी अपनी उपजीविका का साधन नहीं बनाया; अपितु एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में वे भारतभर के कार्यक्रमों में अपनी कला के प्रदर्शन से जो कुछ धन अर्जित करते थे उसका अधिकांश भाग इस महाविद्यालय की व्यवस्था में खर्च कर दिया करते थे।

पंडित विनायकराव जी एक लोकप्रिय नाट्य अभिनेता के रूप में भी प्रसिद्ध थे। गंधर्व नाटक कंपनी में कार्य करते समय उन्हें पर्याप्त यश प्राप्त हुआ था। उस समय नाट्य संगीत के रूप में जो 'सुगम संगीत' प्रस्तुत किया जाता था, उसमें अन्य गायक कलाकार जाने या अनजाने रागों का मिश्रण किया करते थे। इस राग-मिश्रण को लोग प्रतिभा की झलक के रूप में सराहा करते थे। उस समय के विख्यात गायक अभिनेता मास्टर दीनानाथ के मिश्र स्वरों के रागों के रिकार्ड आज भी सुने जा सकते हैं। किंतु पंडित विनायकराव जी को इस प्रकार की लोकप्रियता आकर्षित नहीं कर सकी। क्योंकि एक संगीत-प्रचारक के रूप में वे रागों की विशुद्धता को बनाए रखना अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। नाटक में काम करते समय उनका संगीत-शिक्षक पूर्ण रूप से जागृत था–उसी काल-खंड में उन्होंने जनार्दन मराठे तथा रामचंद्र घाग जैसे संगीत-कारों को तैयार भी किया था।

अपार कीर्ति और पर्याप्त धन प्राप्त करने के बावजूद भी पं. विनायकराव जी ने संगीत-शिक्षक के रूप में कभी भी आलस्य एवं निरुत्साह नहीं दिखाया। अपने जीवन के अंतिम क्षण तक वे अविराम रूप से संगीत शिक्षा देते रहे। दूर-दूर के संगीत कार्यक्रमों से लौटने पर थकान मिटाने हेतु विश्राम के समय उन्हें यदि यह ज्ञात हो जाय कि कोई छात्र रियाज करते समय कुछ गलती कर रहा है, तो वे तुरंत उठ बैठते और किसी भी स्तर के विद्यार्थी को (विशारद, अलंकार या प्रवीण की परीक्षा के छात्र को) बड़े मनोयोग के साथ समझाने लगते थे।

पंडित जी अपने शिष्यों के प्रति पुत्रवत् प्रेम किया करते थे। उनके मन में यह दृढ़ धारणा थी कि उनके ये शिष्य ही भविष्य के संगीत प्रचारक होंगे। वे अपने शिष्यों की व्यक्तिगत समस्याओं का निराकरण करने में कोई कसर उठा नहीं रखते थे–जहां आवश्यक था वहां वे आर्थिक मदद भी करते और हमेशा अपने शिष्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने की ओर ध्यान रखते थे। वे विशेष ध्यानपूर्वक अपने शिष्यों को यह बताया करते थे कि संगीतकार के लिए स्वावलंबन, स्वच्छता, वेशभूषा, वक्तृत्वकला तथा कार्यक्रमों के नियोजन का कितना बड़ा महत्त्व है।

संगीत-शिक्षा के प्रचार-प्रसार में ग्रंथ-लेखन के महत्त्व को पंडित जी ने बखूबी समझ लिया था। अतः संगीत के विशुद्ध प्रचार के लिए ही उन्होंने ग्रंथ-लेखन किया और संगीत-शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाने का महत् कार्य किया। संगीत-शिक्षा में

गुरु मुख-वाणी ' का अपरिहार्य महत्त्व होते हुए भी–संगीत की शुद्धता को और भी व्यापक तथा शाश्वत बनाने में लिखित कार्य के सहयोग को अस्वीकार्य नहीं किया जा सकता; इसे पंडित जी भली भांति भांप गए थे।

पंडित विनायकराव जी की औपचारिक शिक्षा-दीक्षा अत्यंत कम थी। किंतु अपने अध्यवसाय और बहुश्रुतता के कारण वे अपने विषय के उत्तम ज्ञाता थे। संगीत-प्रचारक के क्षेत्र में उन्होंने लेखनकार्य की तरह वक्तृत्व-कला के महत्त्व को भी पहचाना था। वे हिंदी-मराठी भाषा में उत्कृष्ट व्याख्यान दिया करते थे। पूना की ' वसंत व्याख्यान माला ' जैसे अनेक आयोजनों में उन्होंने अपनी वक्तृत्व-कला के आधार पर लोगों को संगीत की ओर आकृष्ट किया था। इतना ही नहीं, वे अपने शिष्यों को अनिवार्य रूप से वक्तृत्व-कला में निपुणता प्राप्त करने की प्रेरणा दीया करते थे। वे यह मानते थे कि शैक्षणिक स्तर पर (एकैडमिक रूप में) यदि संगीत को प्रतिष्ठा प्राप्त करानी है तो संगीतकार और संगीत-शिक्षक को एक तो सुशिक्षित होना चाहिए और दूसरे उसे उत्कृष्ट वक्ता भी होना चाहिए।

किसी भी क्षेत्र में सुधारकों के दो प्रकार हुआ करते हैं–एक सिर्फ विचार करनेवाले और दूसरे प्रत्यक्ष रूप से कार्य करनेवाले। पंडित विनायकराव जी संगीत के क्षेत्र में विचारक की अपेक्षा एक उत्कृष्ट कार्यकर्ता थे। समाज में किसी भी कार्य की प्रतिष्ठा उसके कर्ता के आचरण और चरित्र से भले-बुरे रूप में प्रभावित अवश्य होती है— इसे पंडित जी खूब अच्छी तरह जानते थे। यही कारण है कि संगीत के क्षेत्र में उनका व्यक्तिगत आचरण और चरित्र एक आदर्श था। अनेक प्रचार के प्रलोभनों और विचलनों की पूर्ण संभावना होते हुए भी विनायकराव जी का जीवन और चरित्र दूध का धुला हुआ जैसा था। उनके निर्मल तथा उज्ज्वल चरित्र और आचरण ने संगीत-शिक्षा को एक अपूर्व गति प्रदान की है। संगीत-प्रचारक के रूप में उनके समक्ष पंडित विष्णु दिगंबर तथा अपने आश्रयदाता श्रीमंत बालासाहब पटवर्धन (मिरजकर) का पवित्र आचरण सदैव एक आदर्श के रूप में बना हुआ था। संगीत प्रसार-प्रचार के समक्ष पंडित विनायकराव जी भगवान के दर्शनों को भी महत्त्व नहीं देते थे इस प्रकार के विचार उन्होंने अपने गुरु मिरजकर जी को लिखे गए एक पत्र में व्यक्त किए हैं।

वर्तमान काल में तो संगीत-कला का बड़ा सम्मान है। ५०–६० वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज संगीत के क्षेत्र में उच्चतम शिक्षाप्राप्त व्यक्ति कलाकार और रसिक श्रोता के रूप में सैकड़ों नहीं हजारों की संख्या में प्राप्त होते हैं। आज संगीतकारों को ' पद्मश्री एवं पद्मभूषण ' जैसी उपाधियों का मान-सम्मान प्राप्त होता है। देशविदेशों में भारतीय संगीत के प्रपूर्व अनुराग उत्पन्न हुआ है। फलस्वरूप संगीतकारों को धन भी पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है किंतु पिछली शताब्दी में संगीत की यह स्थिति नहीं

थी। कहना चाहिए कि विगत शताब्दी की अपेक्षा आज संगीत के विकास के लिए अनुकूलताएं प्राप्त हैं। इसमें पंडित विष्णु दिगंबर जी के प्रयास जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतना ही महत्त्वपूर्ण पंडित विनायकराव जी का सुनियोजित योगदान भी है। जब आधुनिक संगीत का इतिहास लिखा जाएगा तब पंडित जी के नाम का उल्लेख एक महान् संगीत प्रचारक के रूप में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा।

निम्नलिखित शब्दों में पंडित जी के कार्यों का उल्लेख करते हुए मैं उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजली प्रस्तुत करता हूं—

नमन करूं मैं सद्‌गुरु चरणा।
जाको नाम विनायक पावना।
जनम लिया संगीतोद्धरणा॥ धृ॥
कलाकार गुनि विद्यादाता।
ग्रंथकार वक्ता अभिनेता।
मूर्तिमंत संगीत देवता।
सकल जगत संगीत-प्रसरणा॥ १॥

एक अतुलनीय संगीत शिक्षक

डॉ. मो. वि. भाटवडेकर

पं. विनायकराव पटवर्धन के जीवन के अनेक पहलू हैं। संगीत के क्षेत्र में किया हुआ उनका वैविध्यपूर्ण कार्य अत्यंत मूल्यवान है। वे एक उत्तम कोटि के गायक थे। विद्यादान करना उनका जन्मजात गुण था और इसीलिए उन्हें एक विख्यात संगीत-शिक्षक के रूप में जाना जाता था। जब वे गंधर्व नाटक मंडली में थे तब और उस कंपनी से अलग होने के बाद भी उन्होंने रंगमंच पर अनेक भूमिकाएं प्रस्तुत की थीं और एक संगीत-अभिनेता के रूप में भी उन्होंने नाम कमाया था। इस प्रकार संगीत शिक्षक, प्रचारक, लेखक, वक्ता, संघटनकर्ता आदि के रूप में पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं के दर्शन होते हैं।

उक्त सभी क्षेत्रों में पंडित जी ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की। प्रत्येक क्षेत्र में उनका कार्य उल्लेखनीय था और उसकी पर्याप्त सराहना हुई भी। शाकुंतल नाटक के सभी अंक अच्छे माने जाते हैं, किंतु उनमें भी चौथे अंक को सर्व श्रेष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार पंडित जी के हर क्षेत्र के कार्य उत्तम प्रकार के हैं। लेकिन यदि कोई यह प्रश्न करे कि पंडित जी के सांगीतिक कार्यों में सर्व श्रेष्ठ कार्य कौन सा है? तो इसका एक ही निर्विवाद उत्तर है–'समर्पित विद्यादान।' और संगीत शिक्षा के क्षेत्र में किए हुए उनके कार्यों का निरंतर विचार किया जाए तो उसके उल्लेख में 'अतुलनीय' विशेषण ही लगाना पड़ेगा।

इ. सन् १९३२ में पं. विनायकराव पटवर्धन के गुरु पं. विष्णु दिगंबर की मृत्यु हुई। उन्होंने पं. विष्णु दिगंबर को यह वचन दिया था कि नाटक कंपनी की नौकरी छोड़कर संगीत शिक्षा और प्रसार का कार्य ही करूंगा। इस प्रकार १९३२ में उन्होंने संगीत-शिक्षा का व्रत लिया और सन् १९७५ तक अर्थात् लगभग ४३ वर्ष तक उन्होंने संगीत-विद्यादान का कार्य किया। इससे पूर्व भी, गंधर्व नाटक कंपनी की

नौकरी में जाने से पहले बंबई एवं नागपुर के गांधर्व महाविद्यालयों में उन्होंने संगीत-शिक्षक का कार्य किया ही था। इस तरह उन्होंने लगभग पचास वर्षों तक संगीत-शिक्षक के रूप में कार्य किया।

विद्यादान की इस दीर्घावधि में पंडित जी ने अपने दृष्टिपथ में अनेक प्रकार के उद्देश्य संकल्पित किए थे। "जे जे आपणासी ठावे। ते ते दुसऱ्यासी सांगावे। शहाणे करूनी सोडावे। सकळ जन।" (जो कुछ विद्या हम जानते हैं उससे दूसरों को भी अवगत कराना चाहिए। सभी लोगों को ज्ञानवान बनाना चाहिए।) इस उद्देश्य से वे कभी भी विचलित नहीं हुए, चाहे कैसा ही संकट आया हो और चाहे कितना ही बड़ा लालच उत्पन्न हुआ हो।

संगीत के ट्यूशन करते हुए अथवा संगीत की क्लासें चलाकर आज अनेक संगीत-शिक्षक अपनी घर-गृहस्थी चलाते हुए नजर आते हैं। इसमें कुछ बुरी बात नहीं है। पंडित जी ने प्रारंभ में विद्यालय ही चलाया था। लेकिन इसके साथ ही वे उन विद्यार्थियों को विशेष तालीम भी देते थे, जो संगीत में कुछ विशेष प्रतिभा और रुचि रखते थे। इस संबंध में वे इस बात का बिलकुल विचार नहीं करते थे कि कौन छात्र फीस देता है और कौन नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि अपने विद्यालय में प्रवेश देते समय उन्होंने विद्यार्थी की आर्थिक क्षमता को बिल्कुल ध्यान में नहीं रखा था।

प्रस्तुत ग्रंथ में पंडित जी के संबंध में अनेक संस्मरण अत्र-तत्र बिखरे हैं ही। उनके शिष्यों ने जो संस्मरण लिख भेजे हैं, उनमें एक लक्षणीय बात यह मिलती है कि कोई होनहार विद्यार्थी मिल जाए तो पंडित जी उसकी हर प्रकार से मदद करते थे। उसके रहने-खाने से लेकर कपड़े तक सब सुविधाओं का ध्यान रखते थे। इसी प्रकार विद्यार्थीदशा के बाद भी उनका मार्गदर्शन इन विद्यार्थियों को किस तरह मिलता था, इसका भी बयान इन संस्मरणों में मिलता है।

विद्या-प्रसार के लिए स्वार्थत्याग

आज की व्यापारिक वृत्ति वाली सांगीतिक दुनिया में ये घटनाएं चमत्कारिक कहानियों जैसी लगती हैं। लेकिन उनके बिना पंडित जी की संगीतविषयक भूमिका को नहीं समझा जा सकता। क्योंकि उपर्युक्त घटनाएं तो सिक्के का एक ही पहलू हैं, दूसरा पहलू तो और अधिक गहरा है।

पचास-पचपन वर्ष पहले संगीत सीखने में रुचि रखनेवाले विद्यार्थी कितने होते थे —अत्यल्प। उस समय की सस्ताई को ध्यान में रख कर ही पंडित जी ने उचित मात्रा में ही फीस रखी थी। इसके बावजूद यदि विद्यार्थी वह फीस दे सकता है तो दे अन्यथा

निःशुल्क ही शिक्षण दिया जाता था। उनका उद्देश्य था कि शुल्क के अभाव में किसी को संगीत-शिक्षा से वंचित नहीं किया जायगा। लेकिन इस आदर्श के कारण दुहरी परेशानी पैदा होती थी।

शिक्षक के रूप में जो वेतन मिलता था उसमें उनकी घर-गृहस्थी का खर्चा चलाना ही कठिन था। उलटा घर के खर्चे में विद्यालय के खर्चे का भार भी जुड़ता जाता था। विद्यालय के खर्चे का कोई अंत नहीं था। जगह, टेबल-कुर्सी, दरियां, बिजली, पानी आदि की व्यवस्था, साफ-सफाई की व्यवस्था, फिर तानपूरे, सितार, हारमोनियम आदि विभिन्न प्रकार के वाद्य-यंत्र और इन सभी का रखरखाव तथा मरम्मत का खर्चे, शिक्षकों की एवं कार्यालयीन कर्मचारियों के वेतन का खर्चे। इसकी सारी व्यवस्था भी तो पंडित जी को ही करनी थी। इस प्रकार प्रारंभिक अवस्था में उनके ऊपर घर-गृहस्थी और विद्यालय के खर्चे का दोहरा भार था। एक तरफ पंडित जी इस खर्चे की व्यवस्था करते थे और वह भी बिना किसीसे अनुदान लिए ही और दूसरी ओर वे संगीत-शिक्षक के अपने उत्तरदायित्व का भी नियमित निर्वाह करते थे। इस विकट परिस्थिति में उन्होंने जिस कुशलता का प्रदर्शन किया वह आदर्श ही कही जायगी।

जब उन्होंने विद्यालय प्रारंभ किया था तब शुरू-शुरू में पंडित जी सिर्फ पच्चीस रुपए माहवार वेतन के रूप में लिया करते थे। लेकिन उसमें घर-गृहस्थी चलाना भी मुश्किल था। विद्यालय के लिए वाद्य-यंत्र तथा कुछ अन्य सामान खरीदने की अति आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में एक सिनेमा कंपनी ने पंडित जी को नायक की भूमिका का कार्य करने के लिए निमंत्रित किया। पैसों की आवश्यकता थी इसलिए उन्होंने इस निमंत्रण को स्वीकार तो किया किंतु यह शर्त जोड़ दी कि, 'मैं सिर्फ शनिवार-रविवार सप्ताह में दो दिन ही बंबई आकर काम कर सकूंगा। अन्य दिनों में मैं अपने विद्यालय में शिक्षक का कार्य करता हूं। इस कार्य को मैं एक दिन भी नहीं छोड़ सकता।' सिनेमा कंपनी ने उनकी शर्त स्वीकार कर ली। इस प्रकार उन्होंने अपने विद्यादान के कार्य में बाधा नहीं आने दी और तत्कालीन आर्थिक स्थिति से उबरने का मार्ग भी निकाल लिया।

आगे चलकर विद्यालय का कार्य तो अच्छी तरह चलने लगा अर्थात् विद्यार्थी पर्याप्त मात्रा में आने लगे। लेकिन आर्थिक दृष्टि से विद्यालय पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सका, वह पंडित जी को आर्थिक संपन्नता नहीं दे सका। इसके लिए उन्हें परिश्रम से प्राप्त गान-विद्या का ही सहारा लेना पड़ा।

उस कालखंड में पं. विनायकराव उत्तम श्रेणी के गायक थे। विद्यादान करने साथ के ही उन्होंने विद्यार्जन करने का कार्य भी अखंड रूप से बनाए रखा था।

इसलिए भारत भर में पंडित जी को एक 'विद्वान् गायक' के रूप में सम्मान प्राप्त हुआ था। अखिल भारतीय स्तर की अनेक संगीत-परिषदों में उन्हें सम्मान के साथ आमंत्रित किया जाता था। इसके साथ ही स्वतंत्र रूप से आयोजित संगीत महफ़िलों में भी उन्हें उसी सम्मान के साथ निरंतर बुलाया जाता था। यही कार्य उनके लिये धनार्जन का प्रमुख स्रोत था।

प्रायः चढ़ती के कालखंड में कोई भी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इस मोह में फंस सकता है कि वह अधिकाधिक निमंत्रण प्राप्त करने की खटपट में लग जाए और यह प्रयास करे कि किस प्रकार उसका नाम निरंतर रूप से चमकता रहे। यदि वह ऐसे मोहजाल में एक बार उलझ गया तो फिर निश्चय ही शिक्षा प्रदान करने के कार्य की उपेक्षा ही होगी। अनेक नामी-गरामी गायकों के शिष्यों के मुंह से यह बात सुनी जाती है कि गुरुजी निरंतर गाने की महफ़िलों के दौरे पर रहते हैं अतः शिक्षा का कार्य व्यवस्थित नहीं हो पाता है। लेकिन पंडित जी के बारे में इस प्रकार की कोई शिकायत नहीं सुनी गई। इतना ही नहीं बल्कि उनके अनेक शिष्यों ने यह बताया कि पंडित जी १५ दिन से अधिक के दौरे पर कभी नहीं जाते थे। जाने से पूर्व दो राग सिखाते थे और उनकी तैयारी करने के लिए आदेश दे जाते थे। साथ ही एकाध राग तैयार करने के लिए भी कह जाते थे। यह सारा प्रामाणिक कार्य वे सहज ही संपादित करते होंगे क्यों कि वे जन्मजात शिक्षक थे—विद्यादान करने की प्रवृत्ति उन्हें सहज ही प्राप्त थी। उन्हें बहुविध कार्यकुशलता प्राप्त थी। उन्हें निरंतर विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में कार्य करने के अवसर प्राप्त हुआ करते थे। लेकिन वे उन्हीं कार्यों में हाथ डालते थे, जिनके कारण संगीत विद्यादान में बाधा न पड़े। इस संबंध में उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया।

विद्यार्थी वर्ग

पैसे के लालच की चिंता न करते हुए, अखंड रूप से विद्यार्थियों को संगीत विद्या दान करने का व्रत पंडित जी ने धारण कर लिया था। उसका परिणाम यह है कि आज जितनी मात्रा में उनका शिष्य वृंद दिखाई देता है उतनी मात्रा में किसी गायक का नहीं है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती। सैंकड़ों की संख्या में उनके ऐसे प्रमुख शिष्य हैं जो काफी प्रसिद्ध हैं। इस ग्रंथ के निमित्त पंड़ित जी की शिक्षा-पद्धति जानने के हेतु जिन शिष्यों से प्रश्नावली के उत्तर पूछे गए हैं उन्हींकी संख्या सत्तर से अधिक है। इनमें से अनेकों ने गायन को अपना प्रमुख व्यवसाय ही माना है – अनेक तो संगीत-शिक्षक के रूप में कार्यरत हैं। इसके साथ ही बहुत बड़ी संख्या में उनके ऐसे शिष्य भी हैं जिन्होंने पंड़ित जी से संगीत-विद्या को

समझने की शिक्षा ग्रहण की है और जो आज एक प्रबुद्ध-गुण-ग्राहक श्रोता केरूमेंप उपस्थित होते हैं।

'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोपि च' की कहावत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैकड़ों की संख्या में फालतू शिष्य का निर्माण करने से क्या लाभ? इसकी अपेक्षा एकाध प्रतिभावान कलाकार निर्माण किया होता तो अधिक अच्छा था। लेकिन हमें यह बात नहीं भूल जानी चाहिए कि प्रतिभावान श्रेष्ठ गुणी व्यक्ति का निर्माण होने की प्रक्रिया एक तरफा नहीं होती। प्रतिभावान तथा परिश्रमी गुरु के साथ उसी तरह का प्रतिभावान एवं कठोर परिश्रमी शिष्य प्राप्त होता है तब कहीं प्रतिभा अपना प्रकाश फैलाती है। इस प्रसार का सुयोग किसी भी क्षेत्र में सहज तो है ही नहीं अपितु अत्यंत दुर्लभ है। परंतु पंडित जी को वह सुयोग भी प्राप्त हुआ था—पंड़ित द. वि. पलुसकर जैसा श्रेष्ठ संगीतकार इसी सुयोग का परिणाम था। अत्यंत अल्पकाल में ही बापूराव पलुस्कर का नाम सर्वमान्य गायक के रूप में चमकने लगा था। यह संगीत-जगत् का दुर्भाग्य है कि पं. बापूराव पलुसकर अल्पायु में ही संसार को छोड़ गए। लेकिन असाधारण शिष्य मिल जाए तो उसे भी उसको क्षमता के अनुरूप विकसित करने और उसे अद्वितीय गायक बना देने की सामर्थ्य पं. विनायकराव जी के व्यक्तित्व में थी—पं. बापूराव पलुसकर इसके प्रमाण थे।

शिक्षापद्धति

विद्यार्थियों को अधिकाधिक विद्यादान करने के लिए निरंतर परिश्रम करने वाले इस गुणवान श्रेष्ठ संगीत शिक्षक की शिक्षा-पद्धति किस प्रकार की होगी यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का सविस्तार, साधार और अनुसंधानपूर्वक उत्तर खोजने के लिए, एक प्रदीर्घ प्रश्नावली तैयार कर पंडित जी के शिष्यों के पास भेजी गई थी।* लगभग बीस शिष्यों ने इस प्रश्नावली के उत्तर लिख भेजे हैं। इसके अतिरिक्त कार्यकारिणी समिति ने पं. नारायणराव पटवर्धन से तीन-चार घंटोंतक की तीन दीर्घ मुलाकातें इस विषय पर ली हैं। इस सारी सामग्री के आधार पर पंडित जी की शिक्षा-पद्धति के संबंध में जो जानकारी प्राप्त हुई उसका आकलन निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है—

सर्व प्रथम एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि एकाध को अपवाद के रूप में छोड़ दिया जाए तो, प्रायः सभी उत्तरदाता वे व्यक्ति हैं जिन्होंने पंडित जी से कम से कम पांच-सात वर्ष तक संगीत-शिक्षा ग्रहण की है। इसका अर्थ यह है कि पर्याप्त लंबी अवधि तक इन्होंने पंडित जी से शिष्यत्व लाभ प्राप्त किया था। उनकी

* ग्रंथ का परिशिष्ट देखें

शिक्षा-पद्धति का यथेष्ट अनुभव इन्हें हुआ है। इसलिए उनके द्वारा प्रदत्त जानकारी उस प्रभाव (impression)से अछूती नहीं कही जा सकती जो, पंडित जी ने उनके मन-मस्तिष्कपर छोड़ दिया था। पंडित जी की शिक्षा-पद्धति के संबंध में इनके विचार या अभिमत उनके पर्याप्त अनुभव और ज्ञान के आधार पर मानने चाहिए। विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी के उत्तरों में आश्चर्यकारक समानता दिखाई देती है।

प्रश्नावली के उत्तरों का अवलोकन करने पर एक बात तुरंत ध्यान में आती है कि इतने दीर्घ काल के बाद भी, सभी शिष्यों के मन में, पंडित जी के प्रति आदर-युक्त प्रेम बड़ी प्रखरता के साथ पनपा हुआ है। साथ ही यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि इन सभी शिष्यगणों के हृदय पर पंडित् जी की धाक जमी हुई है और उस धाक का एक प्रकार का आतंक आज भी इनके मनों में बैठा हुआ है।

इस बात का उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि पंडित जी के शिष्यों ने इस प्रकार की स्तुति नहीं की है। क्योंकि बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाए तो पंडित जी की आत्मा को यह पसंद नहीं आएगा, ऐसी धारणा शिष्यों में रही है। इसका प्रतिफल यह हुआ है कि प्रश्नों के उत्तर तथ्यपरक ही दिए गए हैं। इसलिए हम इन सभी संस्मरणों पर विश्वास रखकर अपने अनुमान भलीभांति निकाल सकते हैं।

शिक्षाविषयक भूमिका

उक्त प्रश्नावली की प्रतिक्रिया से पंडित जी की शिक्षाविषयक भूमिका के संबंध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। शिक्षा पद्धति का विवेचन करते समय तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—(१) प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा प्रदान करते समय जिस पद्धति या तंत्र का उपयोग किया जाता है वह तांत्रिकता (२) दूसरी बात यह है कि ज्ञान की कितनी मात्रा कितनी कालावधि में पूरी की जाए और (३) तीसरी बात है विद्यार्थी–शिक्षक के संबंधविषयक शिक्षक की भूमिका। इन तीनों बातों में यह तीसरी बात अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के आधार पहली दो बातों के संबंध में सुसंगत निर्णय लिए जा सकते हैं। इसलिए यहां पंडित जी की 'छात्र-शिक्षक संबंध' विषयक धारणा का विवेचन करना अभिप्रेत है।

इस संबंध में यह स्पष्ट बताया जा सकता है कि पंडित जी इतना सीमित विचार कभी नहीं रखते थे कि विद्यार्थी को सिर्फ सारेगम सिखा दिया जाए या पांच-पंद्रह रागों से परिचित करा दिया जाए। उनकी यह भी धारणा कभी नहीं थी अधिक से अधिक विद्यार्थी सिर्फ इतना जान ले कि वह किसी समारोह में एकाध गाना प्रस्तुत

कर सके या आकाशवाणी पर पाँच-दस मिनिट गा सके। दस-बीस आदमियों में छात्र की प्रशंसा भी हो जाए वे यहाँ तक हो शिक्षा देने का इरादा कभी नहीं रखते थे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि पंडित जी सभी छात्रों को एक-सी शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में थे। प्रश्नावली के उत्तरों से यह पता चलता है कि वे छात्रों के दो वर्ग बनाते थे। पहला वर्ग उन छात्रों का था जो संगीत को अपने जीवन का व्यवसाय बनाने के इरादे से सीखना चाहते थे और दूसरे वर्ग में वे छात्र थे जो शौकिया तौर पर संगीत की शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे।

गुरु-शिष्य संबंध और शिक्षा-पद्धति

जो विद्यार्थी संगीत को अपने जीवन का व्यवसाय बनाना चाहते थे उनके संबंध में पंडित जी की यह धारणा थी कि हम इन शिष्यों के शिक्षक ही नहीं बल्कि अभिभावक अथवा पालक हैं। अभिभावक का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने पाल्य या पोष्य बालक के खान-पान, रहन-सहन और सुस्वास्थ्य की देख-रेख करे। पंडित जी अपने इस कर्तव्य का पालन बड़ी कुशलता के साथ किया करते थे। इस ग्रंथ के 'संस्मरण' विभाग में इस तथ्य के प्रमाण अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। विद्यार्थी ने अपना नियमित पाठ ठीक प्रकार से याद किया है, रियाज करने में अच्छी प्रगति की है तो उसे उचित शाबाशी दी जाती थी। किंतु यदि कोई छात्र परिश्रम करने से जी चुराता है, दिए हुए पाठों को हृदयंगम करने से कतराता है तो उसे वाक्ताड़न करने (फटकारने) में पंडित जी आगा-पीछा बिल्कुल नहीं देखते थे।

इस उत्तरदायित्व को स्वीकारने के कारण फिर प्रत्यक्ष शिक्षा प्रदान करने में कितना समय लगाना चाहिए इस पर कोई बंधन नहीं था। प्रति दिन कम से कम एक घंटा तो पढ़ाया ही जाता था; किंतु प्रसंगानुसार दिन में दो बार और प्रत्येक बैठक तीन-चार घंटे से भी अधिक की भी हो जाती थी। प्रारंभिक वर्षों में अधिकांशतः गुरुकुल-पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। अलग-अलग कमरों में २–४ छात्र बैठ कर रियाज करते थे। बीच बीच में पंडित जी चक्कर लगा कर रियाज पर ध्यान दिया करते थे और प्रसंगानुसार बीच-बीच में रोक कर बताया करते थे, समझाया करते थे। इस संदर्भ में उनके शिष्य श्री स. भ. देशपांडे उस समय का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "गुरु विनायकराव अपनी सुविधानुसार कभी सुबह तो कभी रात को स्वयं सिखाया करते थे। इस कक्षा में साधारणतः ४–५ विद्यार्थी हुआ करते थे। यह कक्षा कभी कभी तीन तीन चार-चार घंटे तक चलती रहती थी और प्रसंगानुसार अनेक बातों की चर्चा की जाती थी।..."

"जब विद्यार्थी सवेरे के रियाज (प्रैक्टिकल) के लिए बैठते थे तब पंडित जी के

एक सच्चे संगीत-शिक्षक के स्वरूप के दर्शन होते थे। अपनी पूजा-अर्चा से निवृत्त होकर वे प्रसन्न वदन एक-एक कमरे में आते थे और रियाज पर बैठे हुए एक-एक समूह (ग्रूप) को कोई बंदिश कोई राग, तानों के प्रकार, आलाप आदि समझाया करते थे। उनका उस समय का समझाना कभी तो खड़े-खड़े होता था और कभी-कभी घूम-घूम कर। इस प्रकार वे एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते थे और हरेक समूह को वे इसी पद्धति से समझाया–सिखाया करते थे।"

शौकिया रूप से संगीत सीखने के लिए आनेवाले छात्रों के प्रति पंडित जी की अलग धारणा थी। वे इन्हें संगीत में अभिरुचि निर्माण करना, ३०–४० प्रचलित रागों से परिचित कराना, संगीत सुनने और उसका अच्छी तरह रस-ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न करना आदि बातें बताया करते थे। गुणग्राहक श्रोता वर्ग तैयार करना भी पंडित जी के कार्यों का एक उद्देश्य था। इसलिए पंडित जी इन शौकिया छात्रों को पढ़ाने-समझाने में बड़ी रुचि रखते थे। इन छात्रों को प्रायः वे विद्यार्थी पढ़ाया करते थे जो पहले से ही तैयार हो चुके हैं। लेकिन उनकी शिक्षा ठीक प्रकार चल रही है या नहीं इसपर पंडित जी पैनी नजर रखा करते थे और अवसर मिलने पर स्वयं भी सिखाया करते थे।

शिक्षा की कक्षाएं

विद्यार्थी को संगीत का कितना ज्ञान होना चाहिए और उसे कितने वर्ष शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, इस संबंध में उन शिष्यों की व्यक्तिगत परिस्थिति ही दिशा-निर्देश करती मालूम होती है। पंडित जी के पास जो छात्र आते थे वे ४ से ७–८ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करते थे। उन्हें गांधर्व महाविद्यालय मंडल की परीक्षाओं में सम्मिलित कराया जाता था। 'विशारद' तक पढ़ने वालों को ३०–४० रागों की जानकारी होती थी। 'संगीत अलंकार' की परीक्षा में बैठने वालों को ५०–६० रागों का ज्ञान प्राप्त होता था और 'संगीत प्रवीण' करने वालों को ८०–९० रागों की जानकारी करा दी जाती थी। प्रत्येक राग में कम से कम दो अथवा अधिकतर ४–५ बंदिशें ही बताई जाती थीं। परंतु इस छात्र-वर्ग में से कोई नामवाला गवैया तैयार करने का ध्येय दिखाई नहीं देता है।

इस संदर्भ में दो बातों का उल्लेख करना समीचीन होगा। ग्वालियर घराने के रागों की परंपरा प्रचलित रागों के साथ अधिक संबंधित थी और ऐसा प्रतीत होता है कि पं. विष्णु दिगंबर ने इसी परंपरा का पालन किया था। अतः यह दिखाई देता है कि पं. विनायकराव जी को ४०–५० रागों से अधिक की तालीम प्राप्त नहीं हुई होगी। प्रारंभिक काल में पंडित जी इन्हीं रागों को सिखाने में अधिक ध्यान देते थे। लेकिन

आगे चलकर उन्होंने, अनेक अप्रचलित रागों का भी ज्ञान प्राप्त किया विशेषतः अन्य कवियों की कविताओं और भजनों को विभिन्न रागों के ढांचे में ढ़ालकर अपने ज्ञान की सीमा का विस्तार किया। उनमें से कुछ का समावेश पाठ्यक्रम के अंतर्गत कर दिया गया। उनके उत्तरकालीन छात्रों को इन रागों का भी प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक ओर पंडित जी ने परंपरा को बनाए रखने पर ध्यान दिया तो दूसरी ओर उन्होंने परंपरा की कक्षा का विस्तार करने का भी यथेष्ट परिश्रम किया।

शिक्षा-तंत्र

सुर और लय ये दो गायनविद्या के मुख्य घटक हैं। इनमें भी सुरीली आवाज श्रोताओं पर अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए संगीत, विशेषतः शास्त्रीय संगीत सिखाते समय आवाज तैयार करा लेने पर अधिक बल दिया जाता है। इस शिक्षा को 'स्वर-साधना' कहते हैं। इसके महत्त्व के कारण ही प्रश्नावली में जानबूझकर कुछ प्रश्नों का समावेश किया गया था। प्रायः सभी ने इनके उत्तर दिए हैं। इनके आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान में आती हैं जिनका उल्लेख करना यहां आवश्यक है।

स्वयं पंडित जी की आवाज खड़ी-चौड़ी और ऊंची थी। प्रायः वे काली दो के अंतर्गत गाया करते थे। परंतु समयानुसार काली तीन अथवा सफेद चार पट्टी में भी थोड़े समय तक बिना प्रयास गाया करते थे। कक्षा में पढ़ाते समय पंडित जी साधारणतः काली एक अथवा सफेद दो पट्टी में सिखाया करते थे परंतु जिन छात्रों की आवाज मूलतः ऊंची थी उन्हें पट्टी बदलने की सलाह पंडितजी ने नहीं दी थी, ऐसा लगता है। इसके कारण ही उन्हें विद्यार्थियों के स्वर में स्वर मिलाकर सिखाने में सहजता होती थी।

आजकल 'ध्वनि-परिष्कार' (Voice Culture) एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित हो गया है और वह महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पंडित जी के समय में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं माना जाता था। लेकिन भारतीय परंपरा के अनुसार आवाज तैयार करने की जो पद्धति थी उसमें 'मंद्र' साधना को बहुत महत्त्व दिया जाता था। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा लगता कि पंडित जी 'मंद्र साधना' के प्रति हठाग्रही नहीं थे। स्वच्छ-स्पष्ट और बुलंद आवाज के सौंदर्य पर उनका विशेष ध्यान था। उनका कहना था कि सामान्यतः मंद्र पंचम से लेकर तार पंचम तक आवाज सहज रूप में पहुंचनी चाहिए। लेकिन इसके लिए 'मंद्र साधना' पर उनका पूरा विश्वास था, ऐसा दिखाई नहीं देता है। वे अपने शिष्यों को 'मंद्र साधना' करने का निर्देश देते थे। वैसा परिश्रम करवा भी लेते थे। किंतु नीचे उतरते समय

' मंद्र-षड्ज ' लगाना ही चाहिए ऐसा उनका आग्रह नहीं था। उनकी यह धारणा थी कि स्वाभाविक आवाज में जितने मंद्र स्वर लगाए जा सकते हों उतने ही पर्याप्त हैं। दो शिष्यों ने यह स्पष्टतः लिखा है कि पंडितजी का विचार था कि आधे घंटे तक ही खर्ज साधना करनी चाहिए। इससे अधिक करने पर आवाज भारी हो जाती है।

स्पष्ट और दानेदार तान तथा मींड-युक्त आलापी के लिए उपयुक्त आवाज तैयार करा लेने पर पंडित जी खूब ध्यान देते थे। इसके लिए वे पर्याप्त परिश्रम कराते थे। उनकी मान्यता थी कि विद्यार्थी स्वर का सच्चा और ताल का पक्का होना चाहिए। बेसुरे और बेताले छात्र उन्हें फूटी आंख भी नहीं सुहाते थे। लय के विभिन्न वजन समझाने के लिए चौताल, धमार से लेकर दादरा, केहरवा तक १०–१२ ताल वे सिखाया करते थे। वे यह आवश्यक मानते थे कि प्रत्येक विद्यार्थी को हाथ से ताल देना और कामचलाऊ ही क्यों न हो ठेका बजाना भी आना चाहिए तथा इतना वे हर छात्र को बताते भी थे। वे लय के दुगुने, तिगुने और डेढ़ गुने प्रकारों को भी सिखाया करते थे। महज तालों की कसरत उन्हें स्वीकार नहीं थी। वे इस बात पर अधिक ध्यान देते थे कि लय के विभिन्न प्रकारों का प्रयोग बोल-तानों में किस तरह करना चाहिए। लगभग सभी विद्यार्थियों ने अपने उत्तरों में इस बात का उल्लेख किया है।

संगीत-शिक्षा के अंतर्गत इस बात का बड़ा महत्त्व है कि राग किस क्रम से सिखाए जाएं। एक क्रम यह है कि प्रारंभ में सीधे-सरल राग बताए जाएं, बाद में क्रम-क्रम से कठिन रागों की ओर बढ़ा जाए। पुराने जमाने में सवेरे भैरवी और संध्या समय कल्याण राग से तालीम का प्रारंभ किया जाता था। कुछ संगीत-शिक्षकों का यह अनुभव है कि परस्पर नजदीक के स्वर छात्रों के गले से सहज ही निकलते हैं, उनमें से कुछ स्वर वर्जित हो सकते हैं। लेकिन एक दूसरे से दूर के स्वर निकालने में विद्यार्थियों को कठिनाई होती है। इसलिए पहले संपूर्ण, फिर षाडव, फिर षाडव संपूर्ण, इसके बाद ओडव राग तथा अंत में वक्र राग बताए जाने का यह दूसरा क्रम हुआ। तीसरे क्रम में राग-स्वरूप को प्रमुख मानकर प्रथम मित्र राग बताए जाते हैं फिर नजदीक-नजदीक के सम प्राकृतिक राग सिखाए जाते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के क्रमों में या पद्धतियों में यह नहीं कहा जा सकता कि पहली श्रेष्ठ है और दूसरी कनिष्ठ। बिल्कुल प्रगल्भावस्था पर पहुंचे हुए विद्यार्थी की धारणा-क्षमता और उसके गले के गुण धर्म के आधार पर राग सिखाने का क्रम निश्चित किया जाता है। प्रश्नमाला के उत्तरों को देखते हुए यह बताया जा सकता है कि विद्यार्थी को देख कर ही पंडित जी यह निश्चित करते थे कि इसे कौन से क्रम से राग सिखाए जायें। अनेक विद्यार्थियों ने इस संबंध में यह उत्तर लिखा है कि कोई

खास क्रम नहीं था। परंतु कुछ विद्यार्थियों ने, विशेषतः प्रारंभकाल के विद्यार्थियों ने, लिखा है कि 'पुस्तकें तैयार होने तक क्रम नाम की बात नहीं थी। लेकिन 'राग विज्ञान' की पुस्तकें प्रकाशित हो जानेपर उनमें दिए हुए क्रम से ही बताया करते थे। इनमें एक उत्तर बिल्कुल भिन्न है। श्री स. भ. देशपांडे लिखते हैं, 'वैसे किसी प्रकार का कोई क्रम नहीं था। उस कालखंड में 'राग विज्ञान' मालिका की पुस्तकें छापेखाने में भेजी जा रही थीं। जो राग छापने के लिए भेजा जाता था वही वे हमें सिखाते थे और हमें सिखाते हुए यदि उन्हें कोई संशोधन (सुधार) सूझता तो छपते-छपते उसे सुधारते थे।' इस उत्तर से पंडित जी की प्रयोगशीलता के दर्शन होते हैं।

इसके विपरीत एक ने लिखा है कि पंडित जी एक समय में सम प्रकृति रागों को समझाया करते थे तो एक दूसरे छात्र ने लिखा है कि साधारणतः पास के राग को छोड़कर अगला राग ही सिखाया जाता था। इस प्रकार के विविध उत्तरों को ध्यान में रखकर दो निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह स्पष्ट होता है कि दीर्घकाल तक पंडित जी यह निश्चय नहीं कर पाए थे कि किस क्रम से राग सिखाने चाहिए। अधिकांशतः वे प्रयोगशील थे। दूसरी बात यह है कि शिष्यों की क्षमता का परीक्षण कर के ही वे रागानुक्रम निश्चित करते थे। इन बातों से यह ज्ञात होता है कि अध्यापन में रागानुक्रम के विषय में पंडित जी पूर्वनिश्चित क्रम के आग्रही नहीं थे। संभवतः संगीत-शिक्षा में वे ऐसे किसी क्रम का अवलंब करने की अपेक्षा तात्कालिक आवश्यकता को अधिक महत्त्व देते थे।

किसी विद्यार्थी को शास्त्रीय संगीत में निपुण बनाना हो तो उसे राग-विज्ञान की भरपूर जानकारी देनी चाहिए, यह एक शिक्षक का प्रथम कर्तव्य है। राग-विज्ञान के अंतर्गत राग-नियमों का यथायोग्य ज्ञान, रागों की बढ़त, रागों की पद्धति, रागों में सौंदर्य-स्थल और रस आदि का समावेश होता है। क्या पंडित जी इन सभी बातों को छात्रों तक पहुंचाते थे? और यदि पहुंचाते थे तो उनकी इस संबंध में क्या रीति या पद्धति थी? इन बातों की जानकारी के लिए प्रश्नमालिका में अनेक प्रश्नों का समावेश किया गया था। और विद्यार्थियों ने भी इसके बारे में पर्याप्त जानकारी प्रस्तुत की है जिसके आधार पर स्पष्ट रूप में बताया जा सकता है कि पंडित जी अपने छात्रों को किस प्रसार और कितना राग-विज्ञान प्रदान करते थे।

पंडित जी का यह स्पष्ट मत था कि राग-नियम, राग-समय आदि का पालन ठीक ठीक करना चाहिए। यह उनका विशेष आग्रह था। वैसे इसमें अनपेक्षित कुछ भी नहीं था। विशेष बात यह कि राग नियमों के संबंध में मतभिन्नता हो सकती है इसका पंडित जी को ज्ञान था और वे यह जानते थे कि वह मतभिन्नता क्या-क्या है। इस

बात को वे अपने छात्रों को बताया करते थे। साथ ही यह बताया करते थे कि उन्हें इनमें से कौन-सा मत और क्यों मान्य है। यह सब बताने के बाद वे समझाते–पढ़ाते थे। वे अपने छात्रों को आंख मूंद कर रटने की रीति न सिखा कर उन्हें एक जिज्ञासु और ज्ञानी संगीतकार बनाना चाहते थे।

बंदिश सीख लेने पर उसके गायन में जरा भी शिथिलता नहीं आनी चाहिए इस पर पंडितजी का ध्यान था। बंदिश में जरा-सा भी परिवर्तन उन्हें पसंद नहीं था। इसके लिए वे बंदिशों का बार-बार घोंटा लगवाया करते थे। प्रश्नमालिका की उत्तर-पुस्तिकाओं में इस प्रकार के या इस आशय के अनेक उत्तर काफ़ी मात्रा में दिखाई देते हैं। इससे एक विशेष अर्थबोध प्राप्त होता है, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

राग की बढ़त करने के लिए दो प्रमुख पद्धतियां हैं – एक बंदिश के आधार पर और दूसरी राग के आधार पर। पहली पद्धति में बंदिश का असाधारण महत्त्व है। इसमें बंदिशें सिर्फ कंठस्थ होनेसे काम नहीं चलता–उन बंदिशों की सरगम भी गायक को कंठस्थ होनी चाहिए। बंदिशों की 'सरगम' कंठस्थ हुए बिना, यह ध्यान में ही नहीं आएगा कि बंदिश में विशेष रागवाचक स्वरावली कौन-सी है और सौंदर्य-वाचक स्थल कौन-से हैं। फलतः उन स्थलों को केंद्रस्थान मान कर बढ़त करना संभव नहीं होगा। यही कारण था कि पंडित जी का यह हठाग्रह था कि बंदिश और उसकी सरगम कंठस्थ कर लिए जाएं। इसका अर्थ यह है कि बंदिशों के अंगों से बढ़त करना पंडित जी को मान्य था और वे उसी प्रकार की शिक्षा भी दिया करते थे

वैसे, राग-अंगों से बढ़त करने में बंदिशों को इतना महत्त्व देने का कोई कारण नहीं है। एक बार बंदिश नामक बात को छोड़ दिया कि जैसी चाहो वैसी राग की बढ़त की जा सकती है। क्योंकि इसमें हर बार बंदिश को ज्यों का त्यों दुहराना चाहिए ऐसा कोई बंधन नहीं रहता। लेकिन यहां इन दोनों शैलियों की तुलना करने क स्थान नहीं है। यहां सिर्फ इतना ही स्पष्ट करना है कि पंडितजी को पहली शैली ही स्वीकार थी और वे उसीके अनुसार रागों की बढ़त सिखाया करते थे।

बंदिश के अंगों से बढ़त करने में बंदिश और बढ़त दोनों ही मिलकर एकजीव हो जाते हैं। ' पहले बीज, फिर अंकुर, पौध, फिर इस धरती का विस्तार ' इस शैली की यहां अपेक्षा है। किंतु इसके कारण इस पद्धति से राग विस्तार में सीमाएं आती हैं। एक राग का अर्थ सिर्फ एक ही रस या सिर्फ एक ही भाव जैसा नियम नहीं बनाया जा सकता। मालकौंस जैसे रागों के अंतर्गत शांत अथवा वीर रस तथा भक्ति या क्रोध जैसे भाव व्यक्त किए जा सकते हैं। लेकिन ये सभी भाव एक ही बंदिश में व्यक्त करना कठिन है। इसलिए एक बंदिश में एक रस या भाव जैसा नियम माना

जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बंदिश के अंगों से बढ़त करने में राग के सिर्फ एक ही अंग के दर्शन हो सकते हैं। अतः इस शैली में रसाभिव्यक्ति और सौंदर्य-दर्शन सीमित हो जाता है।

पंडित जी के विद्यार्थी-गणों से इस संबंध में जो प्रश्न पूछे गए थे; उनके उत्तरों के आधार पर ही उक्त विचार व्यक्त किए गए हैं। उत्तरों में यह तो खूब बताया गया है कि 'राग स्वरूप' की चर्चा खूब होती थी। लेकिन रस और सौंदर्य की कितनी चर्चा होती थी?–इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर अनेक विद्यार्थियों ने नहीं दिए हैं। सिर्फ तीन लोगों ने लिखा है कि रस एवं सौंदर्य की खूब चर्चा होती थी और सात-आठ लोगों ने लिखा है कि यह चर्चा बिल्कुल साधारण या अल्प मात्रा में ही होती थी। इसलिए इन उत्तरों से इस बात का कोई स्पष्ट बोध नहीं हो पाता है कि रस तथा सौंदर्य जैसी बातों के लिए पंडित जी की शिक्षा-पद्धति में कितना महत्त्व था।

गायन-व्यवसाय का मार्गदर्शन

पं. विनायकराव जी उन शिक्षकों में से नहीं थे जो यह मानते हैं कि विद्यार्थी को गायन-विद्या सिखा दी और बस अपना कर्तव्य पूरा हो गया। पंडित जी तो यह अपेक्षा रखते थे कि विद्यार्थी को अपने गायन में तल्लीनता आनी चाहिए, उसे स्वतंत्र बुद्धि-पूर्वक गाना आना चाहिए, अपने गाने का यथेष्ट प्रभाव उत्पन्न करना आना चाहिए और साथ ही संगीत-विद्या के गौरव एवं अपने मान-सम्मान की रक्षा करना आना चाहिए।

गाने में समाधि लगाने या तल्लीनता उत्पन्न करने के लिए वे प्रत्येक शनिवार को विद्यार्थियों की 'गायन-सभा' का आयोजन किया करते थे। प्रत्येक विद्यार्थी से गाने के लिए कहा जाता था। पंडित जी ध्यान लगा कर सभी को सुनते थे और स्पष्ट शब्दों में अपना समीक्षात्मक मत व्यक्त करते हुए प्रत्येक का मार्गदर्शन किया करते थे एवं गलतियों को सुधरवाया करते थे।

जब कभी पंडित जी बाहर दौरे पर जाया करते तब कुछ चुने हुए विद्यार्थियों को अपने साथ ले जाया करते और यह व्यवस्था किया करते कि उन्हें महफिल-संयोजकों की ओर से योग्य सम्मान प्राप्त हो। आज की अपेक्षा उस काल-खंड में संगीत-स्पर्धाएं बहुत कम हुआ करती थीं। किंतु जो कुछ भी स्पर्धाएं हुआ करती थीं उनमें भाग लेने के लिए पंडित जी अपने छात्रों को उत्साहित किया करते थे।

गाने में रंग जमना चाहिए और ऊब पैदा नहीं होनी चाहिए, इसके लिए पंडित जी हमेशा छात्रों को सावधान किया करते थे तथा उपयुक्त हिदायतें दिया करते थे। इस

संबंध में उनके शिष्यों के शब्दों में ही सुनें। श्री प्रभाकर गोखले लिखते हैं "सभागृह में श्रोताओं, विशेषतः समझदार श्रोताओं की कितनी उपस्थिति है यह देखकर पंडित जी गाने के लिए रागों और चीजों को छांटने के लिए कहते थे। गाने में ऊब पैदा न हो इसका ध्यान रखने के लिए निर्देश दिया करते थे। यदि तबलिया आक्रमक पद्धति से बजा रहा हो तो गायक को भी उसी आक्रमकता के साथ गाना चाहिए। कभी एकाध राग प्रयास करने पर भी जम नहीं पा रहा हो तो उसे जल्दी से समेट कर, 'हुकुमी एक्के' की तरह कारगर होने वाले किसी दूसरे राग को उठाना चाहिए–ऐसा आदेश दिया करते थे।"

श्री मुकुंद उपासनी लिखते हैं—"यदि पहलेवाले कलाकार ने श्रोताओं पर अपना खूब रंग जमा दिया हो तो उसके ऊपर अपना रंग चढ़ाने के लिए (१) यदि संभव हो तो अपना स्वर थोड़ा चढ़ा रखना चाहिए (२) पहला राग श्रोताओं के कानों से जल्दी निकल जाए ऐसे राग को चुनना चाहिए (३) पहला कलाकार धीमी गति से गाया हो तो अपनी गति थोडी तीव्र होनी चाहिए। इसके बाद में तराना गाया जाए इस तरह की हिदायतें पंडित जी दिया करते थे।"

श्री गोस्वामी ने बताया है "महफिल में दरबारी कानड़ा गाया जाने के बाद काफी जैसे हलके राग फिर छोटा ख्याल और उसके बाद हलके राग का संयोजन करने के लिए पंडित जी कहा करते थे।" अन्य शिष्यों ने भी न्यूनाधिक अंतर से इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि महफिल में गाते समय सामने बैठे हुए श्रोतागणों को ध्यान में रखकर ऐसे रागों का चयन करना चाहिए कि गायन रंगतदार हो और प्रभाव जमा सके। पंडित जी इस प्रकार के विचार रखते थे और इसके लिए वे अपने छात्रों को योग्य निर्देश दिया करते थे।

संगीत को व्यवसाय के रूप में स्वीकार करनेवालों को पंडित जी इतनी अच्छी हिदायतें दिया करते थे कि जीवनभर उनके उपयोग में आ सकें। उत्तरपुस्तिकाओं में से दो संक्षिप्त किंतु, प्रातिनिधिक उत्तर नीचे जा रहे हैं, जिनसे पाठकों को पंडित जी के उन विचारों का एक अच्छा अनुमान मिल सकेगा, जिन्हें वे अपने संगीत-व्यवसायी शिष्यों को मार्गदर्शन के लिए बताया करते थे। श्री कोकजे ने अत्यंत थोड़े किंतु जोरदार शब्दों में लिखा है–"समय के अनुशासन का पालन होना चाहिए; अपने व्यवसाय के प्रति प्रामाणिक रहना चाहिए, सच्चरित्रता का आचरण करना चाहिए और गुणग्राहकता एवं लोकसंग्रह का गुण विकसित करना चाहिए तथा स्वयं को जीवन भर विद्यार्थी ही समझना चाहिए। —यह पंडितजी की शिक्षा थी।"

गायन-व्यवसाय की सफलता के लिए क्या पंडित जी ने कुछ व्यावहारिक बातों की

जानकारी दी थी ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री गंधे ने निम्नलिखित उत्तर दिया है—

" पंडितजी बारंबार यह कहते थे कि गवैयों के व्यक्तित्व में समय की पाबंदी, कार्य-व्यवहार में अनुशासन और बहुश्रुतता का गुण होना चाहिए। गवैयों को समाज में सम्मान का स्थान मिलना चाहिए और उसे कुछ मात्रा में वक्तृत्व-कला भी आनी चाहिए ऐसा उनका विचार था। इसके साथ ही अपनी कला में निपुणता हो तो निश्चय ही सफलता बढ़ेगी, ऐसा उनका मत था। "

इस निबंध के प्रारंभ में ही गुरु-शिष्य संबंध के बारे में पंडित जी की भूमिका के संदर्भ में पर्याप्त विचार किया गया है। यहां उस भूमिका के प्रसंग में उपर्युक्त उत्तरों पर ध्यान दिया जाए तो फिर अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं रह जाती।

ऐतिहासिक एवं सामाजिक पहलू

पं. विनायकराव पटवर्धन की संगीत शिक्षाविषयक निष्ठा, गुरु-शिष्य संबंधों के बारे में उनकी भूमिका और प्रत्यक्ष शिक्षापद्धति के संबंध में किया गया विवेचन ऊपर से अवश्य ही व्यक्तिनिष्ठ लग सकता है। लेकिन इन सभी से संबंधित कुछ ऐतिहासिक तथा सामाजिक पहलू भी हैं। इन पहलुओं का विवेचन किए बिना इस लेख का कार्य अधूरा ही रह जायगा।

पश्चिमी देशों में, अठरहवीं शताब्दि के अंतिम चरण और उन्नीसवीं शताब्दि के प्रथम चरण में औद्योगिक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ। इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के अंतर्गत सामंतशाही का अंत हुआ, प्रजातांत्रिक प्रणाली का उदय हुआ और व्यक्तिस्वातंत्र्य जैसी संकल्पनाओं को महत्त्व प्राप्त हुआ। छापेखाने के आविष्कार के कारण लिखने-पढ़ने के महत्त्व का विस्तार हुआ। कुल मिलाकर सामाजिक व्यवहारों को संस्थागत रूप एवं ठेकेदारी का रूप प्राप्त हुआ। इस परिवर्तन का परिणाम शिक्षा-व्यवस्था पर भी अनिवार्यतः होना ही था, क्योंकि शिक्षा समाज का एक अनिवार्य अंग है।

प्राचीन-अर्वाचीन शिक्षा-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था 'गुरुकुल-परंपरा' के नाम से विख्यात है। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि 'गुरुकुल पद्धति' सिर्फ संगीत-क्षेत्र में ही प्रचलित थी। किंतु यह धारणा सही नहीं है। प्राचीन कालीन भारत में ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी गुरुकुल पद्धति से ही विद्यार्जन किया जाता था। गुरुगृह या आश्रम में रह कर ही विद्यार्जन करना प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी।

भारत के समान ही यह पद्धति न्यूनाधिक मात्रा में पाश्चात्य देशों में भी प्रचलित थी किंतु औद्योगिक क्रांति के बाद प्राचीन 'गुरुकुल पद्धति' समाप्त हो गई और नवीन शिक्षा-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद, यहां भी शिक्षा-क्षेत्र में यह परिवर्तन हुआ।

भारतीय गुरुकुल-पद्धति की व्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित थे–

(१) बचपन से ही बालक गुरुगृह में रहकर विद्यार्जन करता था। संपूर्ण विद्यार्थी जीवन में बालक के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व गुरु के कंधों पर होता था। बालवय में से छात्र गुरुगृह में रहकर विद्याध्ययन करता था। शिक्षाकाल एक तप (१२ वर्ष) का रहता था। इस काल में छात्र के संगोपन का भार गुरु पर रहता था।

(२) रहन-सहन अत्यंत सादा एवं सरल था। आश्रम के साथ खेती की जमीन निःशुल्क प्राप्त हो जाती थी। कुछ न कुछ राजाश्रय भी मिल जाता था। आश्रम से लगी जमीन पर कृषि-कार्य और गो-पालन से गुरु-परिवार एवं विद्यार्थियों का जीवन-निर्वाह होता रहता था। इसलिए अनुदान, देनगी, शुल्क आदि की समस्या नहीं थी। विद्या प्राप्त करने के बाद कालांतर में विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा देकर मुक्त हो जाता था और यह गुरु-दक्षिणा उस काल में गुरुजी के लिए एक बड़ा 'बोनस' था।

(३) गुरुजी मौखिक रूप से पढ़ाते थे और विद्यार्थी उसे कंठाग्र किया करते थे। लिखने-पढ़ने का व्यवहार ही नहीं था। सारी विद्या मौखिक रूप से याद होनी चाहिए— इस पद्धति का यही उद्देश्य था। श्याम पट्ट, खड़िया, पुस्तकें, लिखने की कापियां, कलम, दवात, संदर्भ-ग्रंथ आदि साधन-सामग्री संभालने की समस्या नहीं थी।

गुरुकुल पद्धति की शिक्षा व्यवस्था से शिक्षा-प्रक्रिया में कुछ कमियां भी उत्पन्न हुईं। इनमें से कुछ का उल्लेख करना यहां आवश्यक है। इस पद्धति का सर्व प्रमुख दोष तो यह था कि इसमें शिक्षा ग्रहण करने का अवसर बहुत ही कम लोगों को मिलता था। दूसरा दोष भी विचारणीय है। वह यह है कि सारी विद्या मौखिक रूप से रटने के कारण 'ज्ञान-कक्षा' बहुत सीमित रह जाती थी। व्यक्ति की स्मरणशक्ति से परे ज्ञान विस्तार की संभावनाएं ही नहीं रह सकती थीं। जितना स्मरण रह सकता, उतना ही सीखा जाता या सिखाया जाता। रटने पर अधिक जोर देने के कारण बौद्धिक विश्लेषण, स्वाधीनतापूर्वक कार्यकारण भाव की खोज करने या किसी बात पर तर्कयुक्त विचार करने की प्रवृत्ति आदि बातों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था।

इस पुरानी शिक्षा-व्यवस्था को बदल कर नई शिक्षा-व्यवस्था प्रस्थापित करने का कार्य ब्रिटिश सरकार और सरकारी नीति से प्रेरित कुछ समाजसेवी संस्थाओं ने किया।

लेकिन संगीत-शिक्षा के संबंध में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार और सुशिक्षित समाज उदासीन ही था। फिर भी ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों से संगीत-शिक्षा का क्षेत्र अछूता नहीं रह सकेगा, इस बात को समझ कर ही विष्णु दिगंबर ने संगीत-शिक्षा की नवीन पद्धति की नींव डाली। पं. भातखंडे ने संगीत-शिक्षा में मौखिक शिक्षण की पराधीनता को समाप्त किया और लिखित पद्धति का आधार प्रदान किया। लिखित पद्धति का महत्त्व पं. विष्णु दिगंबर ने भी जान लिया था और वे इस संबंध में प्रयत्नशील भी थे। लेकिन यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो व्यक्तिस्वातंत्र्य और प्रजातांत्रिक प्रणाली के भविष्यकालीन महत्त्व को पहचान कर संगीतकार को सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान कराने और सभी के लिए संगीत-विद्या को सुलभ कराने में पं. विष्णु दिगंबर का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

पं. विनायकरावजी का कार्य

पं. विनायकराव जी पटवर्धन ने पं. विष्णु दिगंबर की परंपरा को ही आगे बढ़ाया। लेकिन आवश्यकता के अनुसार उस परंपरा का विकास करने में पंडित जी का प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। पं. विष्णु दिगंबर की तरह ही पंडित जी ने भी प्रारंभ में 'गुरुकुल' पद्धति पर आधारित संगीत-शिक्षा की शुरुआत की थी। किंतु इस पद्धति की सीमाओं को देखकर उन्होंने संगीत विद्यालय की स्थापना के लिए अपने शिष्यों को प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं बल्कि वे यथाशक्ति निरंतर सहायता करते रहे। 'ज्ञान कुछ मुट्ठी भर लोगों की जागीरदारी नहीं है, उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ होना चाहिए'। यह विचार आधुनिक शिक्षा का मूलभूत मंत्र है। इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष मूर्त रूप देने के लिए पंडित जी ने बहुत कष्ट उठाए। आज उनके कार्यों का सुपरिणाम यह है कि गांधर्व महा विद्यालय मंडल से संलग्न महाविद्यालयों की संख्या सैकड़ों में है और आज हजारों की संख्या में संगीत के विद्यार्थी मंडल की परीक्षाओं में सम्मीलित होते हैं। संगीत-क्षेत्र के इस विकास के मूल में पंडित जी का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

संगीत-शिक्षा को लिखने की पद्धति का आधार प्रदान करने में पंडित जी का कार्य अत्यंत मूल्यवान है। 'राग विज्ञान' के सात भाग परंपरागत बंदिशों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि उनमें अनेक बंदिशों एवं रागों का समावेश भी है। उल्लेखनीय यह है कि उनमें उन्होंने विभिन्न मतभिन्नताओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट भी किया है कि लेखक को क्या पसंद है और क्यों? इस प्रकार उन्होंने यह बात बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित की कि संगीत कला भी परिवर्तनशील है और उसकी परंपरागत विशेषताओं को सिर्फ संभालते रहनेकी अपेक्षा यथाकाल उनमें विकास भी करते रहना चाहिए।

लेकिन शैक्षणिक दृष्टि से पंडित जी की मौलिक कार्य पद्धति का स्वरूप बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। शास्त्रीय दृष्टि, विश्लेषणशीलता एवं प्रयोगशीलता आदि बातें नवीन शिक्षण-पद्धति की विशेषताएं हैं और इन सभी कसौटियों पर खरे उतरने वाले विचार को स्वीकार करना इस पद्धति का केन्द्रबिंदु है। इस संबंध में प्राचीन शिक्षा-पद्धति आधुनिक पद्धति के बिल्कुल विपरीत है। पुरानी पद्धति में 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' का सिद्धान्त ही सब कुछ था और प्रस्थापित विषयों के संबंध में संशय उपस्थित करना या प्रश्न उठाना एक महान् पाप था। इसके विपरीत प्रतिष्ठित या प्रस्थापित बातों पर विशेष ध्यान न देकर प्रत्येक विचार तर्कपूर्ण पद्धति से परख-निरख कर, स्वयं को जंचे तो स्वीकारना नवीन शिक्षा-पद्धति का प्राण है। इस दृष्टि से शिक्षक का प्रथम कर्तव्य है कि वह छात्रों के सामने स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करे, उनकी शंकाओं का समाधान करे, उन्हें खुले मन से चर्चाओं में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करे, आ पड़े तो छात्रों का वैचारिक विरोध भी सहन करे और नई-नई बातें किस प्रकार स्वीकृत की जाएं–इसे खुद का उदाहरण दे कर समझाए।

पंडित जी ने यह कार्य बहुत अच्छी तरह से निभाया था। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि सभी विद्यार्थियों ने इसे स्वीकृति दी है कि पंडित जी राग-स्वरूप की खूब चर्चा किया करते थे। इतना ही नहीं बल्कि 'राग-विज्ञान' की पुस्तकें तैयार करते समय, तत्संबंधित कक्षा में हुई चर्चा और प्रात्यक्षिक प्रयोगों का उपयोग किस तरह किया गया, यह श्री स. भ. देशपांडे के हवाले से बताया गया है। यह भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि 'राग-विज्ञान' की पुस्तकों में पंडित जी ने विनयचंद्र जैसे शिष्यों की बंदिशों का भी समावेश किया है और श्री नारायणराव पटवर्धन को उनके अंदर के लेखक को जागृत करने हेतु उक्त पुस्तकों की भूमिका लिखने का आदेश दिया।

पंडित जी किस पद्धति से नए-नए विचारों को स्वीकार करते थे, इस बारे में श्री नारायणराव के बताए दो किस्सों का उल्लेख करना उचित होगा।

श्री नारायणराव गायन सीख रहे थे। यद्यपि उनकी उम्र छोटी नहीं थी किंतु थे तो विद्यार्थी ही। उस काल के रिवाज के अनुसार पिता-पुत्र का वार्तालाप मान-प्रतिष्ठा को संभलते हुए होता था, विशेषतः मातृ-माध्यम से ही हुआ करता था। लेकिन गाना सीखते समय नारायणराव के जीवन में एक ऐसा प्रसंग भी आया कि पंडित जी से सीधे प्रश्न पूछने के अलावा कोई उपाय ही नहीं रहा।

भैरव-बहार राग की तालीम चल रही थी। उसके अंतर्गत 'तान तानन तन तुंद्रे'

तराने को पंडित जी बता रहे थे। उस तराने का प्रारंभ

'ठं ध नी सां नी ध प ग म

˘ ˘ ० ० ० ० –

ता. . . . न. . . – – ता.

इस प्रकार से होता है। किंतु यह नारायणराव के गले नहीं उतर पा रहा था। उनके मन में निरंतर यह शंका उठ रही थी कि यदि यह 'बहार राग' है तो यह 'सांनीधपम' कैसे हो सकता है ? उस समय के अनुशासन के नियमानुसार पाठ ग्रहण करते समय ऐसी शंका उपस्थित करना संभव नहीं था और इस संबंध में सदैव की तरह मां का उपयोग भी नहीं किया जा सकता था। एक दिन पंडित जी छत पर टहल रहे थे। नारायणराव ने इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी शंका उपस्थित कर दी। टहलते–टहलते पंडित जी ने थोड़ी देर विचार किया, फिर रुके और कहने लगे, 'तुझे यदि यह नहीं जंचता है तो फिर तू इसे कैसे गाएगा ?' इस पर नारायणराव ने,

'ध नी सां ध नी प ग म'

˘ ˘ ० ० ० ०

से प्रारंभ कर तान का मुख गाकर बताया। पंडित जी क्षणभर विचार करते रहे। उनके चेहरे पर संतोष का भाव झलक आया। फिर बोले, "ठीक है, तुम इसी तरीके से गाते रहो। लेकिन मैं तो पुरानी पद्धति से ही बताऊंगा।"

इस घटना को हुए बहुत–सा समय बीत चुका था। औपचारिक रूप से नारायणराव की शिक्षा समाप्त हो चुकी थी और वे 'आकाशवाणी' केंद्र पर नियुक्त हो गए थे। जब नारायणराव नागपुर के आकाशवाणी केंद्र पर थे, उन्हीं दिनों पंडित जी किसी कार्य के दौरान नागपुर पहुंचे। स्वाभाविक रूप से वे नारायणराव जी के यहां ही ठहरे। दोपहर का भोजन समाप्त कर पंडित जी एक कमरे में खाटपर लेटे हुए विश्राम कर रहे थे। उसी समय नारायणराव के पास, आकाशवाणी केन्द्र के कुछ कलाकार आए। वे उन्हें लेकर दूसरे कमरे में चले गए। उन कलाकारों को एक नवीन रचना को संगीत में ढालना था। नारायणराव ने उनकी तालीम प्रारंभ कर दी।

वह रचना मूलतः केदार राग के अंतर्गत थी। लेकिन केदार का 'सा म म प धु मु प म' वाला टुकड़ा पूरा हो जाने पर 'सा रे सा' जैसी कड़ी मिलाने के स्थान पर 'ग म ध पु रे सा ग म' जैसा टुकड़ा जोड़ कर नारायणराव ने नवीनता निर्माण की थी। पंडित जी लेटे-लेटेही यह सब सुन रहे थे। तालीम पूरी हो जाने पर कलाकार चले गए। तब पंडितजी ने पूछा, "यह तो कानों को बहुत अच्छा लगता है, यह कौन-सा राग है और इसका स्वरूप क्या है ?"

लगभग ४ बजे होंगे। सायंकालीन गाड़ी से पंडित जी को पुणे के लिए वापस जाना था। सामान बांध-बूंध कर पंडित जी घर से स्टेशन के लिए निकल पड़े। किंतु तांगे में रास्ता भर और स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी की प्रतीक्षा करते समय उन्होंने नारायणराव से इस नए राग से संबंधित अनेक प्रश्न पूछे। गाड़ी में बैठने पर चलते समय उन्होंने नारायणराव से कहा, 'ऐसा कुछ नया करते जाओ तो पत्र लिखकर उसकी सारी सूचना भेजते जाना।' पुणे पहुंचने पर पंडित जी ने उस नए केदार राग को 'राग विज्ञान' के सातवें भाग में 'आनंदी केदार' नाम से समाविष्ट किया।

उपर्युक्त दोनों घटनाओं पर विचार करनेपर यह ध्यान में आता है कि पुरानी बंदिशों के संबंध में पंडित जी परंपरावादी थे। तथापि भैरव-बहार के तराने के अंतर्गत जब नारायणराव ने बंदिश और राग-नियमों की विसंगति का निदर्शन कराया तो पंडित जी ने उन्हें परिवर्तन करने की अनुमति प्रदान की। लेकिन नए रागों को उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया। ऐसा लगता है कि प्रारंभ में पंडित जी परंपरावादी थे, परंतु कालांतर में उनके विचारों में परिवर्तन होता गया। वे कक्षा और कक्षा के बाहर भी मुक्त रूप से चर्चा करने लगे और दूसरों के द्वारा यदि तर्कपूर्ण ढंग से विचार प्रतिपादित किए जाएं तो उन्हें वे स्वीकार करने लगे। आज तो सर्वत्र ही संगीतविषयक चर्चा हो सकती है। प्रयोगशीलता विकसित हो रही है और उसीके द्वारा शास्त्रीय संगीत का विकास निश्चय ही संभव है। इन सारी बातों के बीज पंडित जी द्वारा स्वीकृत शिक्षण-पद्धति के अंतर्गत बोए गए थे।

संगीत-क्षेत्र में पंडित जी के जिन विविध प्रकार के कार्यों का ऊपर वर्णन किया गया है, उसपर एक दृष्टिपात करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

पंडितजी ने लगभग आधी शताब्दी से अधिक संगीत शिक्षा का कार्य किया। सौ तक की संख्या में अधिकतर गवैयों को तैयार किया। इतने अधिक गवैया शिष्य संभवतः किसी गायक ने तैयार नहीं किए होंगे। इनमें से एक शिष्य ने तो अखिल भारतीय स्तर पर अपना नाम रोशन किया। पंडित जी ने अपने छात्रों से पैसा कमाने की अपेक्षा कभी नहीं रखी। अपने गाने के बल पर कमाए गए पैसों में से उन्होंने अनेक छात्रों का खर्च चलाया। वे छात्रों को अपने पाल्य ही समझते थे और उनके भविष्य की चिंता कर उनकी उचित सहायता किया करते थे। उन्होंने ग्रंथ लिख कर संगीत-विद्या को लिखित आधार प्रदान किया। संगीत के विद्यार्थियों को विश्लेषणात्मक एवं परिवर्तनशील दृष्टि के साथ ही यह भी बताया कि वे कितने ही प्रवीण हो जाएं तो भी वे इस विद्या के सामने सदैव एक विद्यार्थी ही बने रहें।

संगीत के क्षेत्र में अनेक महान् शिक्षक हुए हैं और उपर्युक्त गुणों में से एक-एक पर विचार करें तो निश्चय ही पंडित जी की अपेक्षा अनेक व्यक्ति श्रेष्ठ सिद्ध होंगे। लेकिन यदि इन सभी गुणों पर समग्रता के साथ विचार करें तो पंडित जी 'एक अतुलनीय संगीत शिक्षक' के रूप में हमारे सामने प्रस्थापित हो जाते हैं।

लेखक परिचय

पं. वि. रा. आठवले : पं. विनायकराव जी के प्रमुख शिष्यों में से एका पंडित जी के अतिरिक्त आपने मरहूम उस्ताद विलायत खां से भी मार्गदर्शन प्राप्त किया। अहमदाबाद से विज्ञान में स्नातक हो जाने के बाद नौकरियों के मोह में न फंसकर अपना जीवन संगीत के लिए समर्पित कर दिया। आप एक लब्ध प्रतिष्ठ गायक एवं संगीतशास्त्रवेत्ता के रूप में विख्यात हैं। आपने अनेक शिष्यों को तैयार किया है।

डॉ. म. वि. पटवर्धन : पं. विनायकराव जी के कनिष्ठ सुपुत्र। एम्. ए. संगीत प्रवीण (पीएच. डी.) संगीत के अधिकारी विद्वान, विख्यात गुरु और विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्याल के संचालक।

पं. म. रा. गंधे : पं. विनायकराव जी के प्रिय शिष्य। आप संगीतलंकार हैं। पंडित जी ने पुत्रवत् प्रेम देकर इन्हें संगीत-शिक्षा प्रदान की। पंडित जी के कार्य को एक शिष्य एवं सहयोगी संगीत शिक्षक के रूप में आपने निकट से देखा और परखा है।

डॉ. मो. वि. भाटवडेकर : पं. विनयचंद्र मौद्गल्य तथा अन्य गुरुओं से अपने संगीत शिक्षा ग्रहण की। आप अर्थशास्त्र के अधिकारी विद्वान, प्राध्यापक एवं अनुसंधानकर्ता है। अर्थशास्त्र में पीएच. डी. प्राप्त करने के बाद आपने युनेस्को के तत्त्वावधान में विशेष कार्य किया और बाद में बैंगकॉक में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक रहे। आज अवकाशग्रहण के बाद भी अर्थशास्त्र एवं संगीत दोनों से अप का संबंध पूर्ववत बना हुआ है।

चतुर्थ विभाग

विशिष्ट अभिव्यक्तियां

श्रेष्ठ संगीताचार्य 'विनायकबुवा'

पं. भीमसेन जोशी

[पं. भीमसेन जोशी जी के बारे में क्या कहना और क्या बताना ! वर्तमान समय में आप हिंदुस्थानी संगीत के सिरमौर हैं। पं. विनायकराव जी के प्रति आपका कृतज्ञता एवं आदर का भाव प्रस्तुत लेख में निहायत ऋजुता के साथ अभिव्यक्त हुआ है।]

बात ई. स. १९३२ या उसके आसपास की है। उन दिनों जालंधर (पंजाब) में 'हर वल्लभ मेला' के नाम से एक महान संगीतोत्सव संपन्न हुआ करता था। वहां अखिल भारत के बड़े बड़े कलाकार अपनी अपनी कला की प्रस्तुति किया करते थे। उस समय मैं पंजाब में ही था। पं. मंगतराम के पास मैं ध्रुपद की शिक्षा ग्रहण कर रहा था। किशोर वय था। जालंधर के उक्त संगीतोत्सव में मैं भी गायन सुनने के लिए उपस्थित हुआ था। उस समय पंडित विनायकबुवा पटवर्धन जालंधर आये थे। संयोगवश उनसे मेरी मुलाकात हो गयी। उन्होंने अतीव आत्मीयता से मेरी पूछताछ की। मैंने भी अपने बारे में उन्हें बताया। उन्होंने कहा—" अरे बेटा गायन सीखने के लिए तुम्हें यहां आने की क्या जरूरत पड़ी ! तुम तो कर्नाटक में ही रहते हो। गायन तो तुम्हारे घर के पास ही है। उसे छोड़कर तुम इतनी दूर क्यों चले आये ! " मैंने पूछा—" फिर कहां जाऊं ! किनके पास सीखूं ! " बुवासाहब ने जबाब दिया— " कुंदगोल जाओ। वहां रामभाऊ कुंदगोलकर ऊर्फ सवाई गंधर्व रहते हैं। उनकी सेवा में उपस्थित हो जाओ। " मुझे यह सलाह पसंद आयी। मैं पुनः दक्षिण भारत आया। सवाई गंधर्व जी के सान्निध्य में रहकर गाना सीखने लगा और आज मैं उनके शिष्य की हैसियत से संगीत के क्षेत्र में विचरण कर रहा हूं। भगवान जाने क्या हुआ होता, यदि विनायकबुवा ने उस वक्त मेरा उचित मार्गदर्शन न किया होता।

विनायकबुवा की गायन-शैली के विषय में बताना हो तो कहना पड़ेगा कि आपका गाना पूर्णतः ग्वालियर घराने की पद्धति का प्रातिनिधिक गाना था। आपका स्वरलगाव

खुला और ठोस रहता था। बंदिशों के स्थायी एवं अंतरे आप यथोचित ढंग से गाया करते और राग की बढ़त बिलकुल कायदे से और तरीके से किया करते थे। गायन के समय आप राग का नाम पहले श्रोताओं को बताते थे। इसके मूल में यही लगन थी कि संगीत का प्रसार हो। गायन-प्रस्तुति में लुकाव-छिपाव की आपकी प्रवृत्ति ही नहीं थी। गाने की प्रस्तुति की आपकी पद्धति भी सहज-सुलभ हुआ करती थी, जिससे श्रोताओं को आपका गाना अगम्य नहीं प्रतीत होता था। ख्याल गायन को जितने बढ़िया ढंग से आप पेश करते, तराना भी उतने ही प्रभावपूर्ण ढंग से गाते। एक प्रकार से तराना आपकी सबसे बड़ी खासियत थी। तराने के ही बल पर आप गायन-परिषदों में निश्चयपूर्वक रंग जमाते थे। किसी भी गवैये के पश्चात् गाने में आप हिचकते नहीं थे। उनमें जबर्दस्त आत्मविश्वास था। ग्वालियर घराने का प्रातिनिधिक गाना होते हुए भी ग्वालियर के गवैयों की, शंकर पंडित, कृष्णराव पंडित आदि की जो परंपरा है, उसकी अपेक्षा आपका गाना कुछ निराला था। मेरी राय है कि ग्वालियर के गायकों की गायन-शैली में 'टप्पा-अंग' पर्याप्त मात्रा में प्रकट होता है, जिससे उसमें ठहराव की मात्रा कम हुआ करती है; एक प्रकार की चंचलता उसमें झलकती है। किंतु, इसकी तुलना में विनायकबुवा के गाने में स्थिरता का गुण प्रकर्ष के साथ दिखाई देता था। आप गंभीर गति से आलापी किया करते। खयाल-तराने के साथ ही साथ बुवासाहब भजन भी खूब अच्छी तरह प्रस्तुत करते। भैरवी में निबद्ध आपका 'जोगी मत जा' भजन इतना लोकप्रिय हुआ था कि इस भजन को गाये बगैर लोग आपको मंच से हटने ही नहीं देते थे।

एक व्यक्ति के नाते भी बुवासाहब के प्रति मेरे मन में नितांत आदर है। आपका व्यक्तित्व अतीव शीलवान, सच्चरित्रतासंपन्न और निगर्वी था। अन्य कलाकारों के साथ प्रायः आप बड़े प्रेम से व्यवहार करते। दूसरों की सहायता करने या उनकी कठिनाई को दूर करने के लिए आप सदैव तत्पर रहते थे। नवोदित कलाकारों को आप प्रोत्साहित करते और उन्हें धीरज बंधाते। समय-समय पर संगीत-परिषदों में अनेक बार आपसे मेरा साक्षात्कार हो जाता तब आप हर बार आस्थापूर्वक मेरी पूछताछ करते थे। पटना में एक बार ऐसे ही एक बड़े कार्यक्रम में आपने मुझे अपने खुद के तानपूरे दे दिये, स्वयं उनको स्वर में मिला दिया और कहा कि अब खुल कर गाओ। इतना ही नहीं, बल्कि अपने सुपुत्र नारायणराव को आपने मेरी संगत के लिए तानपूरे पर बिठला दिया। आपके इस प्रोत्साहन का ही फल था कि उस दिन का मेरा कार्यक्रम बहुत ही कामयाब रहा।

विनायकबुवा के व्यक्तित्व की इन विशेषताओं के साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि आप अपने उसूलों के विषय में बड़े कट्टर थे। किसीका अनुचित बोलना

या बर्ताव आपको कभी सह्य नहीं होता था। संगीत के विषय में यदि किसीने कोई गलत बात कही तो आप उसे तुरंत फटकारते थे। उस प्रसंग में आप कठोर से कठोर बन जाते। ऐसे समय में आप किसी की मुरव्वत नहीं मानते थे। संगीत कला का अपमान, कलाकार का अपमान आप कभी नहीं सहते थे। इसीसे जैसी सब पर आपकी धाक जमी रहती, वैसे ही नवोदित कलाकारों के लिए आप का बड़ा आधार भी हुआ करता था। आपके स्वभाव के इस पहलू का मैंने कई बार अनुभव किया है। आपकी शरीरयष्टि भी प्रभावशाली थी। लंबा कद, लाल-गोरा वर्ण, चेहरे पर आत्म-विश्वास एवं तेज की आभा, आदि के कारण आप अपनी छाप लोगों पर छोड़ देते थे।

गुणग्राहकता बुवासाहब के स्वभाव की एक उल्लेखनीय विशेषता थी। किसी भी कलाकार के अच्छे गुण की ओर आप तुरंत आकृष्ट हो जाते थे। उस समय की अपनी खुशी आप बोलकर प्रकट भी कर देते थे। उस समय घराने का विचार भी आपके मन को नहीं छूता था। मेरे गुरु स्व. रामभाऊ कुंदगोलकर ऊर्फ सवाई गंधर्व और बुवासाहब के बीच जो गहरा स्नेह-संबंध जुड़ा हुआ था, उसके पीछे यही रहस्य है। जमखिंडी में प्रति वर्ष गणेशोत्सव में बुवा का गाना संपन्न हुआ करता था। सवाई गंधर्व, भी उस उत्सव में गाते थे। मैं कई बार सवाई गंधर्व के साथ जमखिंडी गया हूं। उस वक्त दोनों के स्नेह की अनुभूति मुझे मिली है। इसके अतिरिक्त ई. स. १९५० में संपन्न 'गांधर्व महाविद्यालय' के सुवर्ण महोत्सव में विद्यालय के तत्त्वावधान में, गुरुवर सवाई गंधर्व का बड़ा सम्मान किया गया था। जहांतक मेरी जानकारी है, इस कार्य में विनायकबुवा ने बड़ी मेहनत की थी। तात्पर्य यह कि जहां जहां सच्चा गुण पाया गया, बुवा वहां नतमस्तक हो जाते थे। परंतु सच्चे गुणों के स्थान पर जहां कहीं बेमेल बातें पायी जातीं, वहां बुवा कठोर बनते।

जब मैं विद्यार्थी-दशा में था तब से लेकर अबतक अनेक गवैयों के गाने मैंने सुने। जालंधर के 'हर वल्लभ मेले' में अखिल भारत के कलाकार अपना गायन पेश करने आते, उन्हें सुनने के कई अवसर मुझे प्राप्त हुए। वहां प्राप्त अनुभवों से मेरा यह स्पष्ट मत हो गया है कि विद्यार्थी अपने गुरु का गाना अवश्य आत्मसात् करे, परंतु उसे वहीं रुकना नहीं चाहिए। अपनी निजी प्रतिभा का उपयोग करके उसे अपना स्वयं का एक अलग रसायन अवश्य तैयार करना चाहिए, अपना निरालापन पैदा करना चाहिए। विद्यार्थी को अपने घराने के गाने की चौखट सुरक्षित रखनी ही है, किंतु उसमें अपने मन को भाए हुए अन्य कलाकारों के वैशिष्ट्यों को भी समाविष्ट करके अपने गाने को समृद्ध करना है। इसी तरीके से कलाकार के रूप में वह इस क्षेत्र में अपना स्थान निर्माण कर सकेगा। अपने गुरु जैसा हूबहू गाना उसका ध्येय कदापि होना नहीं चाहिए।

यह सच है कि पं. विनायकबुवा के शिष्यों में शिक्षक ही अधिक पैदा हुए। परंतु यह बात भी संगीत की अभिवृद्धि के लिए उपकारक ही सिद्ध हुई है। बुवासाहब के ये सब शिष्य आज अखिल भारत में संगीत का प्रचार कर रहे हैं। कल्याण, भूप, बिहाग, को वे घर घर पहुंचा रहे हैं और संगीत का एक अच्छा जानकार श्रोतृवर्ग तैयार कर रहे हैं। मुझे लगता है कि अभिरुचिसंपन्न श्रोतृवर्ग का तैयार होना संगीत के लिए निश्चय ही उपकारक बात है और इस विषय में बुवा का कृतित्व बेमिसाल है।

इस प्रकार 'बुवा' के विषय में, उनके व्यक्तित्व, कला और कृतित्व के संदर्भ में अपने विचार मैंने व्यक्त किये हैं। सिद्धि विनायक देवता के पश्चात् मैं देवतास्वरूप इस विनायक का भी अभिवादन करता हूं।

विद्यावारिधि मंगलदाता

पं. विनयचंद्र मौद्‌गल्य

[पं. विनयचंद्र मौद्‌गल्य पं. विनायकराव जी के अत्यंत प्रिय एवं कर्तृत्वसंपन्न शिष्य हैं। संगीतप्रशिक्षण, संगीतप्रसार तथा संगीतप्रयोग में आप अपने गुरुवर के पदचिह्नों पर चलते रहे हैं। राष्ट्रभक्ति, संगीतप्रेम तथा आध्यात्मिकता के संस्कार आपको अपने परमपिता पंडित कृपाराम ऊर्फ रामचंद्र जी से तथा अग्रज समर्पणानंद ऊर्फ बुद्धदेव विद्यालंकार से प्राप्त हुए। फिर जब उन्हें पंडित विनायकराव-जी का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद प्राप्त हुआ तब उनके सहज संस्कारित व्यक्तित्व की सारी शक्तियां मानों प्रस्फुटित हुईं। दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय के माध्यम से हिंदुस्थानी संगीत क्षेत्र के अंतर्गत आप जो बहुमूल्य और बहुविध कार्य कर रहे हैं वह अपनी मिसाल आप है। इस संपूर्ण सफलता का समूचा श्रेय विनयचंद्र जी, इस लेख के द्वारा अपने गुरुवर को ही समर्पित कर रहे हैं।]

गुरुवर स्वर्गीय पं.विनायकराव पटवर्धन के संबंध में मैं क्या कहूं ? वे संगीत के सागर थे जिसकी कुछ बूंदों को पाकर मेरे जैसा अकिंचन व्यक्ति भी कृतार्थ हो गया। गुरु, कलाकार, रचनाकार, ग्रंथकार तथा वक्ता के रूप में संगीत-क्षेत्र में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। अपने गुरु स्व. विष्णु दिगंबर पलुसकर की निःस्वार्थभाव से विद्यादान की परंपरा को सच्चे अर्थों में चलाने का श्रेय उन्हें है। यही कारण है कि आज उनके शिष्य पूर्व से पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण तक देश के कोने-कोने में कलाकार या शिक्षक के रूप में संगीतक्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्यरत हैं।

पंडित जी के दर्शन सबसे पहले मैंने सन् १९३२ में लाहौर में किये थे। उन दिनों मैं स्थानीय गांधर्व महाविद्यालय में संगीत सीख रहा था। मेरे अग्रज स्वर्गीय स्वामी समर्पणानंद [तब पं. बुद्धदेव विद्यालंकार] की पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर

के प्रमुख शिष्यों से घनिष्ठता थी। सन् १९३५ में फिर लाहौर आने पर पटवर्धन जी ने उन्हींके अनुरोध पर मुझे शिष्य बनाना स्वीकार किया। जून सन् १९३६ में मैं पूना आकर गांधर्व महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। पंडित जी परम शिष्यवत्सल किंतु नियंत्रण के मामले में बड़े कठोर थे। क्या मजाल कि कोई विद्यार्थी या शिक्षक पान चबाते हुए या पांच मिनट विलंब से क्लास में आए। सामान्य कक्षाएं शाम को ८ बजे समाप्त हो जाती थीं। भोजनोपरांत रात के समय उन लोगों का रियाज और प्रशिक्षण गुरुजी की देख-रेख में प्रारंभ होता था, जो संगीतकार बनने के उद्देश्य से ही पूना आए हुए थे। यह तालीम रात के ११–१२ बजे तक चला करती थी। पं. विष्णु दिगंबर जी के सुपुत्र दत्तात्रय विष्णु पलुसकर भी उन्हीं दिनों पंडित जी से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। मधुर और सुरीले कंठवाले विलक्षण प्रतिभासंपन्न गुरुपुत्र को सिखाने में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी थी। थोड़ी ही अवधि में संगीताकाश के देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में पलुसकर चमक उठे। पैंतीस वर्ष की भरी जवानी में उनका निधन संगीताकाश के लिए वज्राघात के समान था।

प्रातःकालीन पूजा के लिये पंडित जी नियम से बैठते थे। पूजास्थान के बिल्कुल पास ही उन्होंने मेरे रियाज का स्थान निश्चित कर दिया था, जिससे आवश्यकता होनेपर निर्देश दे सकें। पूरिया धनाश्री गाते समय कोमल ऋषभ के स्थान पर बार बार षड्ज लग जाने पर एक बार मुझे इतनी डांट पड़ी कि आंखों में आंसू आ गये। मेरी गलती ठीक होने तक उन्होंने पूजा आरंभ नहीं की। धन्य थी उनकी शिष्यवत्सलता। आज भी वह राग किसीको सिखाने बैठता हूं तो अनायास वह चित्र आंखों के सामने आ जाता है। मेरे जैसे अनेक साधनहीन छात्र उनकी अपार कृपा से निःशुल्क शिक्षा ग्रहण कर संगीत-क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सके। जब भी मैंने पूछा तो उन्होंने कहा "शुल्क की चिंता मत करो। 'रागविज्ञान' के संपादन में तुम्हारा सहयोग उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।" हिंदी साहित्य में मेरी यत्किंचित् योग्यता के आधार पर ग्रंथ का शास्त्रीय भाग लिखने का उत्तरदायित्व पंडित जी ने मुझे दिया हुआ था। प्रचलित, अप्रचलित, मिश्र तथा सभी रागों के बारे में चर्चा कर लेखबद्ध करने का सुअवसर इस प्रकार मुझे मिला। अनुकूल बंदिशों के अभाव में नई बंदिशों की रचना के लिये भी उन्हींसे प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मेरी इस अल्प सेवा के लिये आभार व्यक्त करने की उनकी इच्छा का विरोध कर, इसके स्थान पर आशीर्वाद का उल्लेख प्राप्त करने में सफल रहने को मैंने अपना परम सौभाग्य माना।

सुदीर्घ अवधि तक पं. विष्णु दिगंबर जी के गांधर्व महाविद्यालय में संगीत का सांगोपांग अध्ययन करने के बाद पटवर्धन जी की नियुक्ति सबसे पहले प्रिंसिपल के रूप में लाहौर शाखा पर हुई थी। उसके बाद कुछ समय तक नागपुर में भी वे

विद्यालय के प्राचार्य पद पर काम करते रहे। महाराष्ट्र के लाड़ले गायक अभिनेता बालगंधर्व के आग्रह पर उन्होंने गंधर्व नाटक कंपनी में काम करना स्वीकार किया। इन संगीतप्रधान नाटकों में उनकी सफलता सुनिश्चित थी। इस अवसर पर पत्रद्वारा गुरुजी का आशीर्वाद भी उन्हें प्राप्त हुआ था। अनेक वर्षों तक लोकप्रियता के शिखर पर रह कर वे नाट्यक्षेत्र में कार्यरत रहे।

पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर की घोर रुग्णावस्था का समाचार जानकर पटवर्धन जी उनके दर्शन के लिये नासिक पहुंचे। अश्रुपूरित नयनों से विष्णु दिगंबर जी ने कहा, "मैं अब बहुत दिन नहीं जीऊंगा। मेरे बाद मेरे संगीत-प्रचार के मिशन का भविष्य अंधकारमय है।" यह सुनकर पटवर्धन जी ने उनके चरण छूकर कहा— "मैं वचन देता हूं कि अन्य सब काम छोड़ कर भविष्य में अपना सारा जीवन आपके चरण-चिह्नों पर चलते हुए संगीत के प्रचार में ही लगाऊंगा। आप निश्चिंत रहें।"

इसके तुरंत बाद ही सुयश और समृद्धिवाले नाट्यक्षेत्र से उन्होंने संन्यास ले लिया। विद्यालय की स्थापना के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने के लिये उन्होंने संगीतप्रधान 'माधुरी' फिल्म में काम किया। पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त राशि का उपयोग उन्होंने पूना में विद्यालय की स्थापना के लिये किया। इस संस्था ने थोड़े ही समय में देशव्यापी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। देश के कोने–कोने से आये हुए संगीत-पिपासु, विद्यालय में प्रवेश पाकर अपने को सौभाग्यशाली समझते थे। पंडित जी के प्राचार्यकाल में देश की श्रेष्ठतम संगीत-संस्थाओं में इस विद्यालय का विशिष्ट स्थान रहा।

पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर के देहावसान के बाद उनके संगीतप्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये उनके प्रमुख शिष्यों ने अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल की स्थापना अहमदाबाद में सन १९३१ में की। पंडित जी उसके संस्थापकों में से थे तथा कुछ वर्षतक वे इसके अध्यक्ष भी रहे। उन्हींके आदेशानुसार स्थापित दिल्ली के गांधर्व महाविद्यालय पर तो उनकी विशेष कृपा रही है। संस्था का विधिवत् उद्घाटन सन १९४० में उन्होंने किया था। रजतजयंती समारोह तथा राष्ट्रपति डॉ. जाकीर हुसेन द्वारा विद्यालय भवन के शिलान्यास के अवसर पर भी वे आशीर्वाद देने के लिये उपस्थित थे। तभी उन्होंने भवननिर्माण के लिये रु. १००१ देने की घोषणा की। मैंने निवेदन किया–" पंडितजी आपने मुझे निःशुल्क सिखाया। आजतक मैं आपको कुछ भी नहीं दे पाया–भला आपसे मैं कैसे ले सकता हूं?" पंडित जी ने कहा—"यह राशि तुझे नहीं तेरे कार्य के लिए दे रहा हूं। आगे चल कर और भी जितना बन पड़े इस कार्य के लिये दूंगा।" विष्णु दिगंबर शताब्दी के पवित्र दिन १८ अगस्त १९७२ को भवन के प्रथम चरण (तीन मंजिलों) का उद्घाटन गुरुजी के करकमलों द्वारा दीप जलाकर संपन्न हुआ।

सन १९७२ तक विद्यालय कनॉटप्लेस के एक रिहायशी मकान में था। साल में कई बार उनका दिल्ली आना होता था। सब प्रकार की असुविधा उठाकर भी वे और कहीं न जा कर सदा विद्यालय में ही ठहरते थे। प्रारंभिक से लेकर उच्चतम कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को उनका मार्गदर्शन सुलभ रहता था। मुझे स्मरण है कि ज्वराक्रांत होने के कारण एक बार मैं कक्षा में सिखाने नहीं जा सका था। तब उन्होंने लगातार कई घंटों तक मेरे सभी विद्यार्थियों को स्वयं सिखाया।

गुरु घराने का पूर्ण अभिमान रहने पर भी विद्याप्राप्ति के लिये पं. रामकृष्णबुवा वझे का शिष्यत्व स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। इसी प्रकार मेरे अनुरोध पर अपने शिष्य श्री विनायकराव आठवले को उन्होंने आगरा घराने के उस्ताद विलायत हुसेन खां का शिष्य होने के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी थी। रागस्वरूप के बारे में भी उनका दुराग्रह नहीं था। इस विषय की चर्चा से वे रुष्ट नहीं होते थे। कई बार उन्होंने अपने मंतव्य में संशोधन करने की उदारता भी दिखाई। किसी अन्य घराने में यदि उसी राग का कोई और स्वरूप मान्य रहा हो तो उसे तथा उसपर आधारित बंदिशों को भी उन्होंने अपनी ग्रंथमाला में स्थान दिया।

बड़ी से बड़ी दक्षिणा देनेवाले अन्य आयाजनों को छोड़ कर गुरुजी 'विष्णु दिगंबर जयंती समारोह' में भाग लेने के लिये प्रायः प्रतिवर्ष दिल्ली आते थे। एक बार मार्गव्यय आदि के लिये दी गई राशि का लिफाफा उन्होंने बिना गिने स्वीकार कर लिया। पूना जाकर उन्होंने पत्र लिखा कि जितना मेरा खर्च हुआ उससे दो सौ रुपये अधिक तुमने दिये हैं। विष्णु दिगंबर समारोह से अधिक राशि लेना मैं पाप समझता हूं। अतः २०० रु. वापिस भेज रहा हूं।"

अनेक कलाकार संगीत-समीक्षकों से प्रशंसा प्राप्त करने के लिये आतुर रह अनेक उपायों का अवलंबन करते हैं। पंडित जी इसका अपवाद थे। मुझे स्मरण है कि एक 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' समीक्षक ने पंडित जी द्वारा गाए गए 'मेघमल्हार' राग को अशुद्ध बताने की धृष्टता की थी। पंडित जी 'ऑडीशन बोर्ड' के सदस्य हैं यह जानकर वह अगले दिन घबराया हुआ आया। पंडित जी का चरणस्पर्श कर के कहने लगा, "पंडितजी, आपकी आलोचना मैंने नहीं किसी और व्यक्ति ने की है।" पंडित जी ने कहा, "मैंने तुमसे नहीं पूछा कि मेरी आलोचना किसने की है। तुम हो या कोई और हो जो चाहे लिखते रहो। इसकी मुझे जरा भी पर्वाह नहीं है। मैं जैसा ठीक समझता हूं उसी प्रकार गाता रहा हूं और गाता रहूंगा।"

परंपरागत शास्त्रीय संगीत के प्रशिक्षण के अतिरिक्त नृत्यनाटिका, वृंदवादन एवं वृंदगान जैसी नवसर्जनात्मक गतिविधियों में भी वे गहरी दिलचस्पी लेते थे। विद्यालय

द्वारा प्रस्तुत नृत्यनाटिका 'मीरा' देखकर वे भावविह्वल हो गये थे। उनकी सराहना से हमें विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। उन्हींके सुझाव पर कलकत्ता में हुए एक सुप्रतिष्ठित संगीत-समारोह में सफलतापूर्वक भाग लेने का अवसर विद्यालय के वाद्यवृंद को प्राप्त हुआ था। वृंदगान के क्षेत्र में 'गंधर्ववृंद' को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्राप्त सफलता का प्रमुख श्रेय उन्हीं की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन को है। राग और ताल को सुरक्षित रखते हुए पाश्चात्य संगीत के 'स्वर-संवाद' आदि तत्त्वों के उपयोग के लिए भी उनकी पूर्ण सहमति थी।

पंडित जी बहुत मिलनसार थे। उनके संपर्क में आनेवाला कोई भी व्यक्ति उनके विनम्र तथा मधुर स्वभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। बच्चों से उनका विशेष लगाव था। क्रिकेट के वे शौकीन थे। अवसर मिलने पर टेस्टमैच देखने भी अवश्य जाते थे। मिठाई उन्हें बहुत पसंद थी। खासकर गाजर का हलुवा उन्हें बहुत भाता था। 'मोदक प्रिय मुद मंगलदाता, विद्यावारिधि बुद्धिविधाता'– यह वचन उन पर पूरी तरह लागू होता था। कुछ वर्ष पूर्व उनका हर्निया का ऑपरेशन हुवा था। तब मिरज आकर मैंने उनके दर्शन किये थे। उसके बाद उनका स्वास्थ्य पूरी तरह ठीक नहीं हो पाया। 'विष्णु दिगंबर पुण्यतिथि' के अवसर पर गुरुबंधु पंडित नारायणराव व्यास के साथ जुगलबंदी के लिये वे बंबई जाने लिये के तैयार थे। तभी स्वास्थ्य बिगड जाने के कारण उन्हें नर्सिंग होम में दाखिल करना पड़ा। कोई भी उपचार कारगर नहीं हुए। कितनी विलक्षण बात है कि २१ अगस्त को विष्णु दिगंबर जी की पुण्यतिथि थी। उसके दो ही दिन के अंतर से २३ अगस्त को उनके प्रिय शिष्य की इहलोक-लीला संवरण हुई।

आज पंडित जी हमारे बीच नहीं है। परंतु उनका यश अमर है। संगीत-क्षेत्र में उनकी साधना और तपश्चर्या युगों-युगों तक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण की जाती रहेगी। उन्हींके आदर्शानुसार संगीत-सेवा का दृढ संकल्प कर लेना ही उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा उनकी पुनीत स्मृति में सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

संगीत मिशनरी विनायक बुवा

श्री गजेंद्रनारायण सिंह

[श्री गजेंद्रनारायण सिंह पटना के धनी और मान्यताप्राप्त रसिकोत्तम हैं। आप न केवल संगीत के जानकार श्रोता हैं, बल्कि बिहार राज्य कला अकादमी के सचिव का दायित्व भी सुचारु रूप से निभा रहे हैं। पं. विनायकराव जी का तो भारत भर में संचार था। पंडित जी जब-तब पटना और पार्श्ववर्ती स्थानों पर भी महफिलों के लिए जाया करते थे। श्री गजेंद्रनारायण जी ने पटना में और पटना के बाहर भी पंडित जी की अनेक महफिलों का आनंद लूटा है और उनके संगीत-प्रचार के कार्य को भी निकट से देखा है। प्रस्तुत लेख उनके इन्हीं विषयों से संबंधित दिव्य अनुभवों का कथन करता है।]

विनायकबुवा का व्यक्तित्व बहुरंगी था -- गुणी गायक, कुशल शिक्षक, उदार गुरु, उद्भट प्रचारक और सूक्ष्म वाग्गेयकार। वह कलाकार तो थे ही, उससे भी बढ़कर एक जीवंत संस्थान थे। निष्काम भाव से संगीत-सेवा में जिन्दगी के आखरी पल तक जिस मुस्तैदी और तत्परता से वह जुड़े रहे वैसा संगीत के प्रति अदम्य उत्साह और समर्पण संगीत-जगत् में पं. विष्णु दिगम्बर के बाद उनमें ही देखने को मिला। गांधर्व महाविद्यालय के विकास और प्रचार की कल्पना उनके बिना नहीं हो सकती। तभी तो उनके गुरु-बंधु नारायणराव व्यास कहा करते थे, " विनायकराव जी और गांधर्व महाविद्यालय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। " विष्णु दिगम्बर के शिष्यों में यदि गुरु के आदेशों के पालन का दायित्वभाव किसीने निभाया तो एक मिशनरी की तरह एकमात्र पटवर्धन जी ने। संगीत उनके जीवनयापन का जरिया अवश्य था पर संगीत को व्यवसाय उन्होंने कभी नहीं बनाया। प. विष्णु दिगम्बर ने लाखों-करोड़ों कमाये। लेकिन सब संगीत के लिए न्यौछावर कर दिया। जब कभी उनके सुपुत्र दत्तात्रेय के भविष्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित कराया जाता तो कहते, " मैंने बगैर भेदभाव के अपने शिष्यों को पुत्रवत् मानकर संगीत की तालीम दी है। क्या मेरे सैंकड़ों शिष्यों

में एक भी ऐसा नहीं निकलेगा जो मेरे मरने के बाद दत्तात्रेय की जिम्मेदारी सम्भालेगा ?" कहते हैं आस्था और विश्वास में बड़ा बल होता है। गुरु के इस सपने को विनायकराव जी ने बड़ी निष्ठा और श्रद्धा से साकार किया, जब उन्होंने नौ साल के दत्तात्रेय पलुसकर के शिक्षण का सारा भार अपने कंधों पर उठा लिया। पौराणिक कथाओं में ऐसे समर्पित शिष्यों की सैकड़ों मिसालें मिलती हैं। पर आधुनिक युग में भी ऐसा संभव हो सकता है, इसे चरितार्थ किया विनायकराव पटवर्धन ने।

सन १९५० में हिन्दुस्तानी-संगीत के वे दुर्भाग्यपूर्ण दिन जब आफताबे-मौसिकी उस्ताद फैयाज खां बड़ौदा में अपनी मृत्यु-शय्यापर अंतिम घड़ियां गिन रहे थे। मुसलमान गायकों में खां साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अपने नेक मिजाज और विद्यादान के लिए वे सभी के आदर के पात्र थे। पंडित जी की बुलंद आवाज, राग की शुद्धता बरतने का ढंग और अदाकारी तथा लयकारी के उस्ताद हमेशा कायल रहे। यों संगीत के बहुत-से मसलों पर खां साहब से उनकी तकरार भी हुई, लेकिन दोनों गुण-ग्राहक थे और एक दूसरे को दिल से चाहते थे।

उन दिनों पंडित जी पूना में रहते थे। उन्हें भी खां साहब की बीमारी की खबर मिली। वे स्वयं उन्हें देखने जाना चाहते थे। पर कुछ व्यस्ततावश उनका तत्काल पहुंचना कठिन था, अतः उन्होंने शीघ्र ही अपने सुपुत्र नारायणराव पटवर्धन को खां साहब की सेवा में भेजा।

बुरे दिनों में कोई भाई-बंधु नहीं। अकेले खां साहब अपने कमरे में लेटे थे। अस्वस्थता और बुढ़ापे से जर्जर। बिस्तर पर से उठने से लाचार। लेकिन ज्यों ही उन्हें नौकर ने खबर दी कि पंडित विनायकराव पटवर्धन के लड़के उन्हें देखने आये हैं, खुशी के आंसू छलक आये। उठकर नारायणराव जी को कलेजे से लगा लिया। कहने लगे, 'बेटे, पंडित जी ने मेरी याद करके कलाकारों की शान रख ली। आज मेरे सब अपने, पराये हैं। कोई नहीं फटकता। लेकिन विनायकबुवा का बेटा मेरा अपना निकला। काश मैं तुझे कुछ दे पाता!'

खां साहब अपनी दरियादिली और शाही मिजाज के लिए मशहूर थे। लेकिन उस आखिरी वक्त कुछ भी नहीं बचा था। केवल इत्र की एक शीशी रह गयी थी। इत्र का एक फाहा देते हुए उन्होंने नारायणराव जी से कहा, 'बेटे, जिस तरह इसकी खुशबू सारी फिजा में फैल रही है, तेरे वालिद की शौहरत की खुशबू भी सारी दुनिया में फैलेगी।' और यह कहानी सुनाते-सुनाते पंडित जी के नेत्र सजल हो आये। ऐसे थे हमारे पंडितजी कि जिससे भी उनका परिचय हुआ एक रिश्ते में बदल गया। जो भी उनसे मिला, वह उनके सौजन्य पर फिदा हो गया।

यों तो पंडित जी अपने जीवन के अंतिम दिनों तक गाते रहे, संगीत-समारोहों में जाते रहे और आम श्रोता-समाज का नाद-ब्रह्म से साक्षात्कार कराते रहे। मई १९७५ में मैं उनके साथ पूना में था। उनकी पौत्री का विवाहोत्सव था। २९ मई की संध्या को संगीत-गोष्ठी का आयोजन था। दोनों ओर के लोग महफिल में बैठे थे। पं. राम मराठे गायन के लिए आमंत्रित थे। राम मराठे जी का गायन समाप्त हुआ और बारातवाले पंडित जी के पीछे पड़ गये कि वे भी कुछ सुनाएं। लेकिन पंडित जी ने यह कहकर गाने से इनकार कर दिया कि राम मराठे जी उनके अतिथि–कलाकार हैं और उक्त संध्या की महफिल के लिए विशेष रूप से बुलाये गये हैं, अतएव उनके बाद गाना उपयुक्त नहीं होगा। पंडित जी सदैव इस बात पर बल देते थे कि सामाजिक मर्यादा के पालन में गायक को भी उचित-अनुचित का खयाल रखना चाहिए; लेकिन बारात के लोग छोड़नेवाले नहीं थे। अंततः पंडित जी को दूसरे दिन प्रातः गाने के लिए तैयार होना ही पड़ा। वैवाहिक कार्यक्रमों में व्यवधान न पड़े, इस बात का ध्यान रखते हुए पंडित जी ने केवल भैरवी का भजन 'जोगी मत जा...' एक घंटा गाकर सुननेवालों को रस-गंगा में सिक्त कर दिया। अठहत्तर वर्ष की अवस्था में भी स्वरों पर ऐसा काबू, कि देखते ही बनता था।

बहुत कम लोग जानते हैं कि इस भजन को सबसे पहले पंडित जी ने ही स्वरबद्ध किया। वे १९३४ से इसका गायन करते चले आये और शायद ही ऐसा कोई संगीत-समारोह हुआ होगा जिसमें श्रोताओं के आग्रह पर पंडित जी ने इस भजन को न गाया हो। बाद में पंडित ओंकारनाथ ठाकुर भी इसका गायन करने लगे।

इस भैरवी भजन का ही एक प्रसंग। १९६०–६१ का वर्ष। स्वामी विवेकानंद शताब्दी के अवसर पर पार्क सर्कस, कलकत्ता में आयोजित संगीत-समारोह। पंडित जी ने अपने गायन का समापन 'जोगी मत जा' से किया। भजन प्रारंभ करने के पूर्व दो मिनट तक उन्होंने स्वामी जी को भावभीने शब्दों में श्रद्धा-सुमन चढ़ाये। पंडित जी की बातें मुझे बरबस याद आ रही हैं। तब उन्होंने कहा था, 'जोगी मत जा...' का गायन तो मैं वर्षों से करता आ रहा हूं, किन्तु आज का महत्त्व कुछ और ही है। आज 'जोगी मत जा...' मैं उस जोगी को सुना रहा हूं जो न केवल एक पहुंचे हुए साधक थे बल्कि एक महान संगीतकार भी थे। 'जोगी मत जा...' गाकर आज मैं उस महान आत्मा का आवाहन कर रहा हूं जिसने समस्त मानवता के कल्याण के लिए अपने को आहूत कर दिया।' और फिर जिस भाव-विह्वलता एवं पुकार-भरे स्वरों से पंडितजी ने 'जोगी मत जा .' को अलापा, वैसा मैंने उनसे ही फिर कभी नहीं सुना। 'राग, रसोई, पागड़ी कभी-कभी बन जात।'

सन १९५२ से पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने रेडियो पर गाना छोड़ दिया। लेकिन

१९६२ से वे पुनः रेड़ियो पर गाने लगे। १९६३ का अक्तूबर मास। पं. ओंकारनाथ ठाकुर और विनायकराव जी दोनों रेड़ियो-संगीत-संमेलन में आमंत्रित थे। समारोह के अंतिम दिन प्रातःकालीन सभा में ओंकारनाथ जी का गायन हुआ। रात्रि की अंतिम सभा में पंडितजी का कार्यक्रम था। ठीक इसके एक दिन पहले की बात है। पंडित जी गांधर्व महाविद्यालय में ठहरे हुए थे। मैं उनसे मिलने पहुंचा। गपशप के बाद पंडित जी ने कहा, 'आज तुम्हें ओंकारनाथ जी से मिलाने ले चलता हूं।' ओंकारनाथ जी पं. विनयचन्द्र मौदगल्य प्राचार्य, गांधर्व महाविद्यालय के अनुज प्रमोद जी के राज-घाट-स्थित निवास पर टिके थे। मैं, पंडित जी और विनयचन्द्रजी की पत्नी पद्मादेवी राजघाट की ओर चल पड़े। संध्या के करीब साढ़े छह-सात बज रहे थे। जैसे ही प्रमोद जी के निवास पर हम पहुंचे कि भीतर से तानपूरे पर शीतल, शांत स्वर-लहरी गूंजती बाहर निकली। पंडित जी ने दरवाजा खटखटाया। अंदर से आवाज आयी—"कौन हैं?" पंडित जी ने अपना नाम (विनायकराव) बतलाया। तानपूरा रखते हुए ओंकारनाथ जी दरवाजे की ओर लपके और द्वार खोलते हुए स्वागत में कहा, "अहा गणेश जी (विनायक) हमारे दरवाज़े पधारे हैं।" छूटते ही पंडित जी ने जवाब दिया, 'पर ओम तो आगे लगता है न।' और दोनों गुरुभाई एक-दूसरे के अंक में समा गये। दोनों कलाकार उस दिन एक-दूसरे पर निछावर थे। बातचीत के दौरान दोनों ने एक दूसरे से वायदा किया कि १९७२ में गुरुवर्य पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर की जन्म-शताब्दी के पुनीत अवसर पर देश के उन सारे नगरों में जहां गुरुजी गये थे, दोनों गुरुभाई जुगलबंदी करेंगे और दिल्ली में पंडित विष्णु दिगम्बर का एक भव्य स्मारक तैयार कराएंगे।

और दोनों ने भावनाओं के अथाह सागर में गोता लगाते हुए सुर मिलाकर गायन प्रारंभ कर दिया – 'हरि के चरण कमल...' श्री राग की वह बंदिश, जिसे १९१२ में विष्णु दिगंबर जी ने पंडित जी को सिखाया था। काश, पंडित ओंकारनाथ १९७२ तक हमारे बीच होते!

पटवर्धनबुवा दकियानूस दृष्टिकोण के कभी नहीं रहे। संगीत में परंपरा के पृष्ठपोषक होते हुए भी वह गुणपरखी और गुणग्राही थे। स्वर और लय के जहां भी अनूठे नक्शे मिलते उसकी मुक्तकंठ से सराहना करते। १९६३ ई. में रेडियो संगीत संमेलन की दिल्ली में आयोजित सभाओं में एक संध्या काश्मीर का सूफियाना कलाम तथा वाद्यवृंद रचना का कार्यक्रम रखा गया जिसे सुनकर पंडित जी खिल उठे। अनिल विश्वास के निर्देशन में वाद्यवृंद द्वारा 'षट्ऋतु' प्रस्तुत किया गया। षट्ऋतुओं को दर्शाने के लिए विभिन्न रागों के माध्यम से सुरों का जैसा सुन्दर-सटीक ताना-बाना बुना गया वह देखने-सुनने लायक था। पंडित जी इस तरह की सांगीतिक प्रस्तुतियों

के हमेशा प्रशंसक रहे।

उभरते एवं उदीयमान कलाकारों को नेक सलाह तथा प्रोत्साहन देने में वह विशेष रुचि रखते थे। यह पंडित जी की दूरदर्शिता तथा गुणपरखी नजरिया का ही कमाल था कि सवाई गंधर्व को भीमसेन जोशी सरीखा शिष्य मिला और हिन्दुस्तानी संगीत को एक मेधावी संगीतकार। सुयोग्य गुरु की तलाश में भटकते भीमसेन को सवाई गंधर्व को सुपुर्द करने का सुकार्य पटवर्धनबुवा जैसे नेक और दरियादिल संगीतकार ही कर सकते थे। बुवा साहब से एक बार मेरा शंकालु मन पूछ ही बैठा कि स्वयं संगीतकार होते हुए उन्होंने भीमसेन जी को अन्य गायक के हवाले क्यों किया। उन्होंने बताया कि एक गायक के रूप में भीमसेन के व्यक्तित्व का सही निखार किराना शैली में ही हो सकता था। उस दिन मुझे पता चला कि पंडित जी कितने सूक्ष्मदर्शी थे। आज भी जोशी जी इस उपकार की चर्चा कृतज्ञतापूर्वक करते हैं। अनेकों संगीत-समारोहों में जोशी जी के गायन पर विमुग्ध दाद देते मैंने विनायकराव जी को देखा है।

१९६७ ई० में मुजफ्फरपुर के अखिल भारतीय संगीत-समारोह में अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कलाकारों का जमघट था। युवा सरोदवादक अमजदअली खां भी आये थे। चार दिवसीय इस समारोह में पंडित जी ही ऐसे कलाकार थे जो प्रत्येक दिन प्रारम्भ से अन्त तक सभी संगीतकारों को सुनने पंडाल में उपस्थित रहते थे। पहली सभा में अमजद अली ने झिंझोटी की अवतारणा की। वादन के पश्चात् जब पंडित जी से आमना-सामना हुआ तो अमजदअली ने झुककर अभिवादन किया। विनायक बुवा ने अमजद अली का अभिवादन स्वीकारते हुए कहा, " भाई, तुम्हारे पिताजी उत्कृष्ट सरोद-वादकों में से थे। मेरे अजीज दोस्तों में से थे। संगीत की अभी अनेक मंजिलें तुम्हें तय करनी हैं। इसलिए एक महान परम्परा के उत्तराधिकारी होने के नाते अभी मुकम्मल रागों को ही मांजने की कोशिश होनी चाहिये। अच्छे संगीतकार को सस्ती लोकप्रियता के बहाव में नहीं आना चाहिए।" दूसरी सभा में अमजद अली ने राग दरबारी की ऐसी पेशकश की कि पंडित जी सुनकर बागबाग हो उठे। वादन के दौरान हर खूबसूरत एवं बारीक जगहों पर खुलकर दाद देते रहे। हमने बड़े से बड़े कलाकार को भी संकीर्णता के अंधियारे में भटकते देखा है। पर संकुचित वृत्तियों से परे पटवर्धन जी का व्यक्तित्व बड़प्पन की गरिमा-आभा से दीपित था। संगीत की अवमानना और मर्यादा के विपरीत छुटपना उनके बर्दाश्त के बाहर था। बड़ी से बड़ी हस्तियों को भी संगीत की अप्रतिष्ठा करने के लिये फटकार बताने से वह नहीं चूकते। संगीत की दिव्य तेजस्विता से मंडित ऐसे संगीत-रत्न बिरला हुआ करते हैं।

पंडित जी से अपने संपर्कों की चर्चा करते हुए दिल्ली के वयोवृद्ध उस्ताद चांद

खां ने सहज ही कहा, 'पटवर्धन जी कलाकार तो बड़े थे ही, आदमी भी अव्वल दर्जे के थे। जैसी इन्सानियत उनमें कूटकूट कर भरी थी, वैसी आज दुर्लभ है। जब भी वे मिलते खुशियों का अंबार छोड़ जाते। कितना आला मिजाज पाया था उन्होंने, जो हमारे लिये मिसाल बनकर रह गया है।"

सन् १९४०–५० के मध्य की कुछ मनोरंजक अविस्मरणीय घटनाएं याद आ रही हैं। १९४६ ई. का पटना विश्वविद्यालय सिल्वर जुबली के अवसर पर आयोजित व्हीलर सिनेट हॉल का म्यूजिक कान्फ्रेंस जिसमें उस्ताद फैयाज खां, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. ब्रह्मानंद गोस्वामी, पं. नारायणराव व्यास, उस्ताद बड़े गुलामअली खां एवं अन्यन्य बड़े ख्यातिलब्ध संगीतकार शिरकत करने पधारे थे। पटवर्धन बुवा भी इस समारोह में शामिल थे। तब उनकी मौसी का शबाब था। बड़े गुलामअली ने धुनों और ठुमरियों की दिलकश अदायगी से तमाम श्रोताओं को अपनी स्वर-माधुरी के मोहपाश में जकड़ रखा था। उस मोहपाश को भंग करने का साहस बड़े दिग्गज कलाकारों तक में नहीं था। खां साहब के बाद मंच पर जाने से सभी कतराने लगे। पर विनायकबुवा अपने प्रचंड आत्मविश्वास के बल मंच पर आरूढ़ हुए। जरा सोचिए 'तोरी तिरछी नजरिया के बान' से गुलामअली ने किस तरह सुननेवालों को बिंध रखा था। पर विनायकराव जी राग वसंत बहार के स्वरों को छेड़ते हुए उत्तरांग प्रधान बहार में जब तार षड्ज पर खड़े हुए तो गुलामअली खां साहब के सुरों का मायाजाल टूट गया। जिस किसी महफिल या जलसे में जब कभी पटवर्धन जी को गाते सुना तो वह संगीत-सभा केवल उन्हींकी याद बनकर रह गयी। ऐसा मनोबल और आत्मदृढ़ता मुझे दूसरे समकालीन संगीतकारों में देखने को नहीं मिली।

कलकत्ता नगर का एक संगीत-समारोह। अनेक जाने-माने उद्‌भट कलाकार अपनी कला का परिचय देने आये। विख्यात केसरबाई केरकर भी आयी थीं। कविवर रवि ठाकुर ने इनका गायन सुनकर, अपने हाथों लिखकर 'सुरश्री' की उपाधि से विभूषित करते हुए उन्हें प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया था। वे ऐसी निष्णात गायिका थीं, जिन्हें अपने समय के दिग्गज उस्ताद अल्लादिया खां साहब की दुरूह गायकी विरासत में मिली। समारोह के प्रबंधकों ने एक ही रात्रि पंडित जी और केसरबाई का कार्यक्रम रखा। लेकिन केसरबाई का गायन पंडित जी के ठीक पहले रखा गया। केसरबाई पंडित जी से पांच-सात साल बड़ी थीं। वरिष्ठ होने के नाते उनका गायन पंडित जी के बाद रखा जाना चाहिए था! केसरबाई ने आपत्ति की कि वे पहले नहीं गाएंगी। प्रबंधक घबराये और पंडित जी के पास अपनी कठिनाई व्यक्त की। पंडित जी ने उन्हें खुश करते हुए केसरबाई के पहले अपने गाने की स्वीकृति दे दी। अब मजा देखिए। पंडित जी ने उस दिन अपना तानपूरा केसरबाई के स्वर से एक स्वर ऊंचा मिलाया

और स्वयं जिस स्केल और स्वर से गाते थे उसे उक्त समय के लिए तिलांजलि दे दी। ख्याल एवं तराना गायन अत्यंत ही ओजस्वितापूर्ण और भव्य-उदात्त हुआ। सुननेवाले चकित और विमुग्ध। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच पंडित जी ने आसन छोड़ा और उस रात के कार्यक्रम का समापन करने के लिए केसरबाई स्टेज पर अवतरित हुईं; लेकिन श्रोताओं के कानों में तो केसरबाई के स्वर से एक स्वर ऊंचा पंडित जी का स्वर-चातुर्य ही गूंजता रहा।

कलकत्ता का ही एक अन्य समारोह। लाला बाबू (दामोदरलाल खन्ना) की कानफ्रेंस। इसमें भी केसरबाई, पंडित ओंकारनाथ ठाकुर और अनेकानेक माहिर गायक-वादक उपस्थित थे। पंडित जी भी आये थे। वह जमाना था जब भारतवर्ष का एक भी संगीत–सम्मेलन पं. विनायकराव पटवर्धन, पं. ओंकारनाथ ठाकुर और पं. नारायणराव व्यास (पं. विष्णु दिगम्बर के तीन महारथी शिष्य) के बिना नहीं होता था। प्रायः सभी संगीत-सम्मेलनों में इनके गायन की धूम मची होती थी। एक दिन बेजोड़ तबलावादक अनोखेलाल जी की संगति में पंडित जी का गायन हुआ। दूसरे दिन की सभा में अजराड़ा बाज के अद्वितीय तबलिया उस्ताद हबीबुद्दीन खां को पंडितजी के साथ बजाना था। लेकिन कुछ कुचक्रियों ने कानफ्रेंस के व्यवस्थापक लाला बाबू को चढ़ाया कि आज पंडित जी का गायन हबीबुद्दीन खां और अनोखेलाल दोनों तबलावादकों के साथ होना चाहिए। पंडित जी लय और तराना के राजा हैं, इसलिए इन दोनों वादकों के साथ उनका गायन असाधारण रूप से प्रभावशाली होगा। लाला बाबू के हठ पर यद्यपि पंडित जी राजी हो गये, तथापि उन्हें अपमानित करने की जो कुटिल चाल चली गयी थी, उसे उन्होंने भांप लिया। उन्होंने स्पष्ट कहा, 'लाला बाबू, आज गाना सुनना है कि दंगल कराना है। आज तो दंगल ही होगा।' और दोनों तबलियों को लेकर उन्होंने लयकारी के जो चमत्कार दिखाये, वे भारत के संगीत-सम्मेलनों के इतिहास में बेमिसाल रहेंगे।

पंडित जी का मुझपर अपार स्नेह था। मेरे पुत्र के जन्मोत्सव पर पहली बार वह मेरे घर आये थे। जनवरी का महीना था। पंडित जी बनारस में अपना कार्यक्रम देते हुए पटना आये थे। २७ जनवरी को उन्हें जाकिर साहब के यहां, राजभवन (पटना) में गणतंत्र-दिवस के उपलक्ष्य में आयोजित समारोह में गाना था। वह मेरे छोटे गुरुजी प्रोफेसर नारायणराव पटवर्धन, (पंडितजी के ज्येष्ठ पुत्र) जो उन दिनों आकाशवाणी, पटना में म्यूजिक प्रोड्यूसर थे, के यहां टिके थे। मैं उनसे मिलने गया तो बड़ी आत्मीयता से मिले। मैंने उन्हें पोता होने की खुशखबरी दी तो सुनते ही मुझे बधाई दी और संध्या घर पर बच्चे को आशीर्वाद देने के लिए आने का वचन दिया। मैं उनका मुंहलगा था, सो बड़ी ढिठाई से कहा कि केवल सूखा आशीर्वाद नहीं चाहिए

उन्हें गाना भी सुनाना पड़ेगा तो बेहिचक स्वीकृति दे दी और वे गाए भी।

गायन-पर्व पर मेरे परिवार के सभी सदस्यों से वे बड़े अपनेपन से मिले। पंडित जी को जब यह मालूम हुआ कि शास्त्रीय संगीत के प्रति मेरे छोटे भाई के दिल में कोई जगह नहीं तो उन्होंने उसकी ओर मुखातिब होकर कहा, "भाई, तुम मेरी बगल में बैठो। यदि मैंने संगीत-शारदा की कुछ भी साधना की है, गुरुओं की सेवा की है तो तुम्हारी ओरंगजेबियत को निकाल बाहर करने में मेरा गायन सफल होगा।"

फिर वागेश्वरी का ख्याल भावोन्मेष में बुवासाहब ने ऐसा गाया कि गायन समाप्त होते-होते मेरे भाई से नहीं रहा गया और पंडितजी के पैर पकड़ते हुए उसने कहा कि शास्त्रीय संगीत भी इतना मर्मस्पर्शी, सरल-सुबोध और साहित्यनिष्ठ एवं ललित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना तक नहीं थी। उस दिन से मेरा संगीतशत्रु भाई पंडित जी का मुरीद हो गया। ऐसे थे हमारे पंडित जी!

कालजयी यश-कीर्ति के धनी

डॉ. सुमति मुटाटकर

[संगीत-साधना, संगीत-शिक्षा एवं संगीत-समीक्षा के क्षेत्र में श्रीमती डॉ. सुमति मुटाटकर का नाम स्वयंप्रकाशित है। महापंडित रातंजनकर जी की आप प्रधान शिष्या रही हैं और आकाशवाणी में संगीत की अधिकारी के नाते आपने बहुमूल्य कार्य किया है। स्वयं अन्य घराने की गायिका होते हुए भी श्रीमती मुटाटकर जी के मन में पं. विनायकराव जी के सांगीतिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के प्रति उनकी जो निश्छल आदरभावना है वह प्रस्तुत लेख के प्रत्येक शब्द में निनादित हुई है।]

'नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।'

हिंदुस्थानी संगीत जगत् में संगीत-चूडामणी पं. विनायक नारायण पटवर्धन का नाम चोटी के अग्रगण्य महानुभावों में समादर के साथ लिया जाता है। 'पद्मभूषण' से विभूषित और संगीत नाटक अकादमी की 'रत्नसदस्यता' से अलंकृत होकर राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित श्री विनायकराव जी कालजयी यशकीर्ति के धनी हो गये।

ईश्वरदत्त प्रतिभा, उच्च प्रामाणिक संगीत-शिक्षा एवं निरंतर परिश्रम व साधना के बल पर श्री विनायकराव जी उत्कृष्ट क्रियासिद्ध कलाकार बने। साथ साथ दर्शनीय, प्रभावी व्यक्तित्व और अभिनय-कौशल तथा समयसूचकता जैसे गुणों से वे मराठी नाट्य-मंच पर भी चमक उठे। महफिल के कलाकार और नाटक में नायक-अभिनेता दोनों रूपों में उन्होंने कमाल का यश व लोकप्रियता अर्जित की। रंगदेवता मानों उनपर अपनी प्रसन्न आलोकमय मुसकान सदा बिखेरती ही रही। अपने आप में यह महान सफलता थी; परंतु इस कीर्ति व लोकप्रियता के भुलावे में आकर अपने जीवनलक्ष्य को उन्होंने सीमित नहीं होने दिया।

अपने पूजनीय गुरुवर संगीतमहर्षि पं. विष्णु दिगंबर पलुसकर जी से विनायकराव जी ने संगीत-विद्या तो समग्रता के साथ ग्रहण की थी ही। साथ साथ गुरुवर्य का

आदर्शवाद, इस पवित्र नादविद्या का समाज में पुनः प्रतिष्ठान, उसका प्रचार–प्रसार, गुरुकुल–प्रणाली एवं संस्थापद्धति के समन्वय से शिक्षासंस्था का संचालन, दृढ संकल्प, शुद्ध निर्व्यसनी आचार–विचार और अनुशासन जैसे मौलिक जीवन-मूल्यों को भी विनायकराव जी ने आत्मसात् किया था। ऐसी मूल्यसामग्री लेकर वे जीवनपथ पर अग्रसर हुए थे। उस समय संगीत–सेवी का जीवन अति कठिन, एक 'क्षुरस्य धारा' के समान ही था। विनायकराव जी के जीवन में कितने ही ऐसे मोड़ आये जब उनकी अपने जीवनमूल्यों में आस्था कसौटी पर खरी उतरी।

अपने प्रारंभिक कार्यकाल में गांधर्व महाविद्यालय की नागपुर शाखा के संचालक के रूप में आज से लगभग ६६ वर्ष पूर्व (१९२० में) अपने गुरुजी की आज्ञा से विनायकराव जी नागपुर आये। नागपुर के संगीतप्रेमियों द्वारा उनका अच्छा स्वागत हुआ। हमारा परिवार तो संगीतप्रेमी और संगीतकारों का समादर करनेवाला था ही, और भी रसिक व्यवसायी लोग थे। सभी के मन अपनी संगीत-निपुणता, सुसंस्कृत आचार–विचार, कर्तृत्वशीलता से विनायकराव जी ने जीत लिये। उन्हें नागपुरवासियों का स्नेह व समर्थन भरपूर मिलने लगा। युवा होने पर भी उन्हें सन्मानपूर्वक 'बुवासाहेब' कहा जाने लगा। संस्था अच्छी चल पड़ी। परंतु कुछ ही समय पश्चात् 'बुवासाहेब' गंधर्व नाटक कंपनी में चले गये। बताया जाता है कि उनके नागपुर छोड़ने से वहां के लोग दुःखी हुए पर नाटक में उनका गाना नये परिवेश में सुनने के लिए उत्सुक भी हुए।

मेरा पहला संस्मरण है १९२६–२७ का, जब गंधर्व नाटक कंपनी अमरावती आई थी। बालगंधर्व तो संगीत–नाटक के सम्राट् ही थे, उनके साथ नायक की भूमिका में थे हमारे 'बुवासाहेब'। मुझे याद है मेरे नाना जी वगैरह इन नाटकों को देखने के लिए नागपुर से अमरावती आये थे। मैं उसी वर्ष अमरावती गव्हर्मेंट गर्ल्स हाइस्कूल में दाखिल हुई थी। 'संगीत मानापमान' नाटक में नायक धैर्यधर की शानदार भूमिका में 'नायिका बालगंधर्व' के साथ विनायकराव जी को देखकर और उनका दमदार सुस्वर और भावपूर्ण नाट्यसंगीत सुनकर ऐसा चमकदार, गहरा प्रभाव पड़ा जिसकी कि मिसाल नहीं। उसके बाद अन्य नाटकों में भी उनका कौशल देखा। इस मुकाम में हमारे लोगों के आग्रह से रागदारी संगीत के भी कुछ घरेलू कार्यक्रम उन्होंने किये जिनकी अमिट छाप संगीत की समझ न होते हुए भी, मेरे मन पर पड़ी।

मराठी नाट्यमच पर इतना यश व ख्याति मिलने पर भी विनायकराव जी की गुरुभक्ति में कोई अंतर नहीं आया। पंडित विष्णु दिगंबरजी के निधन के पश्चात् उनके संगीत-प्रचार के महान कार्य का उत्तरदायित्व उन्होंने मनोमन स्वीकार किया और नाट्यमंच से विदा ले ली, श्री बालगंधर्व और अन्य नाट्यधर्मी लोगों की कोई

दलील नहीं सुनी। उनके प्रशंसकों को उनका नाट्यमंच छोड़ देना अखर गया, दूसरी ओर उनकी प्रशंसा भी हुई। मेरे पिताजी ने कहा था कि 'बुवासाहेब' का यह कठिन निर्णय गुरु के प्रति व संगीत-विद्या के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा का परिचायक है।

गुरुवर्य पं. विष्णु दिगंबर जी के आदर्शों पर चलकर विनायकराव जी पुणे में अपना संगीत–शिक्षा–संस्थान अत्यंत मनोयोग व आस्था से चलाते रहे। उनके शिष्यगण संगीत-क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करके क्रियासिद्ध कलाकार एवं गुरु–शिक्षक–प्रचारक होकर उच्च पदों पर कार्य कर रहे हैं। कितने ही संगीत के प्रचार में अपने स्तर पर योगदान दे रहे हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति के सीमित दायरे से ऊपर उठकर पं. विनायकराव पटवर्धन एक संस्था बन गये।

देशभर में रेड़ियो, संगीत सभासंमेलनों व अन्य कितने ही कार्यक्रमों में अपनी कला का प्रदर्शन करने के साथसाथ ही विनायकराव जी का अध्ययन–चिंतन भी चलता रहा। अध्यापन चल ही रहा था। 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' इस औपनिषदिक मंत्र को मानो उन्होंने अपना मूलमंत्र ही बनाया था। प्रतिवर्ष अपने गुरु की पुण्यतिथि के अवसर पर एक दो नये रागों को बिठाकर उनके चरणों में समर्पित करने का निर्णय कई वर्षों तक विनायकराव जी ने चलाया।

प्रत्यक्ष गुरु के साथसाथ 'ग्रंथगुरु' की भी विनायकराव जी की दृष्टि में आत्यंतिक महत्ता व उपयोगिता थी। शास्त्रीय संगीत के सुयोग्य प्रचार के लिए व विद्या की सुरक्षा के लिए ग्रंथ-रचना आवश्यक समझकर वे 'राग-विज्ञान' ग्रंथमाला का ग्रथन करके उसे प्रकाशित करवाते गये। आज संगीत शिक्षा के समूचे क्षेत्र में इस ग्रंथमाला का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हो रहा है।

इस संदभ में विशेष प्रभावित करनेवाली बात मुझे प्रतीत हुई विनायकराव जी का संगीत-विद्या के प्रति विशाल दृष्टिकोण और उनकी प्रांजलता। छठे भाग की प्रस्तावना में उनका कथन है कि जो राग उन्हें गुरुघर से नहीं मिले थे, उन्हें उन्होंने अपने दायरे से वर्जित नहीं समझा, बल्कि उन्हें भी अन्य विद्वानों से सुनकर उनका शास्त्र-परिचय देखकर उन रागरूपों को उन्होंने आत्मसात् किया, बंदिशें बनाकर उन्हें अपने कार्यक्रमों में प्रस्तुत किया। उनका प्रांजल कथन था कि हिंदी भाषा में कविता वे नहीं कर सकते, इस कारण अपनी कई नई बंदिशों में उन्होंने हिंदी संत कवियों के पदों को बंदिशों के रूप में बांधा। दूसरी उनकी यह दृष्टि थी कि रागशुद्धि और सांगीतिक पक्ष के साथसाथ बंदिशों का साहित्यपक्ष भी स्वस्थ, सुरुचिपूर्ण हो तो अधिक अच्छा। फिर अपनी बंदिशों को झूठमूठ पुरानी कहलवाने के भी वे नितांत विरोधी थे। अपने शिष्यगणों के प्रति उनके मन में स्नेह की और उनके विशिष्ट गुणों को मान्यता,

समर्थन देने की भावना थी। अपने पुत्र श्री नारायण और मधुसूदन हों या शिष्य श्री विनयचंद्र (भाईजी), श्री आठवले हों अथवा आस्था रखनेवाले अन्य व्यक्ति हों, बिना किसी संकोच के उनसे अपने ग्रंथकार्य में सहायता लेकर उसे मुक्त हृदय से जाहिर तौर पर उजागर करने में ही उन्होंने अपना गौरव समझा।

मेरा व्यक्तिगत संपर्क श्री विनायकराव जी से अल्प मात्रा में, आज से लगभग तैंतालीस वर्ष पूर्व, जब मैं संगीत की शिक्षा गुरुवर्य पंडित रातंजनकर जी से ग्रहण करने के उद्देश्य से लखनऊ गई तब से चल पड़ा। उस जमाने में आकाशवाणी के केंद्र आज की तुलना में बहुत ही कम थे। ध्वनिमुद्रण की सुविधा भी बहुत ही सीमित थी। देशभर के संगीतप्रेमियों को सभी प्रदेशों के अच्छे कलाकारों का संगीत सुनने को मिलता रहे, उनसे परिचय बढ़ता रहे इस उद्देश्य से शृंखला कार्यक्रम (chain booking) का विशेष प्रचलन था। श्री बुवासाहेब chain booking में या आसपास के प्रदेशों में संगीतसभा-संमेलनों एवं कार्यक्रमों के सिलसिले में लखनऊ आया करते। उनसे मिलने के, उनका गाना सुनने के अवसर आते रहते। कभी वे गुरुवर्य रातंजनकर जी से मिलने हमारे कॉलेज में आते तब उन दोनों में बातचीत, चर्चा होती। कुछ मसलों पर मतभेद होते हुए भी इन दो महान संगीत-आचार्यों के बीच सौहार्द और परस्पर समादर की ही भावना दीख पड़ती। आगे चलकर कितनी ही सभाओं, कमिटियों में इन दोनों को साथसाथ बैठकर कार्य करते हुए देखा।

बुवासाहेब के विशेष संपर्क में आकर संगीत के बारे में, उनकी जीवनी के, उनके विचार-चिंतन के, मान्यताओं के बारे में उनके बातचीत करनेके, उनका गायन सुनने-के अधिक अवसर आने लगे, जब १९५३ में मेरी आकाशवाणी में 'स्टाफ' पर नियुक्ति हुई। इस आलेख में मैं जो कुछ लिख रही हूं इसमें से कुछ सारतत्त्व उनके साथ प्रत्यक्ष वार्तालापों के दौरान में मेरी परिपृच्छा के उत्तररूप में मुझे प्राप्त हुआ है। कुछ जानकारी मेरे पिताजी, पंडित जी के पुत्र व शिष्यों से तथा अन्य लोगों से, और उनके ग्रंथ-वाङ्मय से मिली।

विद्वान व लोकप्रिय कलाकार एवं एक परंपरा के प्रतिनिधि तथा आकाशवाणी के बहुत पुराने वरिष्ठ कलाकार के रूप में श्री विनायकराव जी आकाशवाणी से पहले से जुड़े हुए थे ही। डॉ. बाळकृष्ण केसकर के सूचना एवं प्रसारण मंत्रीपद के कार्य-काल में विशेषतः १९५१, ५३ से लेकर अखिल भारतीय कार्यक्रम, रेड़िओ संगीत-संमेलन, तानसेन समारोह व अन्य महत्त्वपूर्ण संगीत-कार्यक्रमों का सिलसिला चल पड़ा था। म्यूजिक ऑडिशन बोर्ड कार्य करने लगा था। इन सबमें प्रचुर मात्रा में 'बुवा-साहेब' का योगदान था।

श्री. विनायकराव जी की गायनशैली विख्यात और चर्चित है, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं समझती। कुछ पुराने लोगों ने बताया कि पं. विष्णु दिगंबर जी के गाने की झलक अगर कहीं मिलती है तो वह विनायकराव जी के गाने में ही मिलती है।

मैंने देखा कि विनायकराव जी का गाना जमा नहीं ऐसा कभी नहीं होता था। कुछ साधारण, कभी अधिक तो कभी अत्यधिक मात्रा में, पर रंग तो जमता ही था। अपने ओजस्वी, सधे हुवे, पाटदार कंठस्वर में, आत्मविश्वास के साथ, प्रसन्न मुद्रा में श्री विनायकराव जी महफिल में या मंच पर अपना गायन प्रारंभ करते तो तुरंत ही उसकी गरिमा का, सुगठित रूप का प्रभाव प्रतीत होने लगता और बढ़ता जाता। अनुशासन और उन्मुक्तता दोनों की प्रतीति मुझे उनके संगीत में होती। ख्याल, तराना और भजन उनकी संगीत-संपदा के प्रमुख अंग थे। जहां खयाल को वे अपनी शिक्षा व परंपरा के अनुसार गाते सजाते, वहां तराने में तराने के बोलों की विशेषतः 'दिर दिर' की, द्रुत अतिद्रुत लय में स्वरलय की काटतराश और एक से एक सुंदर, वैचित्र्यपूर्ण आकृतियां का निर्माण करके एक उत्साह व चमत्कृतिपूर्ण वातावरण बना देते। यहां तबला वादक भी अपनी करामात दिखाता और रंग बढ़ता। यह उनकी अपनी उपलब्धि रही। इस तकनीक से तराने को मानो एक निराला रूप – वाद्यसंगीत की झालेदार झालर लिये हुए – द्रुत खयाल से अलग, प्राप्त हुवा। बहुसंख्यक सामान्य संगीतप्रेमी श्रोतागण और जानकार भी उनसे तराना सुनने के लिये उत्सुक रहते। उनके जैसी त्रिवट भी शायद ही कभी सुनने मिलती। गायन में जब उनके सुपुत्र श्री नारायणराव का साथ रहता तब गायन और भी अधिक उत्साहपूर्ण व रंग-भरा हो जाता। ग्रामोफोन रिकार्डों और आकाशवाणी संग्रहालय में सुरक्षित प्रचुर ध्वनिमुद्रण के रूप में उनकी गायनकला भविष्यकाल में भी उपलब्ध रहेगी।

यहां श्री विनायकराव जी के साथ वार्तालाप के कुछ संस्मरण मन में उभर रहे हैं जिनके द्वारा उनके व्यक्तित्व के कुछ आंतरिक पहलुओं की झलक मिलती है। सन १९५४ में रूस और अन्य युरोपीय देशों में भेजे गये [संभवतः यह पहला ही सांस्कृतिक मंडल था विदेशों में भेजा जानेवाला] सांस्कृतिक मंडल के एक वरिष्ठ कलाकार-सदस्य के रूप में श्री विनायकराव जी थे। सदस्य कलाकारों के अभिनंदन-समारोह के दौरान मैंने बुवासाहेब से कहा, "आप लोग तो भारत के सांस्कृतिक राजदूत [cultural ambassadors] के रूप में विदेश जा रहे हैं, यह मैं हमारे संगीत का और आपका सम्मान समझती हूं और आपका हार्दिक अभिनंदन करती हूं।" एक प्रकार की संतुष्टि और विनम्रताभरी मुसकान के साथ वे बोले, "हां, सम्मान तो है, पर यह मेरा नहीं, जिन गुरुवर के चरणों में बैठकर मैंने संगीत के साथसाथ शुद्ध और अनुशासित आचरण का भी शास्त्र सीखा उन्हींका यह सम्मान

मैं मानता हूं। और, भारत का प्रतिनिधित्व करना भी एक बड़ी जिम्मेदारी मैं मानता हूं, उसे अपनी कला के प्रदर्शन और अपने आचार-व्यवहार के द्वारा निभाना है। भारत की शान हमारे द्वारा बढ़नी चाहिए, उसमें कोई कमी न आए इस बारे में मुझे सतर्क रहना पड़ेगा।"

राग नारायणी के बारे में मैंने उनसे पूछा था, "बुवासाहेब, नारायणी में आपने सारंग अंग बताया है और इसी आधार पर दिन में दोपहर का समय इस राग के लिये उपयुक्त बताया है, पर सारंग तो नारायणी में दीखता ही नहीं, बल्कि पूर्वांग में बिलावल मेल के दुर्गा की और उत्तरांग में अवरोह में सूरदासी मलार की – जैसा कि आपने भी बताया है – झलक स्पष्ट दिखाई देती है ऐसा मुझे लगता है, कृपया इस विषय में समझाएं। तो कुछ सोचकर बोले, "मेरे मन में जैसा रूप उभारा वैसा मैंने बताया; पर तुम [मराठी में तुम्ही] कहती हो उसमें कुछ तथ्य दीखता है, मैं सोचूंगा।"

जब वे आयु के सत्तर वर्ष पूरे करने को हुवे [संभवतः १९६७ या ६८ में] तो विनायकराव जी ने पुणे छोड़कर मिरज में रहकर अपना विद्यादान का कार्यक्रम चलाने का निश्चय किया। उस समय आकाशवाणी के महानिदेशक को पत्र लिखकर उन्होंने सूचित किया कि अतःपर उन्हें रेड़ियो पर नियमित, सामान्य कार्यक्रमों के लिये न बुलाया जाए। हां, कोई राष्ट्रीय कार्यक्रम या ऐसा ही महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम हो तो वे अवश्य स्वीकार करेंगे। भारतीय संस्कृति की प्राचीन मान्यताओं के अनुसार हम कह सकते हैं कि विनायकराव जी ने स्वेच्छा से निवृत्तिपरक होकर, तामझाम, अधिक ख्याति, अधिक धन इत्यादि से मुंह मोड़कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया, जो किसी भी यशख्यातिप्राप्त व्यक्ति के लिए कठिन है। आज के युग में तो ऐसा उदाहरण बहुत ही दुर्लभ है।

इसके पश्चात् सन १९७२ में पंडित विष्णु दिगंबर जी के देशव्यापी शताब्दी समारोह में श्री विनायकराव जी ने रेड़ियो केंद्रों पर और अन्य संस्थाओं में भी कार्यक्रम किये, वक्तव्य भी दिये। दिल्ली रेड़ियो से उन्होंने अपने गुरुबंधु पंडित नारायणराव व्यास के साथ जुगलबंदी का भी कार्यक्रम दिया। ये सब अपने आपमें एक मिसाल हैं।

भारतीय संगीत के पावन नादमंदिर में संगीतचूडामणि पं. विनायक नारायण पटवर्धन जी का ओजपूर्ण स्वरलयविलास, उनका असामान्य व्यक्तित्व एवं उनका बहुमुखी जीवनकार्य, सदा झंकृत होता रहेगा, आनेवाले संगीत-सेवियों का मार्गदर्शक रहेगा इसमें संदेह नहीं।

ग्वालियर घराने के नायक पद्मभूषण पं. विनायकराव

पं. वसंतराव राजोपाध्ये

[पं. वसंतराव राजोपाध्ये ग्वालियर घराने के बुजुर्ग गायक, मान्यवर संगीतवेत्ता, रचनाकार और संगठनकुशल कार्यकर्ता हैं। पं. विनायकराव जी के गुरुबंधु पं. नारायणराव व्यास से संगीत-शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत आपने संगीत-प्रशिक्षण और संगीत-प्रसार में अपना समस्त समय समर्पित किया। गांधर्व महाविद्यालय मंडल से आपका आरंभ से ही अत्यंत घनिष्ठ संबंध रहा है। पं. विनायकराव जी के कार्य एवं कर्तृत्व को आपने बहुत निकट से देखा है।]

पं. विनायकराव पटवर्धन जी का स्वर्गवास हुए एक तप बीत रहा है किंतु उनकी कीर्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी है। महान आत्माओं की यही विशेषता होती है। मृत्यु के उपरांत भी उनकी महानता का प्रभाव अक्षुण्ण ही रहता है। पं. विनायकराव जी ने ग्लालियर घराने के प्रथम श्रेणी के गायक की हैसियत से अपार ख्याति प्राप्त की थी। उनके रसिक श्रोताओं और शिष्यों की यादगार में उनका यह सांगीतिक व्यक्तित्व अविकल रहा है।

पं. विनायकराव जी पं. विष्णु दिगंबर जी के अत्यंत प्रिय शिष्यों में थे। शिष्य के रूप में विनायक की विशेष चमक देखकर पंडित जी को यह विश्वास हो गया था कि यह शिष्य संगीत–प्रसार का मेरा काम भलीभांति आगे चलाएगा। परंतु उनकी कल्पना के विपरीत जब विनायकराव जी गंधर्व नाटक मंडली में गायक–अभिनेता बन गए तब उन्हें बहुत दुख हुआ। तथापि दस ही वर्ष के अंदर विनायकराव जी नाट्य-क्षेत्र से अलग हो गए और पुणे में उन्होंने गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना की। यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि विनायकराव जी नाटक कंपनी में थे, तथापि उनके व्यक्तित्व का केंद्रीय बिंदु संगीत-अध्यापक का ही था। नाटक कंपनी में रहते हुए भी उन्होंने

विष्णु घाग और जनार्दन मराठे इन युवकों को संगीत सिखाया। ये दोनों इतने तैयार हो गए कि उन्होंने आगे अपना स्वतंत्र 'गंधर्व विद्यालय' ही खोल लिया।

१९३२ में पंडित विनायकराव जी ने अपना गांधर्व महाविद्यालय स्थापित किया और चंद ही दिनों में विपुल संख्या में छात्रगण उसकी ओर आकृष्ट हो गए। इसमें समाज के अलग अलग स्तबकों के लड़के और लड़कियां शामिल थे। इतना ही नहीं बल्कि व्यवसाय के नाते संगीत की शिक्षा पाने के हेतु भारत के सभी भागों से छात्र पुणे के इस महाविद्यालय में दाखिल होने लगे। कुछ दिनों बाद विनायकराव जी का विद्यालय जमखिंडीकर भवन में स्थलांतरित हुआ। वहां गुरुसमेत छात्रों के भी निवास की व्यवस्था हो गयी। विद्यालय एक गुरुकुल बन गया, जिससे आवासी छात्रों की संख्या भी बढ़ने लगी। आंध्र, कर्नाटक, पंजाब, गुजरात इत्यादि राज्यों से अनेक विद्यार्थी पंडित जी के गांधर्व महाविद्यालय में सीखकर तैयार हो गए और अपने गांव जाकर संगीत-प्रशिक्षण के कार्य में लग गए। ध्यान देने की बात है कि एक जमाना था जब कि महाराष्ट्र से तथा हिंदीतर अन्य प्रदेशों से संगीत-विद्या-प्राप्ति के लिए विद्यार्थी ग्वालियर की ओर दौड़ पड़ते थे। ग्वालियर का 'वह' स्थान अब पुणे के गांधर्व महाविद्यालय ने ग्रहण कर लिया। इस तरह 'बुवासाहेब' के गांधर्व महाविद्यालय का देशभर में नाम हो गया।

'बुवासाहेब' अध्ययनशील और साथ ही चिंतनशील भी थे। उनकी इसी स्वभावविशेषता के फलस्वरूप उनके हाथों शास्त्रीय संगीत की 'राग-विज्ञान' ग्रंथ-माला का निर्माण हुआ। शुरू में गांधर्व महाविद्यालय की विशारद-अलंकार परीक्षाओं के लिए उन्होंने ये पुस्तकें लिखीं और 'राग-विज्ञान' के अगले खंडों में अनेक अप्रचलित रागों की शास्त्रीय जानकारी और बंदिशें उन्होंने दीं। राग-विज्ञान के ये सात खंड संगीत अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। और उल्लेखनीय यह है कि 'बुवासाहेब' को 'पद्मभूषण' उपाधि प्राप्त होने में इन पुस्तकों का बहुत बड़ा हाथ है।

१९३२ से लेकर संगीत के क्षेत्र में संगीत-परिषदों का दौर आ गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से प्रत्येक परिषद के लिए 'बुवासाहेब' निमंत्रित होते थे। उनके गायन पर उत्तर भारत के श्रोता बहुत ही संतुष्ट रहते थे और खासकर उनके तराने पर। तराने में उनका अतिद्रुत लय में 'दिर दिर' तो श्रवणीय रहता ही था, किंतु उससे बढ़कर द्रुत लय में भी अक्षरों का सुस्पष्ट उच्चारण रसिकों को मोहित कर देता था। 'बुवासाहेब' प्रधानतः 'ख्यालिए' ही थे। अपनी बैठकों में वे खयाल के साथ ही सूरदास, मीरा, नानक वगैरह संतों के भजन भी रागदारी अंग से प्रस्तुत करते। उनका 'जोगी मत जा' का भजन तो इतना लोकप्रिय हो गया था कि पंडित विनायकराव याने 'जोगी मत जा' ऐसा समीकरण ही स्थापित हो गया था।

पंडित विनायकराव जी ने अपने गुरु के समान ही गायकों की एक दूसरी पीढ़ी का निर्माण किया है। उनका अनुशासन बहुत कठोर था। उससे उनके पुत्र-शिष्य भी नहीं बच सकते थे। बुवासाहब के शिष्यों में विनयचंद्र (दिल्ली), स. भ. देशपांडे (हैद्राबाद), वि. रा. आठवले (अहमदाबाद), लक्ष्मणराव केलकर (वाई) इत्यादि गुरुकुल से निकले हुए शिष्यगण आज प्रसिद्धि के प्रकाश में चमक रहे है। बुवासाहब के सुपुत्र नारायण और मधुसूदन भी उत्कृष्ट गायक हैं। तथापि बुवासाहब का महत्त्वपूर्ण योगदान कोई हो तो वह यह कि उन्होंने श्री डी. वी. पलुसकर को बहुत मनोयोग से संगीत-विद्या प्रदान की। अपने गुरु से उन्हें जो जो प्राप्त हुआ था, वह सब का सब उन्होंने गुरुपुत्र को दे दिया। और यह सब किया गुरु के ऋण से उऋण होने की कर्तव्यात्मक भावना से प्रेरित होकर। जब बापू (डी. वी.) तैयार होकर गाने लगा तब ऐसा प्रतीत होने लगा कि ये तो 'बुवासाहब' ही गा रहे हैं। गुरुऋण का लिहाज रखने का मानसिक संतोष बुवासाहब को निश्चय ही प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि आगे चलकर बापू की तैयारी इतनी हो गयी कि वह गुरु के साथ संगीत-परिषदों में समान स्तर पर चमकने लगा।

जिद्दीपन बुवासाहब के स्वभाव का एक विशेष गुण था। दो-एक उदाहरणों से इसकी झलक मिल सकती है। प्रो. बी. आर. देवधर जी ने पुणे में अप्रसिद्ध रागों पर सप्रयोग भाषण दिए। तब हवा कुछ ऐसी बन गयी कि ऐसे अनूठे राग सिर्फ देवधर जी के पास ही हैं। अध्ययनशील और जिद्दी बुवासाहब के लिए यह बात चुनौती के समान लगी ! फिर उन्होंने प्रतिवर्ष गुरुपूर्णिमा के अवसर पर एकेक अनूठे राग का परिपूर्ण अध्ययन करके उसे गाकर गुरुचरणों में समर्पित करने का उपक्रम अनेक वर्षों तक चलाया। उनका जिद्दीपन उनके महफिली गायन में भी प्रकट होता। महफिल में वे बहुत मन लगाकर गाते। एक बार बंबई के कावसजी जहांगीर हॉल में सबेरे की महफिल में उन्होंने ऐसा रंग जमाया कि उनके सामने और सभी गायन-वादन एकदम फीके महसूस हुए। किसीका भी रंग जम नहीं सका।

बुवासाहब की आवाज बुलंद, ऊंची और पाटदार थी। सफेद चार के नीचे वे कभी गाते ही नहीं थे। एक बैठक में उनकी बुलंद आवाज सुनकर एक श्रोता ने लाउड स्पीकर को मंद करने को कहा तब संयोजकों ने बताया कि स्पीकर तो कभी का 'फेल' हो चुका है। ऐसी बुलंद उनकी आवाज थी।

किसी कारणवश बुवासाहब का पं. नारायणराव व्यास जी से मतभेद हुआ, जो परले सिरे को पहुंचा। यहां तक कि हर समय 'व्यास भुवन' में ही ठहरनेवाले बुवासाहब अन्यत्र ठहरने लगे। उन दोनों की दिलजमाई करने का एक उपाय हम शिष्य लोगों नें ढूंढा और वह कारगर सिद्ध हुआ। हमने बुवासाहब को पं. विष्णु

दिगंबर के पुण्यदिवस समारोह के लिए निमंत्रित किया। वे आए और व्यास जी के साथ उनका जुगलबंदी का कार्यक्रम हुआ और तब से उन दोनों की जुगलबंदी के अनेक कार्यक्रम आगे होते रहे।

बुवासाहब में स्वभावदोष भी कम नहीं थे। किंतु उसका विचार न करते हुए उन्होंने संगीत के क्षेत्र में जो बहुमूल्य कार्य किया है उसीका स्मरण करना उचित होगा, ग्वालियर घराने के एक प्रभावी गायक तथा निष्ठापूर्वक विद्यादान करनेवाले गुरु के रूप में विनायकराव जी का स्मरण सबको चिरकाल तक रहेगा।

पंचम विभाग

संस्मरण – सुगंध

संस्मरण – सुगंध

(मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी)

१. महफिली गायक

श्री. दत्तोपंत राऊत, पुणे

अधूनमधून पं. विनायकबुवा पटवर्धन हे मला तबल्याच्या साथीसाठी बोलावीत असत. त्यांचे गायन म्हणजे अगदी लयबद्ध. त्यामुळे माझ्या वादनात लयबद्धता आली. त्यांचे तराणा-गायन म्हणजे तबला-वादकाची कसोटीच असे. मी त्या कसोटीस उतरलो.

बुवांच्या बरोबर प्रवास करण्यात निराळाच आनंद असे. ते आमच्याशी वागताना कोणत्याही प्रकारचा भेदभाव ठेवीत नसत. जेथे ते स्वतः उतरत असत, तेथेच आमची व्यवस्था करवून घेत असत. कोणत्याही प्रकारची गैरसोय होऊ देत नसत. मात्र त्यांचा एकच कटाक्ष असे. तो म्हणजे साथीदार निर्व्यसनी असला पाहिजे. त्या कसोटीस मी पूर्णपणे उतरलो. त्यांच्याबरोबर प्रवास करण्यात मला काशीविश्वेश्वराचे दर्शन झाले, हे मी माझे मोठे भाग्य समजतो.

श्री. बलवन्तराय जसवाल, लुधियाना

एक बार लुधियाना में Government College for Women में पंडितजी के कार्यक्रम के बीच में ही बिजली फेल हो गयी। हमें आश्चर्य इस बात का हुआ कि बिजली फेल होने पर भी पंडितजी के कार्यक्रम में कोई अंतर न पडा। और न ही श्रोताओं में कोई हलचल हुई। कार्यक्रम यथापूर्व चलता रहा। श्रोतावर्ग मन्त्रमुग्ध होकर बैठा रहा। कितना प्रभावशाली था उनका गाना!

तराना गाते समय अति द्रुत लय में ‘दिर दिर’ बोलने का विचार कहां से

आया, यह पूछनेपर मुझे पंडितजी ने बताया कि स्व. पं. विष्णु दिगंबर जी 'राम राम' गाया करत थे। अंत में अति द्रुत गति में ले जाते थे। उसीसे प्रेरणा मिली।"

पं. वसंतराव गोसावी, कल्याण

उज्जैन येथील मिलमध्ये कामगारांसमोर गणेशोत्सवानिमित्त बुवांचा कार्यक्रम होता. लागोपाठ झालेल्या कार्यक्रमांमुळे आवाज बसला होता. पण आत्मविश्वास दांडगा होता. थोडा स्वर कमी ठेवून गाणे सुरू केले. आवाज लागू लागला. गाणे रंगू लागले. त्यानंतर पांढरी चार स्वर घेऊन गाणे सुरू झाले. गाणे अप्रतिम झाले. श्रोत्यांमध्ये रामूभैया दाते होते. ते खूष झाले. रात्री १० ते २ पर्यंत गाणे झाले. दुसऱ्या दिवशी मिलचे मॅनेजर म्हणाले, "आज मिलमधील प्रत्येक यंत्राजवळ 'गिरिधर आगे नाचूंगी चालू आहे!" केवढा प्रभाव! केवढा चमत्कार!

२. निःस्वार्थ गानसेवा, संगीत का प्रचार

पं. त्रिं. द. जानोरीकर, पुणे

१९४८ साली माझ्या विद्यालयाचे उद्घाटन बुवांनी केले. तसेच 'यंग स्टार्स' नावाचा ऑर्केस्ट्रा मी काढला होता. त्याचे उद्घाटन बुवांनीच केले. परीक्षक म्हणून बुवांनी मला अनेक वेळा बोलावले आहे आणि मानाने 'वागवले' आहे. त्यांच्या प्रयोगशीलतेची एक आठवण सांगण्यासारखी आहे. विष्णु दिगंबर संगीत विद्यालयात श्री. वसंतराव देवकुळे यांच्या साह्याने तोडी व मल्हार या रागांचे श्रोत्यांवर काय परिणाम होतात, ते पाहण्यासाठी फॉर्म तयार केले होते. राग ऐकून श्रोत्यांनी आपली प्रतिक्रिया त्यावर नोंदवावयाची असे. भीमसेन जोशी, प्रल्हादबुवा जोशी, राम मराठे, ते स्वतः व मी यांना त्यांनी बोलावले. त्याचा निष्कर्ष असा निघाला की, तोडी राग मनाच्या एकाग्रतेसाठी फार उपयुक्त असून मल्हार रागाचा परिणाम वर्षाऋतू आणि पावसाळी वातावरणासाठी नक्कीच होतो. एक गोष्ट नक्की सिद्ध झाली की, रागांत रस आहे.

१९४५ साली मी अहमदनगर येथे विष्णु दिगंबरांची २४ तासांची पुण्यतिथी साजरी केली. पहाटे पाच वाजल्यापासून दुसऱ्या दिवशी पहाटे पाच वाजेपर्यंत अखंड गायनाचा कार्यक्रम सादर केला होता. या कार्यक्रमात बुवा रात्री ११ ते पहाटे पाच वाजेपर्यंत अखंड गायिले! याशिवाय दुसऱ्या एका पुण्यतिथीच्या वेळी बुवांचा आवाज बसल्यामुळे ते गाऊ शकले नाहीत त्या वेळी त्यांना रडू कोसळल्याचे मी स्वतः पाहिले आहे.

श्री. आर. डी. धनोपिया, जबलपूर

(१) सन १९३२ में जबलपुर शहर में संगीत समाज नामक संस्था का उद्घाटन पंडित विनायकरावजी के करकमलों द्वारा हुआ था और उस अवसर पर आपका गाने का सुश्राव्य कार्यक्रम भी संपन्न हुआ था। सन १९६० में इसी संस्था में आपका सत्कार भी संपन्न हुआ जिस में संगीत समाज द्वारा आप को अभिनंदन-पत्र भी प्रदान किया गया।

(२) संगीत समाज के तत्त्वावधान में आयोजित संगीत परिषद में पंडित जी हमें अतिथी कलाकार के रूप में उपलब्ध हुए। इसी अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में आपने आधुनिक गायकों की उन बातों पर प्रकाश डाला जिनसे संगीत की शुद्धता पर बुरा असर पडता था। जैसे सरगम लेते समय स्वर उच्चार में कृत्रिम ढंग अपनाना जिससे स्वर की शुद्धता न आवे, या अति आंदोलित करने पर स्थानभ्रष्ट स्वर आवे, आदि बातों को क्रियात्मक ढगसे गाकर दिखाया गया।

(३) आप का सादा एवं विनोदी स्वभाव, सात्त्विक विचारधारा, सात्त्विक शाकाहारी भोजन, भारतीय संस्कृति से संबंधित वेषभूषा, स्वावलंबित्व, दूसरों से सेवा न लेने की आदत, उज्ज्वल चरित्र, कला के प्रति स्वाभिमान, परोपकारी दिनचर्या, ये सभी गुण मानो पूज्य बापू के सिद्धान्तों की छाप दिखाते थे। संगीत कलाकार का जीवन कितना व्यवस्थित होना चाहिये यह आप में विद्यमान था। संगीत कला से मानव मोक्ष प्राप्ती कर सकता है यह सिद्धान्त आप ने अपने उत्तमवाग्गेयकार गुण के आधार से सिद्ध कर दिखाया।

(४) आप जबलपुर में परीक्षक के रूपमें भी हमें प्राप्त हुए। स्थानीय सिटी कालेज में बी.ए. संगीत की परीक्षा लेने के लिए पधारे। सितार की परीक्षा आप को लेनी थी। आप कंठ संगीत के कलाकार होने पर भी सितार की परीक्षा आप कैसे लेंगे, यह देखने को लोग उत्सुक थे। लेकिन सब लोग आश्चर्यचकित हुए जब आपने सितार के समस्त बोलों को अपने कंठ से निकाला और सितार की गत भी गा कर बताई। आपने यह दिखा दिया की वादन पर भी आप का उतनाही अधिकार है। परीक्षा के समय एक विद्यार्थी ने गाना शुरू करने के बाद कुछ ही देर में आपने पूछा की क्या यह विद्यार्थी हारमोनियम बजाकर अभ्यास करता है? और वह बात सच निकली!

पं. राजाभाऊ कोगजे, नागपूर

एकदा बुवा मॉरिस कॉलेजमध्ये नागपुर विद्यापीठातर्फे एम. ए. च्या प्रात्यक्षिक गायन परीक्षा घेण्यास आले होते. मी त्यांच्याबरोबर इंटर्नल परीक्षक म्हणून काम करीत होतो. काही विद्यार्थी यथातथाच होते. रागांची शास्त्रोक्तताही त्यांना सांभाळत

येत नव्हती. मेहनत दिसत नव्हती, हे उघड सत्य होते. बुवा मला म्हणाले, "काय रे, यांच्याकडे लक्ष पुरवता आले नाही का?" मी म्हणालो, "परिश्रम करणारे विद्यार्थी आता दुर्मिळ झाले आहेत. कोणावर रागवता येत नाही. अनेक बंधने आहेत. गैरहजर राहणारे विद्यार्थी, लग्न होण्या अगोदर काही तरी शिकायचे म्हणून शिकणाऱ्या विद्यार्थिनी, यांच्यापुढे मी काय करणार? आपण भाग्यवान म्हणून आपणास चांगले विद्यार्थी लाभले!" यावर बुवा मोठ्याने हसले आणि म्हणाले, "अरे, या सर्वांतून मी गेलो आहे. तू प्रामाणिकपणे प्रयत्न करीत आहेस ना? यश देणे देवाच्या हातात. चिकाटी सोडू नकोस." यावरून बुवांचा दैववादापेक्षा प्रयत्नवादावर जास्त विश्वास होता, हे दिसून येते.

श्री. यशवंत श्रीधर मराठे, पुणे

माझ्या वर्गातील काही विद्यार्थी संगीत प्रवीणचा अभ्यास करीत होते. त्यातील काही राग मला येत नव्हते. म्हणून माझे मित्र मुकुंदराव गोखले यांच्याकडून मी त्या रागांची तालीम घेण्यास सुरुवात केली. पण त्यांचेही काही रागांच्याबाबत विस्मरण झाले होते. तरीसुद्धा केवळ माझ्यासाठी ते विनायकबुवांच्याकडे जाऊन शिकत होते, व नंतर मला सांगत होते. एकदा विनायकबुवांनी त्यांना विचारले की हे राग तुम्ही कोणाला शिकवता आहात? तेव्हा मुकुंदरावांनी माझे नाव सांगितले. पण तरीही विनायकबुवांनी कसलेही आढेवेढे न घेता, खाचाखोचा न लपविता, शुद्ध अंतःकरणाने राग मुकुंदरावांना सांगितले. असे औदार्य फारच थोड्या कलाकारांकडे असते.

श्रीमती शकुंतला कृष्णराव पळसोकर, अकोला

(१) सन १९५३ मध्ये माझी बुलढाणा येथील सरकारी नॉर्मल स्कूलमध्ये संगीत शिक्षिका म्हणून नेमणूक झाली. विद्यार्थ्यांना शिकवताना मी माझे गुरू पं. विनायकबुवा पटवर्धन यांचे वर्णन करी. तेव्हा विद्यार्थी म्हणत, "बाई, तुमचे गुरू आमाले दिसतील काय? आवतण द्या ना बाई गुरूले." मी बुवांना कार्यक्रम मागितला. बुवांनी स्वीकारला. त्याप्रमाणे बुवा साथीदारांसह हजर झाले. गाणे अतिशय उत्तम झाले. बुवांना आम्ही फुलाची पाकळी नव्हे, पाकळीचा १/४ भाग दिला. बुवांनी ती बिदागी शाळेला भेट म्हणून दिली आणि त्यातून विष्णु दिगंबरांच्या नावाने शास्त्रीय संगीताच्या स्पर्धा ठेवण्यास सांगितले.

(२) १९५७–५८ ची गोष्ट. अकोल्यात बेसिक ट्रेनिंग कॉलेजमध्ये कार्यक्रम होता. प्रिन्सिपॉल श्री. पु. गो. निजसुरे हे लंडन रिटर्न्ड गृहस्थ होते. ते म्हणाले, "गाणारे लोक तंबोऱ्याचे कान पिळणे, तबला, डग्गा ठोकणे यात फार वेळ घालवतात. वेळेवर

कार्यक्रम सुरू करीत नाहीत. ठीक ९ ला गाणे सुरू झाले, तरच मी बसेन." इतके ते वेळेच्या बाबतीत काटेकोर होते. पण विनायकबुवा त्याहीपेक्षा जास्त काटेकोर होते. बुवांनी अगोदर हॉलमध्ये येऊन, वाद्ये मिळवून ९ ला तीन मिनिटे कमी असतानाच 'सा' लावला! तेव्हा निजसुरे साहेब खूष झाले. त्यांनी उद्गार काढले, "बुवा खरे गायक, शिक्षक आणि पंडित आहेत."

(३) १९५९ साली बी. टी. कॉलेज, अकोला, येथे बुवांचे भाषण ठेवले होते. मला 'शाकुंतल' नाटकाचे पुस्तक आणण्यास सांगितले. मी पुस्तक आणण्यासाठी गेले तेव्हा प्रिन्सिपॉल मुंजे साहेब म्हणाले, "पुस्तक कशाला? गवई ते काय बोलणार?" पण भाषण सुरू झाल्यावर अस्खलितपणे तीन तास बुवा बोलले. भाषण अतिशय उत्तम झाले. श्री. मुंजेसाहेब म्हणाले, "गाण्यात जसा जोम आहे, वजनदारपणा आहे, तसा भाषणातही आहे."

प्रा. वि. दा. घाटे, पुणे

(१) संगीताचा प्रसार करावयाचा तर त्यातील चिजा चांगल्या अर्थाच्या असल्या पाहिजेत. चांगल्या घरंदाज स्त्रीपुरुषांना गाणे शिकवायचे तर अश्लील अर्थाच्या चिजा वगळल्या पाहिजेत. यासाठी त्यांनी संतकवींची योग्य कवने निवडून ती निरनिराळ्या रागांत बसवून शिकवण्यास सुरुवात केली. त्यामुळे या चिजा शिकवताना कोणत्याही प्रकारचा संकोच निर्माण होत नसे. त्याचबरोबर मराठी भाषेतही त्यांनी उत्तमोत्तम पदे व ख्यालही निरनिराळ्या कवींकडून तयार करून घेतले. उदा. तव सुधा मन प्याले (ख्याल, जयजयवंती); सुधा धवला चंद्रिका (ख्याल, दरबारी कानडा). याशिवाय क्रमिक पुस्तकांतही त्यांनी पदे तयार करून समाविष्ट केली. ती अजून 'बालसंगीत' पुस्तकात आहेत.

(२) त्यांची शिकवण्याची पद्धत अशी सर्वांगीण व परिपूर्ण होती की मला आयुष्यात दुसऱ्या कोणाकडेही शिकण्याची इच्छा झाली नाही. उत्कृष्ट स्वरज्ञान, नोटेशनची उत्तम माहिती, डोळस ज्ञान इत्यादी वैशिष्ट्यांमुळे विद्यार्थी स्वयंपूर्ण होतो. आपल्या बुद्धीने तो ज्ञानात भर घालू शकतो. शिकवण्यामुळे ज्ञान अधिक पक्के होते. शिकणे आणि शिकवणे यामुळे विद्यार्थी परिपूर्ण होतो.

श्री. श्री. रा. पेंडसे, पुणे

एका गावी संगीत संमेलनासाठी बुवा गेले होते. मी तंबोऱ्याच्या साथीसाठी बरोबर होतो. आम्ही एक दिवस आधी पोचलो. तेव्हा तेथील मुलींच्या शाळेच्या लेडी सुपरिंटेंडंट त्यांना भेटल्या आणि म्हणाल्या, "आमच्या मॅट्रिकच्या विद्यार्थिनींना आपण

संगीताबद्दल चार शब्द सांगावेत अशी आमची सर्वांची इच्छा आहे." बुवांनी मान्य केले व वेळ दिली. त्याप्रमाणे बुवांनी संस्थेत हिंदीत उत्कृष्ट भाषण केले. पहिल्या वाक्यालाच त्यांनी टाळ्या घेतल्या. ते वाक्य असे– "मुलींनो, गायन हे तुमचेच आहे, कारण तुमच्या कानावर पहिले संगीताचे मधुर व प्रेमळ स्वर आईचेच पडतात." नंतर त्यांनी संगीतासंबंधी इतर उपयुक्त माहिती सांगितली आणि भाषण पूर्ण केले. भाषण सर्वांना फार आवडले.

श्री. भा. चिं. दामले, अहमदाबाद

उत्कृष्ट गायक, संगीत शिक्षक, उत्तम वक्ते, लेखक, नट, संगीत प्रचारक, कट्टर टिळकभक्त, गुरुभक्त, धाडसी निर्धारशक्ती असलेले, देवोपासक वक्तशीर, अशा अनेक गुणांनी युक्त असे त्यांचे अष्टपैलू कर्तृत्व होते. विष्णु दिगंबरांच्या देहावसानानंतर पुण्यात गांधर्व महाविद्यालय स्थापन करून त्यांनी संगीताची मोठी सेवा केली. अखिल भारतीय कार्यक्रम करून त्यांनी तरुणांना गाणे शिकण्यासाठी आकृष्ट केले. असे विद्यार्थी अखिल भारतातून पुण्यास गाणे शिकण्यासाठी येत असत. मी त्यांतलाच एक आहे.

श्री. श्रीकृष्ण तळवलकर, पुणे

मी पं. गोविंदराव देसाई यांचा शिष्य. परंतु पं. विनायकबुवांच्याबद्दलही माझ्या मनात फार आदराची भावना होती. त्यांच्याकडून काही शिक्षण घ्यावे ही इच्छाही होती. म्हणून मी गांधर्व महाविद्यालयात दाखल झालो. बुवांनी माझ्या आवाजाबद्दल फार प्रशंसा केली व स्वतः काही राग शिकवले. परंतु मला फार शिक्षण घेता आले नाही. १९५३ साली माझ्या क्लासच्या वार्षिक समारंभास अध्यक्ष म्हणून आले. माझ्या क्लासमध्ये स्वतः येऊन विद्यार्थ्यांच्या परीक्षा घेतल्या. माझ्या मुलाच्या मुंजीस उपस्थित राहिले. विष्णु दिगंबर पलुसकर जन्मशताब्दी उत्सवात मला गाण्याची संधी दिली व स्वतः उपस्थित राहून माझे गाणे ऐकले.

श्री. शिवरामबुवा दिवेकर, हिंदगंधर्व, पुणे

पं. विनायकबुवा पटवर्धन हे सौभद्रातील अर्जुनाची भूमिका शिकण्यासाठी माझे वडील श्री. चिंतोबा गुरव यांच्याकडे येत असत. तसेच रागविज्ञान या त्यांच्या पुस्तकमालेतील काही चिजा माझ्या वडिलांच्याकडून घेतलेल्या आहेत, अशी माझी आठवण आहे.

श्री. स. भ. देशपांडे, औरंगाबाद

सन १९३६ किंवा ३७ ची आठवण आहे. पं. विनायकराव यांचा अमृतसरच्या 'दुर्ग्याना' मंदिराच्या उत्सवात गाण्याचा कार्यक्रम ठरला होता. त्यांनी मला साथीसाठी

बरोबर नेले होते. मंदिरासमोरच्या प्रशस्त मैदानात पाच हजार लोक बसतील एवढा मंडप घालण्यात आला होता. त्यांच्या जीवनातील तो सुवर्णकाळ होता. श्रेष्ठ गायक म्हणून त्यांचे नाव अखिल भारतात दुमदुमत होते. 'जोगी मत जा' या गीताने उत्तर भारताला मुग्ध करून टाकले होते. दुर्ग्याना मंदिरातील कार्यक्रमही अतिशय रंगला. 'जोगी मत जा'च्या धुंदीतच सहासात हजार श्रोते आपापल्या घरी गेले.

दुसऱ्या दिवशी मी बुवांना म्हणालो, "येथील सुवर्णमंदिर बघण्याची इच्छा आहे. जाऊन येऊ का?" बुवा म्हणाले, "तुम्ही नवीन आहात. रस्ता चुकाल. चला, मी येतो तुमच्या बरोबर." त्याप्रमाणे आम्ही बाहेर पडलो. सुवर्ण मंदिर पाहिले. बुवा स्वतः मला सर्व माहिती सांगत होते. मुख्य मंदिरात ग्रंथसाहेबांस नमस्कार करून आम्ही प्रदक्षिणा घालू लागलो. त्या वेळी काही लोकांनी बुवांना ओळखले आणि मुख्य जथ्थेदारास सांगितले "यही विनायकराव पटवर्धनजी हैं जिनका कल दुर्ग्याना मंदिर में अच्छा कार्यक्रम हुआ।" आमची प्रदक्षिणा पूर्ण करून आम्ही मुख्य गाभाऱ्यात येताच मुख्य जथ्थेदार पंडितजींना म्हणाले, "आप का कल का कार्यक्रम बहुत ही अच्छा हुआ। प्रार्थना है कि आप यहां ग्रंथसाहब के सम्मुख एखाद भजन गाइएगा।" दुसरा एखादा गवई असता तर त्याने अनेक सबबी सांगून गाण्याचे टाळले असते. पण पंडितजी क्षणाचाही विचार न करता गाण्यास तयार झाले. तेथील हार्मोनियम स्वतः घेतली, तबला वाजविण्यास मला सांगितले आणि "साधो मन का मान त्यागो" हे भजन अत्यंत भावपूर्ण रीतीने गाण्यास सुरुवात केली. क्षणर्धात सर्व मंदिर श्रोत्यांनी भरून गेले. १५–२० मिनिटांत गाणे संपविले. सर्व श्रोते व विशेषतः जथ्थेदार फार प्रभावित झाले. त्यांनी बुवांचा दुसऱ्या दिवशी खालसा इस्टेटमध्ये स्वतंत्र कार्यक्रम करविला आणि भरपूर बिदागीही दिली. धार्मिक प्रवृत्ती, निगर्वीपणा, लोकांच्या इच्छेला मान देण्याची प्रवृत्ती, गुरू नानकाचेच भजन निवडण्यातली समयसूचकता, इत्यादी अनेक गुण यात दिसून येतात. या गुणांमुळेच बुवांना इष्ट लागण्यासारखे यश आयुष्यात मिळू शकले.

श्री. ठाकुर जयदेव सिंह, वाराणसी

मैंने १९२७ में कानपुर संगीत समाज स्थापित किया था और प्रत्येक वर्ष एक अखिल भारतीय संगीत परिषद का आयोजन करता रहा। पं. विनायकराव मेरे पुराने मित्र थे और प्रत्येक वर्ष इस परिषद में वह सम्मिलित होते रहे। केवल फर्स्ट क्लास के टिकट पर आप कानपुर आते थे और अपने मधुर गानसे श्रोताओं को मुग्ध करते थे। उन्होंने कभी परिषद से एक पैसा भी नहीं लिया। मैं आकाशवाणी में गया तो मैंने उन्हें Audition Committee में सम्मिलित किया। वह कमिटी की प्रत्येक

बैठक में आते थे और अपना सहयोग प्रदान करते थे।

वृद्धावस्था में तबीयत अच्छी न होने पर भी उनका गायन पूर्ववत् ही मधुर और प्रभावशाली बना रहा।

Shri Prahlad Chandra Das, Dibrugarh, (Assam)

I was a railway employee, precisely a locomotive engine driver, a job which has no relationship with finer feelings of life. As an accident, I listened to a musical programme in which Guruji sang Khayal and Bhajan. On hearing it, I actually fell in trance. I met Guruji, talked with him and he invited me to Poona to learn music. I also instantly decided to leave the job and everything and accordingly I went to Poona to learn music.

Guruji had a heart of gold with love and sympathy for the poor and down-trodden. He taught the poor disciples free of charge. I also belonged to that category. I must admit that, but for my devotion and menial services, I had nothing to offer to my Guruji. Still he always considered us as members of his family. He trusted in us so much that he used to give us the main keys of the house wherever leaving Poona for other towns.

श्री. पु. रा. पंडित, पुणे

सन १९४० पर्यंत पं. विनायकबुवा गाण्याची बिदागी ठरवत नसत. नुसत्या बोलावण्यावर जात असत व मिळेल ती बिदागी घेत. परंतु पुढे इतर गवई भरपूर पैसे मिळवतात, आणि आपल्यापेक्षा जास्त पैसे मिळवतात, हे पाहून ते बिदागी ठरवू लागले. पूर्वी बाईच्या कोर्टात त्यांचे गाणे झाले, तेव्हा त्यांना रु. १० बिदागी म्हणून दिले होते, हे मला नक्की माहिती आहे!

पैसे कमी किंवा जास्त याचा विचार न करता बुवा मनापासून गात असत. गानदेवतेची त्यांनी कधी थट्टा केली नाही. विद्यार्थ्यांना शिकवितानाही त्यांनी कधी पैशाचा विचार केला नाही. विद्यालयाची फी दरमहा रु. १ ते ३ असतानाही ३०–४० विद्यार्थी मोफत शिकत असत.

३. विद्यादान में दक्षता

पं. राजाभाऊ कोगजे, नागपूर

पं. गु. विनायकबुवा यांच्या तंबोऱ्याच्या साथीसाठी मी व रामभाऊ पटवर्धन सुरतेला गेलो होतो. पं. ओंकारनाथ ठाकूर यांचे बोलावणे होते. गाण्याच्या वेळी आम्ही दोघे यथाशक्ति स्वर देऊन बुवांना मदत करीत होतो. गाणे झाल्यावर ओंकारनाथजी बुवांना म्हणाले, "बुवा, या मुलाचा आवाज पातळ असला तरी, फार गोड असून मुलगा स्वरतालाला चांगला आहे. या मुलात गाण्याची तब्येत आहे. याला उत्तम तयार करा." यावर बुवा म्हणाले, हा मुलगा आपल्याही गाण्याची नक्कल करताना मला दिसून आले आहे. दत्तूच्याही गाण्याचा प्रभाव याच्यावर आहे. शिवाय माझ्याकडे तो शिकतोच आहे. पण याच्या आवाजाची जात लक्षात घेता याने भले माझ्या गाण्याचे अनुकरण करावे. पण माझ्या आवाजाची नक्कल करू नये, हे मी त्याला सतत सांगत आहे. कारण ती भ्रष्ट नक्कल करण्याने तो आपला आवाज बिघडवून घेईल." यावरून बुवा व्हॉइसकल्चरकडेही लक्ष देत असत असत, हे दिसून येते.

सौ. विजयाबाई पेंडसे, पुणे

मी पुण्याच्या अहिल्यादेवी शाळेत शिक्षिका म्हणून काम करीत होते. पं. विनायक-बुवांच्या मुली कमल व मंगल त्याच शाळेत शिकत असत. पण त्यांनी शाळेच्या वार्षिक स्नेहसंमेलनात किंवा इतर समारंभात कधी भाग घेतला नाही. त्यामुळे त्यांच्या गायनाचा लाभ कधी मिळाला नाही. याविषयी त्यांना विचारले असता, त्या म्हणत, "आमच्या वडिलांना आवडत नाही. ते म्हणतात अर्धवट ज्ञानाचे प्रदर्शन नको. खणखणीत नाणे व्हा आणि मग खुशाल गा."

श्री. द. के. आगाशे, पुणे

मी बुवांच्या घरी शिकण्यास जात असताना एकदा मी केदार रागातील ख्यालावर मेहनत करीत बसलो होतो. बुवा आतून माझे गाणे ऐकत होते. ते एकदम बाहेर येऊन म्हणाले, "ख्यालाची सम का बदलली ? धैवतावर सम असताना मध्यमावर का घेतली ?" तेव्हा मी त्यांचे ज्येष्ठ चिरंजीव नारायणराव यांचे नाव सांगितले. बुवा गप्प बसले. नंतर त्यांची व नारायणरावांची चर्चा होऊन मध्यमावरील सम कायम करण्यात आली. तसे शिकविले जाऊ लागले आणि रागविज्ञानाच्या नंतरच्या आवृत्तीत योग्य तो बदल करण्यात आला.

श्री. एम. व्ही. ऊर्फ बंडोपंत सोलापूरकर, पुणे

१९५८ मध्ये माझा आकाशवाणीवर क्लॅरिओनेट वादनाचा कार्यक्रम झाला. मी गौडमल्हार राग वाजविला. कार्यक्रम झाल्यानंतर आकाशवाणीचे म्युझिक प्रोड्यूसर व असिस्टंट म्युझिक प्रोड्यूसर आले आणि मला म्हणाले, "तुम्ही राग गलत वाजविला. गौडमल्हारात तुम्ही दोन निषादांचा वापर का केला ? ते शास्त्राला धरून नाही." मी नंतर माझे गुरुजी पं. नागेश खळीकर यांना भेटलो. नंतर त्यांचे गुरुजी पं. विनायकबुवा म्हणाले, "रेडिओवर तुम्ही कसे वाजविलेत ते मला ऐकवा." त्याप्रमाणे मी त्यांना ऐकवले. स्वतः बुवांनी डग्ग्यावर ठेका धरला होता. माझे वादन झाल्यावर बुवा म्हणाले, "तुम्ही जा. मी आता काय करायचे ते करतो." त्यानंतर बुवा स्वतः रेडिओकेंद्रावर गेले. म्युझिक प्रोड्यूसर साहेबांना म्हणाले "सोलापूरकर काल मला भेटले होते. त्यांचे क्लॅरिओनेट वादन मी ऐकले. ते बरोबर होते. तुम्ही गौडमल्हार कसा गाता, ते मला गाऊन दाखवा. जुन्या परंपरागत चिज़ांत दोन निषादांचा उपयोग आहे, हे मी सिद्ध करून देईन." आकाशवाणीत हे प्रकरण फार गाजले.

पं. नागेश शं. खळीकर, पुणे

'संगीत अलंकार'चे राग अवघड व मिश्र आहेत. पण बुवा ते राग उत्तम प्रकारे समजावून सांगत. पुन्हा पुन्हा म्हणून घेत. चुका समजावून सांगत. त्यामुळे ते अवघड रागही मला उत्तम प्रकारे अवगत झाले. त्याचबरोबर ठुमरी, टप्पा, होरी, इत्यादी उपशास्त्रीय प्रकारांचीही माहिती आम्हास वेळोवेळी सांगितली.

श्री. प्राणलाल शाहा, संगीत अलंकार, अहमदाबाद

गाने का खास अभ्यास करनेवाले विद्यार्थियों से पंडितजी सख्त रियाज की अपेक्षा रखते थे और ऐसे विद्यार्थियों पर खास ध्यान रखते थे। ऐसे विद्यार्थियों को कभी कभी रात को नौ बजने के बाद भी सिखाते थे। ऐसे विद्यार्थियों को गाने सिखाने का तरीका भी बताते और नये संगीत शिक्षकों का निर्माण करते। छोटीसी तनख्वाह देकर विद्यालय के वर्ग उनके हाथों सौंप देते। इससे विद्यार्थी स्वयंपूर्ण बन जाते।

श्री. प्र. अ. गोखले, पुणे

मारवा राग शिकत असताना काही केल्या माझे स्वर चांगले लागेनात. बुवांनी खूप डोकेफोड केली. पण व्यर्थ! शेवटी मला त्यांनी रागाने वर्गाबाहेर काढले! पण त्यामुळेच स्वरांच्या बाबतीत किती काटेकोर असावयास हवे, हे मला समजले.

४. शागिर्दों के पालनहार, मार्गदर्शक

पं. त्रि. द. जानोरीकर, पुणे

(१) १९४९ साली मी अमानअली खां साहेबांच्याकडे शिकायला लागलो, तेव्हा त्यांना फार वाईट वाटले. कारण त्यांना असे नक्की माहिती होते की, जुन्या पिढीतले गवई नुसताच गंडा बांधतात आणि शिकवीत मात्र काही नाहीत. म्हणून काही दिवस त्यांनी माझ्यावर राग धरला होता. पण पुढे जेव्हा त्यांना असे दिसून आले की, खांसाहेब मला खरोखरीच विद्या देत आहेत, तेव्हा त्यांचा राग हळूहळू शांत झाला. इतका की खांसाहेबांच्या पहिल्या पुण्यतिथीला १९५४ साली त्यांच्या २५ चिजांचे नोटेशन प्रसिद्ध करण्याची तयारी त्यांनी दर्शविली होती. विष्णु दिगंबराच्या पुण्यतिथीला दरवर्षी एक नवीन राग बसवून गात असत. अशा वेळी बऱ्याच वेळा त्यांनी नव्या रागाबाबत माझ्याशी चर्चा करीत असत. मृत्यूपूर्वी दोन वर्षे आधी त्यांनी मला विष्णु दिगंबरांच्या पुण्यतिथीच्या वेळी खांसाहेबांनी शिकवलेल्या चिजा व राग गाण्यास सांगितले होते. ते राग व चिजा ऐकून त्यांनी समाधान व्यक्त केले होते.

(२) सन १९६१ साली आलेल्या महापुरात माझे राहते घर व क्लास वाहून गेला. लाइट गेला होता. गिरण्या बंद होत्या. शहरभर अंधार पसरला होता. त्या वेळी बुवांनी श्री. पिंपळखरे यांच्या हस्ते मला, केशवबुवा इंगळे यांना व श्री. भार्गवराम आचरेकर यांना आपल्या घरातून पिठे पाठवून दिली होती. तसेच नंतर मला घरी बोलावून प्रसाद म्हणून एक धोतरजोडी दिली होती. शिवाय आपल्या विद्यालयात मला क्लास चालवण्यास परवानगी दिली. जागेसाठी अडून बसू नका, असे सांगितले. पुरानंतर पंधराच दिवसांनी माझा रेडिओ वर कार्यक्रम झाला त्या वेळी मी अत्यंत अडचणीत व दुःखात होतो. मेहनत नव्हती. तरी बुवांनी तो कार्यक्रम ऐकला आणि तो उत्तम झाला म्हणून मुद्दाम बोलावून घेऊन कौतुक केले. सर्व दुःखांवर संगीत हे कसे रामबाण औषध आहे, हे समजाविले.

(३) एकेदिवशी अमानअली खां साहेबांनी मला निरनिराळ्या रागांतल्या आठ चिजा सांगितल्या. त्या शिकून घेऊन आत्मसात करणे सोपे नव्हते. पण विनायकबुवांनी मला स्वरलेखनाचे जे ज्ञान दिले त्यामुळेच मला ही गोष्ट साध्य झाली. याप्रमाणे बुवांनी मला घडविले आहे. संगीताच्या क्षेत्रात आज जी माझी प्रतिमा आहे, ती तयार होण्यात त्यांचा सिंहाचा वाटा आहे, हे मी प्रांजलपणे मान्य करतो आणि त्याचे श्रेय त्याना देतो.

(४) पं. विनायकरावजी 'गुरु' या संज्ञेस सर्वार्थाने पात्र होते. ते नुसते संगीत-शिक्षक नव्हते. सर्व काही होते. हिमालयासारखे त्यांचे कर्तृत्व होते. असा मनुष्य पुन्हा होणे नाही. धर्माभिमानी होते. स्वतः धार्मिक आचरण करीत होते. आम्हाला गायत्री मंत्राचा जप करण्यास व सूर्यनमस्कार घालण्यास सांगत. कोणत्याही देवस्थानाच्या ठिकाणी गेल्यास तेथे देवाची सेवा केल्याशिवाय परत येत नसत. रामनामाचा जप त्यांनी अखेरपर्यंत केला.

(५) त्या काळी कलावंत सुशिक्षित नसत, पण बुवांना सुशिक्षित विद्यार्थी आवडत. १९४७ साली पतियाला कॉन्फरन्समध्ये मला व रामभाऊ पटवर्धन यांना बुवांनी नेले होते. तेथे त्यांनी माझे स्वतंत्र गाणे ठेवावयाला लावले. आम्हास बरोबरीच्या नात्याने व सन्मानाने वागवीत. मी शिष्य असल्याने साथीचे पैसे देण्याचे कारण नव्हते. पण अल्पशी भेट देत. कधी प्रसाद म्हणून पुस्तके देत, पण साथ फुकट करून घेत नसत.

(६) मी तरुण व अविवाहित असताना त्यांनी मला मालवण येथे मुलींच्या शाळेत संगीत शिक्षक म्हणून पाठवले. माझ्यावरील विश्वासच त्यांनी व्यक्त केला. अहमदनगर येथेगुणेशास्त्री नावाचे मोठे विद्वान वैद्य होते. संगीताचे ते रसिक होते व गावात त्यांचे वजन होते. त्यांच्या विनंतीवरून बुवांनी मला गव्हर्नमेंट गर्ल्स स्कूलसाठी शिक्षक म्हणून पाठवले. तेथे मी तीन वर्षे होतो व अत्यंत मानाने मी तेथे वागू शकलो. बुवांनी केलेल्या सुसंस्कारांचाच तो परिणाम होता.

श्रीमती शकुंतला पळसोकर, अकोला

(१) एकदा सुनंदा पटनायक शिकत असताना मी बुवांच्या जिन्यात बसून ऐकत होते. काही कारणासाठी बुवा सहज बाहेर आले व मला बघताच म्हणाले, " शकुताई, आत बसा. बाहेर का बसलात ? तुम्ही ऐकलंत, तर तिला येणार नाही का ? " ती स्कॉलरशिप घेऊन शिकत असल्यामुळे आत जाऊन बसण्यास मला संकोच वाटला. मी बाहेरूनच ऐकत बसले.

(२) माझ्या वडिलांनी बुवांना पत्र लिहिले की, " आपली फी काय आहे ते कळ-वावे म्हणजे मी फी भरतो व आपण गंडा बांधावा." पण बुवा मला दुसऱ्या दिवशी म्हणाले, " मी गंडा बांधीत नसतो. फी पण नको. माझी मुलगी म्हणून शिकवतो आहे. ही विद्या तुम्ही जतन करा, वाढवा. दर्जेदार विद्यार्थी तयार करा."

(३) अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडळ या संस्थेतर्फे कोल्हापूरच्या अधिवेशनात बुवांना 'महामहोपाध्याय' पदवी देण्यात आली. त्या वेळी पुण्यातील

विद्यार्थ्यांनी बुवांचा सत्कार केला. त्या वेळी मी व सुनंदा पटनायक गायलो होतो. बुवांनी मला बोलण्यास सांगितले. त्याच दिवशी मी प्रतिज्ञा केली की, माझ्या जिवात जीव असेपर्यंत मी संगीत-शिक्षिका, संगीत कलाकार म्हणून कार्य करीत राहीन. त्याचे फळ म्हणजे 'विदर्भ संगीत ॲकॅडमी 'ची स्थापना व संगीत शिक्षिका म्हणून २६ जानेवारी १९८६ चा महाराष्ट्र राज्याचा पुरस्कार हे होय.

प्रा. श्री. वि. दा. घाटे, पुणे

(१) मुक्त हस्ताने विद्यादान करणे हा त्यांच्या स्वभावातील खास विशेष होता. नवीन राग, नवीन चिजा बसवताना आम्हा शिष्यांबरोबर ते चर्चा करीत. चिजांची वही पुढे टाकीत. राखून ठेवणे बुवांना मंजूर नसे. मी तर असे म्हणेन की, संगीत प्रसाराच्या दृष्टीने विष्णु दिगंबर हे पहिले युगपुरुष होऊन गेले आणि बुवा हे दुसरे युगप्रवर्तक पुरुष आहेत.

(२) बुवांच्या सहवासात प्रकर्षाने लक्षात आलेली गोष्ट म्हणजे आपल्या शिष्यांशी बुवा अत्यंत प्रेमाने वागत. शिष्यांना त्यांनी मातापित्याचे प्रेम दिले. मुक्तकंठाने विद्यादानाबरोबरच पैशाची मदत, कपडालत्ता, राहणे, जेवणखाण, यांसारख्या सर्व बाबतींत त्यांनी शिष्यांना मदत केली आहे. मला तर त्यांनीच S. N. D. T. महाविद्यालयामध्ये नोकरी लावून दिली. स्वतः माझ्याबरोबर येऊन महर्षी धोंडो केशव कर्वे यांना भेटले. सर्व प्रकारे माझी शिफारस त्यांनी केली व मला नोकरी मिळवून दिली. त्यानंतर मी अडतीस वर्षे नोकरी केली आणि मानाने निवृत्त झालो आहे.

श्री. बलवंतराय जसवाल, लुधियाना

१९३६ में मैं गाना सीखने के लिए पुणे पहुंचा। मुझे विद्यालय में रहने की अनुमति के साथ दो-तीन कक्षाओं में बैठने की सुविधा मिली। पंडित जी छात्रों के प्रति उदार थे। एक बार रात के लगभग नौ बजे पंडित जी ने मुझे राग भूपाली का अभ्यास करते हुए पाया और सिखाना आरंभ किया। स्वर विस्तार के पूरे नियमों के अनुसार भूपाली ऐसे ढंग से सिखाया कि आज तक वह मेरी याद में हैं। रागों का व्यक्तित्व, एक से दूसरा अलग करना और उसे दूसरे को समझाना पंडित जी की विशेषता थी। मुझे प्रोत्साहित करने के लिए टाटानगर एवं कलकत्ता कान्फ्रेंस में साथ ले गए थे। उत्तर भारत में जब भी जाते, तब मुझे साथ ले जाते थे।

श्री. विनायकराव कुलकर्णी, पुणे

(१) मी बुवांचा शिष्य होतो आणि माझा व्यवसाय फोटोग्राफीचा होता. माझा व त्यांचा परिचय १९३४ पासून त्यांच्या अखेरीपर्यंतचा. या ४६ वर्षांच्या काळात

बुवांनी फोटोग्राफीचे काम माझ्याशिवाय अन्य कोणाकडूनही करून घेतले नाही. गांधर्व महाविद्यालय व विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय येथील सर्व गायक-वादकांचे फोटो माझ्याकडीलच आहेत. अन्यही कित्येक कामे त्यांनी माझ्याकडूनच करून घेतली.

(२) कल्याण गायन समाजात विष्णु दिगंबराच्या फोटोचे अनावरण बुवांच्या हस्ते झाले, तो फोटो मीच तयार करून दिला असल्यामुळे माझा सत्कारही बुवांच्याच हस्ते झाला. शिवाय नंतर बुवांचे गाणे झाले. त्यात मी बुवांची तंबोऱ्याची साथ केली. बुवा फार खूष होते. मागाहून म्हणाले, " आज कुलकर्णी छान गायले. "

श्रीमती कमलाबाई गोखले, पुणे

माझे पती पं. मुकुंदराव गोखले यांची साठी शांत आम्ही घरगुती वातावरणात सर्व नातेवाइकांच्या समवेत धार्मिक पद्धतीने करण्याचे योजिले होते. हे बुवांच्या कानावर घालण्यासाठी पं. मुकुंदराव हे बुवांच्या घरी गेले व त्यांना सर्व सांगितले. तेव्हा आपला शिष्य आनंदाने संसार करून कर्तव्ये संभाळून साठीपर्यंत आला आहे, त्याचा त्यांना फार आनंद झाला. ते गहिवरून आले. त्यांनी लगेच घरातील कपाट उघडले, त्यातील एक कोरी शाल काढली आणि ती पं. मुकुंदरावांच्या अंगावर पांघरली !

एकदा रेडिओवर 'सौभद्र' नाटक होते. त्यात बुवांचे अर्जुनाचे काम होते. आम्ही उभयता बुवांच्या घरी नाटक ऐकण्यास गेलो. नाटक उत्कृष्ट झाले. नाटक झाल्यानंतर बुवा घरात पाणी भरण्याच्या कामास लागले आणि आम्हाला म्हणाले, " बघा, आता अर्जुन कसा पाणी भरतो ते ! " बुवांच्या पत्नीची तब्येत तेव्हा बरी नव्हती. म्हणून बुवा हे काम करीत.

पं. स. भ. देशपांडे, औरंगाबाद

व्यावसायिक हेतूने आलेल्या विद्यार्थ्यांना बुवा आपल्या तंबोऱ्याच्या साथीला बसवीत. साथ करताना त्यांना गाण्याची भरपूर संधी देत. त्याचा विद्यार्थ्यांना फार फायदा होई. पं. विनायकराव १९३० ते ४५ पर्यंत भारतातील एक अत्यंत लोकप्रिय व यशस्वी गायक होते. त्यामुळे त्यांचे भारतभर दौरे व कार्यक्रम चालू असत. प्रत्येक वेळी कुठल्या तरी एक किंवा दोन शिष्यांना बरोबर घेऊन जात. क्वचित आपल्या शिष्याला कॉन्फरन्समध्ये किंवा खाजगी कार्यक्रमात, स्वतंत्र रीतीने एखादा राग गायला सांगत. त्यामुळे शिष्यांना समयसूचकता, धीटपणा, आत्मविश्वास प्राप्त होत असे. विद्यालयात दर शनिवारी संगीतसभा घेतली जात असे. त्यात व्यावसायिक शिष्यांना कटाक्षाने गायला लावीत. गाताना चूक झाली तर सर्व लोकांच्या समक्ष ती चूक दुरुस्त करायला लावीत असत. त्यामुळे गाताना चूक होऊ नये म्हणून विद्यार्थ्यांना फार दक्षता घ्यावी लागे.

आम्ही शिकत होतो त्या वेळी पंडितजींची रागविज्ञानाची पुस्तके छापली जात होती त्यातील चिजांची नोटेशने, मुक्त आलाप, ही कामे शिष्यांकडून करून घेत. त्यामुळे नोटेशन, रचनाशास्त्र, यांचे ज्ञान आम्हाला मिळाले. पुष्कळ वेळा लक्षणगीत किंवा इतरही गीते यांचे निव्वळ शब्द देऊन त्यांची बंदिश तयार करायला सांगत. ती पसंत पडल्यास तिचा अंतर्भाव पुस्तकात करीत.

खर्ज साधनेवर त्यांनी फारसा भर दिला नाही. पण सुरेलपणा व तालबद्धता यासंबंधी मात्र अत्यंत जागरूक असत. त्याबाबत मुळीच गय करीत नसत. तारसप्तकातील स्वरही अत्यंत जोरकस व खुल्या आवाजात लागले पाहिजेत यावर विशेष लक्ष असे.

सर्वसाधारणपणे इतर गवयांची गाणी ऐकू नयेत अशी त्यांची इच्छा असे. कारण गळ्याला लागलेले विशिष्ट वळण बदलण्याची शक्यता असते. परंतु त्याबाबतीत ते फार कडक होते, असे मात्र म्हणता येणार नाही.

कॉन्फरन्स किंवा खासगी कार्यक्रमात जेव्हा शिष्यांना बरोबर नेत तेव्हा शिष्यांना संयोजकांकडून मानाची व आदराची वागणूक मिळाली पाहिजे याबद्दल फार दक्ष असत. कॉन्फरन्सच्या वेळी आपल्या शिष्यांना आपल्या शेजारी पहिल्या रांगेत घेऊन बसत. प्रवासात त्यांना काही वस्तू, कपडा, किंवा इतर आर्थिक मदत देत. शिष्याला उत्तम शिकवता आले पाहिजे यावर फार भर असे.

श्रीमती कालिंदी केसकर, पुणे

मला गाण्याची आवड व शिकण्याची इच्छा होती. त्या वेळची परिस्थिती यास अनुकूल नव्हती. पण पं. विनायकबुवांच्या गांधर्व महाविद्यालयात मला दाखल करण्यात आले. कारण शिस्त, वक्तशीरपणा, उत्तम शिक्षण, याबद्दल विद्यालय प्रसिद्ध होतेच. पण चांगल्या घराण्यातील मुली सुरक्षित राहून गाणे शिकू शकतील यावर लोकांचा विश्वास होता.

श्री. श. वि. जोग, शिवाजीनगर, पुणे

पं. विनायकबुवा हे उत्तम हाडाचे शिक्षक होते. विषय समजावणे व प्रत्यक्षिकाने सुस्पष्ट करणे यात त्यांचा हातखंडा होता. रागविस्तारातील अचुकता व शुद्धता याबाबत ते काटेकोर असत. शिकवताना कंटाळा करीत नसत. विद्यार्थ्यांनी उत्तम रियाझ करून आपले ज्ञान व गायन पक्के करावे आणि नंतर आपल्या बुद्धीने, प्रतिभेने पुढे जावे, आपली शैली निर्माण करावी, असे ते सांगत व प्रोत्साहन देत. त्यांनी स्वतः मला एक तंबोरा आणून दिला व त्यावर रोज मेहनत करण्यास सांगितले. शिष्यांबद्दल इतकी आपुलकी असणारा गुरू भेटणे हे दुर्लभ भाग्य आहे.

श्री. रामचंद्र केशव पर्वते, पुणे

१९५५ साली मी 'संगीत विशारद' झाल्यानंतर त्यांनी मला विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालयात शिक्षक म्हणून काम करण्यास सांगितले. आणि म्हणाले, "गाताना स्वर थोडा कमी चालेल. पण मेहनतीला जास्तच असावा. सर्टिफिकेट तुम्हाला मिळाले असले तरी अजून पाच वर्षे अभ्यास करा. म्हणजे सर्टिफिकेट खरे ठरेल."

सातारा येथे कार्यक्रमात बुवांची पेटीची साथ केल्याबद्दल बुवांनी बिदागी म्हणून रु. १५ व रागविज्ञानाची पुस्तके अभ्यासासाठी मला बक्षीस दिली.

Shri Prahlad Chandra Das, Dibrugarh, Assam

Panditji kept me in his own house and imparted me training of various ragas, along with Shri Thakuria Tulsi Chakrwarti of Assam and some other pupils of Maharashtra. He gave us lessons of Alankar, Ragas and about scientific exposition of different ragas. On some occasions he taught us for five hours at a stretch. He made us repeat the lessons till the time we sang them faultlessly. He always wanted us to be good performers. He also took us to various classical music conferences. I passed Visharad in 1959. At the time of parting he gave us advice to propagate classical music in its purest form.

श्री. द. कृ. जंगम, मुंबई

ब्राईस पं. बाबूराव पुरोहित यांच्याकडे बुवांचे गाणे ऐकले. शिकण्याची इच्छा झाली. म्हणून राष्ट्रीय कीर्तनकार ह. भ. प. दत्तोपंत पटवर्धन यांना सांगितले. त्यांनी बुवांना पत्र लिहून कळवले. नंतर मी बुवांना भेटलो आणि लगेच गाणे शिकवण्याची त्यांनी व्यवस्था केली. माझ्या विशारद परीक्षेचा फॉर्म भरताना परीक्षा फी रु. २ मजजवळ नव्हती. बुवांनी त्या वेळी २ रुपये भरले. नंतर मी ते परत केले. मी विशारद पास झाल्यानंतर कर्वे महिलाश्रमात हार्मोनियम शिकवण्यासाठी त्यांनी माझी योजना केली. विद्यालयातही १० रुपये विद्यावेतनावर शिक्षक म्हणून जागा दिली.

मी संगीत अलंकार परीक्षा पास झाल्यानंतर मला शिकारपूर (आता पाकिस्तानात) येथे संगीत महोत्सवात साथीसाठी नेण्याचे ठरवले. पण माझ्याजवळ पुरेसे कपडे नव्हते, म्हणून त्यांनी स्वतः माझ्यासाठी नवीन कपडे केले. तेथे जाताना प्रवासात वामनराव

पाध्ये, नारायणराव व्यास, सुरेशबाबू माने, बुवा व मी असे एकाच डब्यातून प्रवास करीत होतो. बुवा मला बरोबरीच्या नात्याने वागवीत होते. जाताना मला ताप होता. मी बोललो नाही. पण बुवांच्या ते लक्षात आले. शिकारपूर येथे गेल्यावर तेथील एका वैद्याकडून मला औषध देवविले. सक्कर येथे माझे थोडा वेळ त्यांनी स्वतंत्र गाणेही ठेवले. याच मुक्कामात पं. नारायणराव व्यास व पं. वामनराव पाध्ये यांच्याबरोबर बुवांचा पहिला 'तिगल बंदीचा' कार्यक्रम झाला. मी साक्षीदार आहे.

१९४२ मध्ये दादर मधील व्यास संगीत विद्यालयात एका शिक्षकाची जागा निर्माण झाल्यावर बुवांनी मला तेथे पाठवले. पुढील शिक्षण पुरे करण्याची खात्री दिली.

मला नवीन चिजा बांधण्याचा नाद आहे असे. समजल्यावर त्यांनी माझ्या चिजा पाहिल्या. त्यावर उत्तम अभिप्राय दिला. शिवाय आपल्या रागविज्ञान पुस्तकात त्यांना स्थान दिले.

श्री. पु. रा. पंडित, पुणे

(१) वाईला आपले सासरे श्री. मराठे यांच्याकडे पं. विनायकबुवा आले असता त्यांची व माझी भेट झाली. बुवांनी माझे गाणे ऐकले आणि मोफत गाणे शिकवण्याचे मान्य केले. पण माझी सांपत्तिक स्थिती चांगली नसल्यामुळे पुण्यास राहणे कसे जमणार ? अशी शंका व्यक्त करताच ते म्हणाले, "फक्त एक वर्षभर व्यवस्था करा. त्यानंतर तुम्ही पुण्यात चरितार्थ चालवू शकाल." त्याप्रमाणे मी पुण्यास आलो, गाणे शिकू लागलो आणि एक वर्षानंतर मला दरमहा बुवांच्याकडून रु. २० मिळू लागले. त्या काळात रु. २० ही रक्कम कमी नव्हती (सन १९३२–३३ चा काळ) त्यानंतर मी पुण्यात स्थायिक झालो. गांधर्व महाविद्यालयाच्या कामात भाग घेऊ लागलो आणि आजचे चांगले दिवस पाहात आहे.

(२) विद्यार्थ्यांनी रोजच्या रोज अभ्यास केला पाहिजे असा त्यांचा कटाक्ष असे. बापूराव पलूसकर, लक्ष्मणराव केळकर, केशवराव सोमण, मुकुंदराव गोखले, पिंपळखरे ही त्यांची पहिली शिष्यांची बॅच. हे विद्यार्थी अभ्यास करीत नाहीत अशी शंका येताच बुवांनी १५ दिवस त्यांचे शिक्षण थांबवले. मग सर्वांनी चूक कबूल केल्यावर पुन्हा सुरू केले. वेळेच्या बाबतीत फार काटेकोर असत. विद्यालयीन कामकाज वेळेवर चालले पाहिजे असा आग्रह असे.

श्री. ना. श्री. काणे, कुरुंदवाड

मी पुण्यात राहून बुवांच्याकडे गाणे शिकत होतो. बुवांनी आपला स्वतःचा तंबोरा व पुस्तके मला अभ्यासासाठी दिली होती. शिवाय माझ्याकडून फी घेत नव्हते. रोजचा

अभ्यास झाला म्हणजे खूष असायचे. न झाल्यास रागवायचे. मी पुण्यास कीर्तनाचा व्यवसाय करून गाणे शिकत होतो. एकदा एका दिवसात दोन कीर्तने करावी लागली. त्यामुळे मला गाण्याचा अभ्यास करता आला नाही. बुवा खूप रागावले. बोलले नाहीत. मग मी वस्तुस्थिती सांगितली. तेव्हा राग शांत झाला. दुसऱ्या दिवशी अभ्यास करून गेलो. तेव्हा खूष झाले. माझे कीर्तन ऐकायला येत असत. अमुक रागात नमन म्हणा असे सांगत. मी म्हणे. खूष होत.

माझ्या आजोबांची आणि बुवांची एकदा स्टेशनवर गाठ पडली. बुवांनी स्वतः त्यांचा हात धरून त्यांना चालवले. आजोबांची गाडीत विसरलेली पडशी आणून दिली. नंतर आजोबांना जेथे जायचे होते, तेथे पोचवून नंतर घरी गेले.

श्री. प्र. अ. गोखले, पुणे

(१) माझ्या वडिलांची आणि बुवांची ओळख होती. मला गाण्याची आवड आहे, असे त्यांच्या लक्षात येताच त्यांनी मला विद्यालयात दाखल होऊन गाणे शिकण्यास सांगितले. त्याप्रमाणे मी गाणे शिकू लागलो. पण पुढे आमची परिस्थिती खालावली आणि आम्हास फी देणे शक्य होईना. तेव्हा बुवांनी विनामूल्य शिकवण्यास सुरुवात केली. शेवटपर्यंत पैसे घेतले नाहीत.

(२) १९७१ साली मी पुणे रेडिओवर बैरागी भैरव व जोगी आसावरी हे राग गायलो. बुवा तेव्हा मिरजेस होते. त्यांनी ते राग ऐकले आणि खास पत्र लिहून मला शाबासकी दिली. त्यात ते लिहितात, “मी हे राग पुस्तकात प्रसिद्ध केल्याचे सार्थक झाले. तुम्ही माझी परंपरा पुढे चालवाल असा मला विश्वास वाटतो.” खुद्द गुरुजींची ही शाबासकी! ते पत्र मी अजून जपून ठेवले आहे. अमोल ठेवा म्हणून!

(३) त्यांच्याकडे मला मुक्तद्वार असे. मला हवा असलेला कोणताही राग, चीज ते मला सांगत. माझ्याकडून अनेक जबाबदारीची कामे त्यांनी करून घेतली. त्यांचे व माझे अतूट असे नाते होते. त्यांच्या मृत्यूनंतरही ते अजून तुटले नाही. पुढेही तुटणार नाही.

श्री. करुणा शंकर ठाकुरिया, गुवाहाटी, आसाम

पंडित जी मुझे गाना सिखाने को तैयार हो गये। मैं तो सीखने के लिए अधीर ही था। लेकिन मेरे पिताजी संगीत सीखना पसंद नहीं करते थे। तब पंडित जी स्वयं मेरे घर आए, मेरे पिताजी को समझाया और उनकी अनुमति पायी। काम आसान हो गया। कितने महान् और उदार हृदय के थे गुरुजी! शिष्यों को अपने पुत्र के समान मानते थे। सिखाते समय भी वही उदारता रखते। सिखनेवाले थक जाते। लेकिन स्वयं कभी नहीं थक जाते। शिष्यों को खाना, कपड़ा देते थे।

श्री. ना. गं. मोडक, हुबळी, कर्नाटक

गाणे शिकण्यासाठी मी गेलो, तेव्हा लहान मुलगा होतो. तरीही मला बहुवचनात संबोधीत. चांगली समज येईपर्यंत दुसऱ्याचे गाणे ऐकू नये, नुसते अनुकरण करू नये, परंपरा टिकवावी, वगैरे उपदेश करीत. माझ्या हातून तंबोरा फुटला, तरी रागावले नाहीत. प्रवासात सर्व प्रकारची माहिती देत. रिझर्व्हेशनची माहिती देत. माझ्या अभ्यासावर खूष होऊन मला 'भारतीय संगीत माला' या पुस्तकाची एक प्रत भेट दिली. माझी प्रकृती बिघडल्यास औषधपाणी देत. जेवावयास घालीत. माझा आवाज मोठा असल्याने त्याला 'तोफ' म्हणत व कौतुक करीत.

५. नाटक, अभिनय, नाट्यसंगीत

संगीतभूषण पं. राम मराठे, ठाणे

(१) गंधर्व कंपनी सोडल्यानंतर शिक्षण संस्था किंवा देवालये यांच्या मदतीसाठी त्यांनी रंगभूमीला जवळ केले. संगीत स्वयंवरमधील भीष्मक व संगीत द्रौपदी नाटकातील दुर्योधन या भूमिका त्यांनी अजरामर केल्या. एकदा बिर्ला मातोश्री सभागृहात सौभद्र नाटकात मी कृष्ण, विनायकबुवा अर्जुन, हिराबाई बडोदेकर सुभद्रा, बलराम मा. दत्ताराम बापू असा नाट्यप्रयोग दुपारी ४ वाजता होता. वेळेचे बंधन नसल्यामुळे प्रयोग खूपच रंगला.

(२) नटवर्य केशवराव दाते यांच्या षष्ठ्यब्दिपूर्तीनिमित्त सौभद्र नाटकाचा प्रयोग पुण्याला हिराबागेत नाट्यमहोत्सवाच्या मंडपात आयोजिला होता. परंतु या प्रयोगाला वेळेचे बंधन होते. रात्री १२·३० ला प्रयोग संपायलाच हवा होता. म्हणून बुवांनी सर्वांना सांगितले की प्रत्येकाने आपापली आवडती दोन पदे भरपूर गावी, परंतु नारदाची भूमिका करणाऱ्या पात्राने सर्वच पदे भरपूर गायल्यामुळे, अगोदर सांगितले असूनही न ऐकल्यामुळे वेळ फारच थोडा उरला, परिणाम असा झाला की, संन्याशाच्या वेषातच अर्जुनाचे सुभद्रेशी लग्न लावून द्यावे लागले व प्रयोग आटोपता घ्यावा लागला.

श्रीमती शकुंतला पळसोकर, अकोला

१९५६ साली अकोल्यातील 'कलानिकेतन' संस्थेतर्फे संगीत 'सौभद्र' हे नाटक बसविण्यास घेतले होते. मी सुभद्रेची भूमिका करीत होते. त्याच वेळी विनायकबुवा परीक्षा घेण्यासाठी अकोल्यास आले होते. प्रि. बाबूराव जोशी बुवांचे भक्त होते. त्यांनी बुवांना 'पात्रांना मार्गदर्शन करण्यास' आमंत्रण दिले. त्याप्रमाणे बुवा आले. त्यांनी

अर्जुन व नारद यांचा ' लग्नाला जातो मी ' या पदाच्या वेळेचा संपूर्ण प्रवेश करून दाखविला. सुभद्रेने लिहिलेले पत्र वाचून दाखवले. सर्व नाटक त्यांनी पाठ म्हटलं. त्यांची शब्दांची फेक, उच्चार, आवाज, वगैरे आम्ही सर्वजण मुग्ध होऊन बघत व ऐकत होतो.

श्री. वि. सी. गोडबोले, पुणे

बुधवार पेठेत बालाजीच्या देवळाजवळ पंपूशेट नावाचा एक अत्तराचा व्यापारी होता. त्याच्या शेजारी नारायणदास छबिलदास यांचे टोप्यांचे दुकान व समोर श्री. मोघे यांची बादशाही बोर्डिंग नावाची खाणावळ होती. पंपूशेट हा नाटकाचा अत्यंत भोक्ता होता व स्वभावाने रसिक होता. त्याच्या दुकानात नाटक कंपन्यांतील नटांची सतत बैठक असे. तासन्‌तास गप्पा, विनोद, थट्टामस्करी चालत असे. कोणत्या नटाला कोणते अत्तर आवडते, हे त्याला माहिती असे व तो नट आला की ते अत्तर तो त्यांच्या अंगाला, कपड्याला लावी. विनायकबुवांना ' हिना ' अत्तर आवडे म्हणून ते आले की तो हिना अत्तर त्यांच्या कपड्यांना लावी.

एखादे नाटक विशेष यशस्वी झाले किंवा एखाद्या नटाची एखादी भूमिका फार सुंदर झाली, तर त्या नटमंडळींना पंपूशेट बादशाही बोर्डिंगमध्ये मेजवानी देई. त्याचा खर्च पंपूशेट, नारायणदास छबिलदास व श्री. मोघे असे तिघे मिळून करीत. अधिक खाण्याच्याही शर्यती लागत. विनायकबुवा हे पट्टीचे खाणारे होते. ते यात भाग घेत. नाटकाबाबतही पैजा लागत. अमुक पदावर मी वन्समोअर घेईन, अमुक प्रसंगी प्रेक्षकांच्या डोळ्यांतून पाणी काढीन, अमक्या वाक्याला मी टाळी घेईन, अशाही पैजा लागत. या पैजा नटांनी जिंकल्या म्हणजे पंपूशेट त्यांचे खास कौतुक करी. पंपूशेट स्वतः सर्व नाटके खास पुढची तिकिटे काढून पाहात असे. त्याचे या सर्व नटमंडळींत एक खास असे स्थान होते.

सौ. विजयाबाई पेंडसे, पुणे

एकदा पुण्यात ' सौभद्र ' नाटकाचा प्रयोग होता. त्यात पं. विनायकबुवा व सौ. हिराबाई बडोदेकर अनुक्रमे अर्जुन व सुभद्रा ही कामे करणार होते. दोघेही पट्टीचे गाणारे असल्यामुळे नाटकात गाण्याची पर्वणी वाटली. बुवा व हिराबाई हे दोघेही स्त्री व पुरुष-पराङ्‌मुख होते ! नाटकाच्या शेवटी अर्जुन व सुभद्रा यांच्या विवाहाच्या प्रसंगी श्रीकृष्ण अर्जुनाच्या हातात सुभद्रेचा हात देऊन नाटकाची सांगता करतो. पण त्या वेळी या दोघांचेही हात लवकर पुढे येईनात व शेवटी 'पाणिग्रहण' न होताच पडदा टाकला गेला !

श्रीमती सरस्वतीबाई राणे, पुणे

बुवांची आणि माझी १९४८ सालापासून ओळख. त्या वेळी नाटक कंपन्या नव्हत्या. पण संयुक्त प्रयोग असत. म्हणजे नामवंत नट व नट्या यांना बोलावून नाट्यप्रयोग सादर केले जात. अशा संयुक्त प्रयोगात मी त्यांच्याबरोबर सौभद्र, मानापमान, संशय-कल्लोळ, एकच प्याला, या जुन्या संगीत नाटकांत कामे केली. सर्व नाटकांत ते नायक व मी नायिका असे. सौभद्रात अर्जुन, मानापमानात धैर्यधर, संशयकल्लोळात अश्विनशेट व एकच प्यालामधील रामलाल या त्यांच्या भूमिका उत्तम होत असत. ते अभिनय उत्तम करीत व गाणीही उत्तम म्हणत– विशेषतः वीरश्रीयुक्त पदे फार चांगली म्हणत. उदा. धिक्कार मन साहिना, कुटिल हेतु तुझा फसला, जा भय न मम मना, इत्यादी.

श्री. म. रा. गंधे, पुणे

बुवांच्या एकसष्टीच्या कार्यक्रमात एका रात्री 'संगीत संशयकल्लोळ' नाटकाचा प्रयोग ठेवला होता. ऑगस्ट महिना, पावसाळ्याचे दिवस. पण भानुविलास थिएटरमध्ये नाटक होते. त्यामुळे चिंता नव्हती. तिकिटे सर्व खपली होती. चिक्कार गर्दी होणार हे नक्कीच होते. पण कसचे काय! ज्या रात्री नाटक होते, त्याच दिवशी दुपारी चार वाजता मुंबईहून मीनाक्षीबाई, श्री. जोगळेकर व ललिता जोगळेकर यांची तार आली की, "मुंबईत पाऊस फार आहे. वाहतूक बंद आहे. आम्ही येऊ शकत नाही." आमच्या डोळयांसमोर काजवे चमकले. काय करावे हे सुचेना. शेवटी खळी-करबुवा म्हणाले, "आपण विमलाबाई कर्नाटकी यांना भेटू आणि काम करायला सांगू." त्याप्रमाणे खळीकरबुवा, जानोरीकरबुवा आणि मी असे तिघेजण त्यांच्याकडे गेलो. त्यांना सर्व परिस्थिती सांगितली आणि काम करण्याची विनंती केली. त्यावर त्या म्हणाल्या, "अखेर परमेश्वराने माझे गाऱ्हाणे ऐकले तर! अहो, विनायकबुवांच्याविषयी माझ्या मनात केवढी भक्ती! त्यांच्या एकसष्टीच्या कार्यक्रमात आपण सहभागी व्हावे, त्यांच्या बरोबर काम करावे, ही माझी केवढी तळमळ, पण तुम्ही लोक आम्हा जवळच्यांना विसरला आणि मुंबईच्या लोकांकडे गेला. पण परमेश्वराला हे मंजूर नव्हते. त्याने तुम्हाला कसे नेमके माझ्याकडे पाठविले! मी थिएटरवर येते. तुम्ही काळजी करू नका." माई भिडे (कृत्तिका) तर बुवांच्या विद्यार्थिनी, त्यांना इतका आनंद झाला की, तो त्यांच्या चेहऱ्यावरच दिसला, नाट्यप्रयोग दृष्ट लागण्यासारखा झाला. विशेष आश्चर्य म्हणजे मुंबईच्या लोकांनी मागाहून 'ॲडव्हान्स' म्हणून घेतलेल्या रकमा परत पाठवल्या!

स्व. बबनराव कुलकर्णी, पुणे

बुवांच्या नाट्यपदांच्या बाबतीत एवढे नक्की म्हणता येईल की, त्यांना वेळेचे फार तारतम्य होते. कोणते पद लांबवावे, कोणते झटपट संपवावे याची फार चांगली जाण त्याना होती. दुसऱ्या पात्राबरोबर अभिनयासह म्हणण्याची पदे ते लांबवीत नसत. कारण तसे केल्याने दुसरे पात्र अडचणीत येते. त्याला अभिनय करता येत नसे. पण 'माता दिसली' सारखे पद ते विस्ताराने म्हणत. पदांतील शब्दोच्चार उत्तम करीत.

बालगंधर्वांचा एकदा मुंबईला मुक्काम असता, बुवा त्यांना भेटण्यासाठी गेले तेव्हा गंधर्वांनी त्यांना 'एकच प्याला' नाटकात सुधाकराची भूमिका करण्याचा आग्रह केला. त्याप्रमाणे बुवांनी सुधाकराची भूमिका उत्तम प्रकारे केली. आयुष्यात कधी दारूच्या थेंबाला स्पर्श केला नाही पण भूमिका उत्तम वठवली !

नाट्यपदे ते रसानुकूल पद्धतीने व अर्थ समजून गात. पण त्यांचे बैठकीचे गाणे वेगळे असे. नाट्यसंगीताचा परिणाम त्यांनी आपल्या मूळ गायकीवर कधी होऊ दिला नाही.

६. महिलाओं द्वारा संगीत प्रसार

श्रीमती कालिंदी केसकर, पुणे

१९३७ किंवा ३८ सालातील गोष्ट. कलकत्त्यास दरवर्षी अखिल भारतीय संगीत परिषद भरत असे. त्या परिषदेतर्फे बुवांना पत्र आले की तुमच्या २ शिष्या घेऊन येथे या म्हणजे चांगल्या घराण्यातील मुली सगळ्या मर्यादा संभाळून स्टेजवर कशा गाऊ शकतात ते इथल्या लोकांना दाखवता येईल. बुवांनी माझी व माझी मैत्रीण सुमती धारप यांची निवड केली. आमच्या घरच्या लोकांनीही बुवांच्या विश्वासावर आम्हास परवानगी दिली. आम्ही तेथे गेलो, गायलो व आम्हाला संगीताचा एक भव्य सोहळा पाहायला व ऐकायला मिळाला. गाणे वाढविण्याची एक जिद्द व ओढ त्यामुळे आमच्या मनात निर्माण झाली.

१९४० साली ऑल इंडिया रेडिओत बुवांच्यामुळेच मला प्रवेश मिळाला. त्या वर्षी पं. विष्णु दिगंबरांची पुण्यतिथी रेडिओवर झाली. त्यात पलुसकरांच्या शिष्यांचीच गाणी ठेवावी असे ठरले. बुवांनी माझे नाव सुचविले. त्या वेळी जो प्रवेश रेडिओत झाला तो आजतागायत चालू आहे. अशा तऱ्हेने बुवांचे मोठे ऋण माझ्यावर आहे.

७. आदर्श संस्थाचालक

Shri. B. F. Bode, Pune

I had the rare fortune to be one of his students in the Gandharva Mahavidyalaya during the years 1944–46. Since I was the student in the elementary class, the occasions to observe him as a daily teacher were not frequent. However, I joined the Gandharva Mahavidyalaya because of its reputation of extreme devotion to the faculty of music and as a strict and disciplined working school. He was surprised that a Parsi young man, studying at the Engineering College, wanted to devote his evenings to learn Classical Indian Music and that too in Marathi Medium and that perhaps explained his personal interest in me as one of his students. His rapiant personality and his very pleasant behaviour with the students combined to make his classes rare musical treat.

श्री. द. के. आगाशे, पुणे

पं. विनायकबुवांनी स्थापन केलेल्या विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालयात मी शिक्षक म्हणून काम करीत होतो. शिवाय मी संगीत अलंकारचा अभ्यासही करीत होतो. एकदा रात्री ९ वाजता विद्यालयाचे कामकाज आटोपल्यानंतर आम्ही विद्यालय बंद करून बाहेर आलो. तेव्हा बुवा म्हणाले, ‘सगळ्या मुली कोणत्या बाजूने गेल्या ! त्याच्या विरुद्ध बाजूने आपण जाऊ या.’ या एका वाक्यात बुवांनी काय सुचवायचे ते सुचविले !

८. अन्य कलाकारों के प्रति आदरभाव

संगीतभूषण पं. राम मराठे, ठाणे

पं. नारायणराव पटवर्धन यांच्या कन्येच्या विवाहाच्या वेळी बुवांच्याच आग्रहावरून माझ्या गायनाचा कार्यक्रम सुयोग मंगल कार्यालयात आयोजिला होता. त्या वेळी योग्य

ती बिदागी देऊन स्वतःचा जरीचा फेटा देऊन माझा सत्कार केला. हा माझा फेटा तुम्ही वापरावा अशी आज्ञा पण केली. हा माझा बहुमानच आहे.

श्री. शरद गोखले हे बुवांच्याकडे शिकलेले असूनसुद्धा माझ्या पद्धतीने गाण्याचा त्यांचा कल आहे, हे जाणून बुवांनी त्यांना कधीही विरोध न करता उलट प्रोत्साहनच दिले.

Shri. Shaikh Dawood Khan, Hyderabad

Pandit Vinayakrao was a good friend of mine. I have accompanied him in several programmes (nearly 15). He liked my accompaniment and desired for my accompaniment on several occasions. I have accompanied him in Pune Conference, in Kanpur Conference, in Akalkot Conference and several times in Hyderabad.

श्री. द. के. आगाशे, पुणे

पं. विनायकबुवांच्या एकसष्टी समारंभातील गोष्ट. पं. राम मराठे गात होते. त्यांनी राग सोहनी व भैरवी हे राग सादर केले. मी जेथे गाणे ऐकत बसलो होतो, तेथे जवळच बुवा बसले होते. भैरवी ऐन रंगात आली होती. बुवा लक्षपूर्वक गाणे ऐकत होते. थोड्या वेळानंतर त्यांच्या चेहऱ्यावर विशेष आनंद दिसू लागला तेव्हा मी त्यांना विचारले, "काय झालं ?" बुवा म्हणाले, "रामभाऊ मला पै. रहिमतखांची आठवण करून देत आहेत, याचा मला आनंद वाटतो. कारण मी स्वतः पूर्वी त्यांच्या साथी केल्या आहेत."

पं. नारायणराव व्यास

(संगीत कलाविहारच्या एप्रिल १९८५ च्या अंकात पृष्ठ १०२ वर स्वर्गीय पंडित नारायणराव व्यास यांनी सांगितलेल्या काही आठवणी दिल्या आहेत. त्यातील हा मजकूर आहे.)

मुंबईतील पहिली मैफिल : " आणि मग शंकररावांचा– मोठ्या बंधूंचा सल्ला न मानता मुंबईस आलो. गणेशोत्सवाचे दिवस होते. पं. विनायकबुवांची दोन गाणी ठरली होती. पण प्रकृती ठीक नसल्याने ते गाऊ शकत नव्हते. त्यांनी आयोजकांना सांगितले, " माझ्याऐवजी व्यास गातील."

ठरलेला नि जाहीर झालेला कार्यक्रम बदलायला उत्सवाची मंडळी फारशी खूष नसतात. ही मंडळीही नव्हतीच. विनायकबुवांनी त्यांना सांगितलं, "नारायणरावांची बैठक फेल गेली तर बिदागीचे पैसे माझ्याकडून वसूल करा." इतका आत्मविश्वास त्यांना माझ्याबद्दल होता. त्या आत्मविश्वासाला मी पात्र ठरलो आणि मुंबईत जो एकदा पाऊल रोवून उभा आहे, तो आजतागायत."

तिगलबंदी : "वाद्यांची, ध्रुपद-गायकांची किंवा ख्याल-गायकांची जुगलबंदी सर्वांना ठाऊक आहे. पण सिंध हैदराबादमध्ये 'तिगलबंदी'चा धाडसी प्रयोग केला गेला. शिकारपूर, सक्कर येथे पं. वामनराव पाध्ये, व पं. विनायकबुवा, पं. नारायणराव व्यास या तिघांच्या एकत्र गायनाचा कार्यक्रम झाला. तो अत्यत यशस्वी झाला. तसे अनेक कार्यक्रम झाले. पुढे पं. वामनराव पाध्ये यांच्या निधनानंतरही पं. विनायकबुवा व पं. नारायणराव व्यास हे दोघे जुगलबंदीचे कार्यक्रम करीत असत."

श्रीमती सरस्वतीबाई राणे, पुणे

गाण्याच्या कार्यक्रमांच्या निमित्ताने आमच्या अनेक वेळा गाठीभेटी होत असत. सर्वांशी ते प्रेमाने वागत. कोणालाही अरेतुरे करीत नसत. कोणालाही त्रास होईल असे वागत नसत. बरोबरीच्या नात्याने वागत. आदराने वाकून नमस्कार करीत. कार्यक्रमात सहभाग असलेल्या कलावंतांशी मोकळेपणाने वागत—बोलत असत. एक व्यवसायबंधू म्हणून माझ्या मनात त्यांच्याविषयी आदरभाव होता व आजही तो आहे.

श्री. विश्वनाथ सीताराम शेवडे, पुणे

विष्णु दिगंबर पुण्यतिथीनिमित्त गांधर्व महाविद्यालयात सायंकाळी माझे बासरी वादन होते. माझे मित्र श्री. पेंडसे यांना मी तंबोऱ्यास बसण्यास सांगितले होते. पण आयत्या वेळी विद्यालयाच्या काही कामासाठी बाहेर जावे लागले. तेव्हा मी बुवांना विनंती केली की दुसऱ्या कोणाला तरी तंबोऱ्यास बसवावे. बुवा म्हणाले, "हो हो. अवश्य. दोन तंबोरे हवे असल्यास मी स्वतः एका तंबोऱ्यास बसतो," केवढा हा मनाचा मोठेपणा!

श्री. म. रा. गंधे, पुणे

(१) १९५८ साल. बुवांच्या एकसष्ठीच्या कार्यक्रमात पुण्याच्या शिवाजी मंदिरात पं. निवृत्तिबुवा सरनाईक गात होते. काही उपद्व्यापी मंडळींनी टाळ्या वाजवून कार्यक्रमात विघ्न आणण्याचा प्रयत्न केला. बुवा संतापाने लाल झाले. तडक स्टेजवर गेले आणि म्हणाले, "थोर कलावंत येथे येतात. आपली कला आपणासमोर मांडतात. आपणांस विनामूल्य आस्वाद घेता येत आहे. केवढे भाग्यवान आहात आपण! आणि

असे असता आपण चालू असलेल्या या सुंदर कार्यक्रमात विघ्न आणता ? काय म्हणावे तुम्हाला ! मी निक्षून सांगतो की, जर पुन्हा कार्यक्रमात विघ्न आणण्याचा कोणी प्रयत्न केला, तर कार्यक्रम ताबडतोब बंद होईल. ज्यांना ऐकायचे नसेल त्यांनी पाठी मागच्या स्टॉलवर जावे आणि चहा पीत बसावे. गाण्यात विघ्न आणू नये." यानंतर कार्यक्रम निर्विघ्नपणे पार पडला हे सांगणे न लगे ! बुवांचा हा रुद्रावतार विलोभनीय होता, यात शंका नाही.

कै. बबनराव कुलकर्णी, पुणे

पुणे येथील भारत गायन समाजात दरवर्षी गुरुपौर्णिमा उत्सव साजरा केला जाई. त्या पठडीतील सर्व गवई त्यात भाग घेत. सन १९३५ ची गोष्ट, त्या वर्षी मास्तर कृष्णराव हे प्रभात फिल्म कंपनीच्या कामात गुंतले होते. त्यांना गुरुपौर्णिमेच्या कार्य-क्रमासाठी येणे जमेना म्हणून समाजाचे शंकरबुवा अष्टेकर हे पं. विनायकबुवांच्याकडे गेले आणि त्यांना समाजात गायला येण्याची विनंती केली. तेव्हा बुवा त्यांना म्हणाले, "मला भास्करबुवा आणि विष्णुबुवा वेगळे नाहीत. मी अवश्य गायला येतो." त्याप्रमाणे बुवा आले आणि गायले. त्या गाण्याच्या हार्मोनियमच्या साथीला मी स्वतः होतो. तंबोऱ्याला नरहरीबुवा पाटणकर बसले होते. हा प्रसंग मला आजही स्पष्टपणे आठवतो आहे.

भारत गायन समाजाच्या मदतीसाठी झालेल्या अनेक नाटकांत बुवांनी विनामूल्य भूमिका केल्या आहेत. हे मला नक्की माहिती आहे आणि समाजाचे लोकही ते मान्य करतात.

श्रीमती हिराबाई बडोदेकर, पुणे

सन १९२३ साली मुंबईला गांधर्व महाविद्यालयातर्फे कार्यक्रम होता. त्यात विष्णु दिगंबर, त्यांचे शिष्य व अन्य कलाकारांचे कार्यक्रम होते. माझी आई विष्णुबुवांना भेटली आणि तिने माझा कार्यक्रम ठेवण्याबद्दल त्यांना विनंती केली. विष्णुबुवांनी ती मान्य केली. त्यानुसार एकाच दिवशी विनायकबुवा, ओंकारनाथ आणि मी अशी तिघांची गाणी पाठोपाठ झाली. मी पटदीप राग म्हटला. नंतर विनायकबुवा मला म्हणाले, " बैठकीत पटदीप राग आज मी प्रथमच ऐकला. फार छान झाला."

९. आर्थिक व्यवहार में शुद्धता

श्री. मुकुंद उपासनी, पुणे

सन १९६१ साली मी गु. विनायकबुवांच्या घरी शिकत होतो. शिकवणी खासगी होती. फी रु. २५ दरमहा देत होतो. अलंकार परीक्षेचा अभ्यास करीत होतो. सात-आठ महिन्यांनंतर एक दिवस बुवा मला म्हणाले, "विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालयात श्री. शरद गोखले म्हणून एक विद्यार्थी आहेत' ते नुकतेच संगीत विशारद परीक्षा पास झाले आहेत. त्यांना व तुम्हाला मी एकत्रच संगीत अलंकारचा अभ्यास शिकवीन म्हणतो. तेव्हा तुम्ही आता विद्यालयात शिकायला येत जा. तसेच विद्यालयाची फी रु. १० दरमहा आहे. तेव्हा तुम्हीही १० रुपये देत जा. २५ रुपयांची गरज नाही." केवढा हा प्रामाणिकपणा ! आर्थिक व्यवहाराची केवढी ही शुद्धता ! स्वतःचे उत्पन्न कमी करून शिवाय मुक्त हस्ताने विद्यादान करणारे आमचे गुरू केवढे थोर !

श्री. पु. रा. पंडित, पुणे

विद्यालयापासून मिळालेला पैसा कधी त्यांनी प्रपंचासाठी वापरला नाही. विद्यालयाचा हिशेब वेगळा असे. फीच्या पैशातून ते विद्यालयासाठी फर्निचर, वाद्ये, बैठकी, वगैरे खरेदी करीत. १९४२ साली विद्यालय रजिस्टर झाल्यानंतर पगारापोटी रु. २१०० मंडळाकडे जमा होते. ते त्यांनी विद्यालयास दिले आणि त्यातून परीक्षांत प्रथम, द्वितीय क्रमांकांनी उत्तीर्ण होणाऱ्या विद्यार्थ्यांना पारितोषिके देण्यात येतात. संगीत स्पर्धाही ठेवल्या जातात.

१०. राष्ट्रप्रेम तथा व्यक्तित्व के विशिष्ट पहलू

श्री. यशवंत श्रीधर मराठे, पुणे

माझ्या क्लासमधील विशेष प्रावीण्य मिळालेल्या विद्यार्थ्यांचे कौतुक करण्यासाठी पं. विनायकबुवा यांना मी बोलावले. त्यांनीही कबूल केले. पण प्रत्यक्ष समारंभाच्या वेळी बुवांना येण्यास एक तास उशीर झाला. मी बराच विचार करून कार्यक्रम वेळेवर सुरू केला. पण कार्यक्रम आधी सुरू केल्याबद्दल बुवा रागावतील की काय, अशी भीती वाटत होती. म्हणून बुवा हजर होताच मी त्यांची भीत भीत माफी मागितली. पण बुवा रागावले तर नाहीतच. उलट त्यांनी माझे अभिनंदन केले, व सांगितले की

कार्यक्रम वेळेवर सुरू झालाच पाहिजे. मग ते गाणाऱ्या विद्यार्थ्यांसमोर जाऊन बसले आणि त्यांना मोकळेपणाने प्रोत्साहन देऊन गुणदोष सांगितले.

श्री. वि. सी. गोडबोले, पुणे

पुण्याच्या ' जॉली क्लब 'चे अध्यक्ष बॅरिस्टर गाडगीळ होते. मास्तर कृष्णराव, पं. विनायकबुवा, सरदार आबासाहेब मुजुमदार, पंडितराव नगरकर हे सन्मान्य सदस्य होते. एकदा अध्यक्ष बॅरिस्टर गाडगीळ विनायकबुवांना म्हणाले, " तुम्ही साक्या, दिंड्या, वगैरे सगळे प्रकार म्हणता मग लावणी म्हणून दाखवा." तेव्हा बुवांनी " पंचकल्याणी घोडा अबलख " ही अवघड लावणी उत्तम रीतीने म्हणून दाखवली. मात्र " मी लावणी म्हटली हे बाहेर कोणाला सांगू नका. " अशी अट त्यांनी सर्वांना घातली !

श्री. म. रा. गंधे, पुणे

(१) संगीतकलानिधी मास्तर कृष्णराव यांच्या झिंजोटी रागातील चालीसह ' वंदे मातरम् ' हे राष्ट्रगीत व्हावे असा प्रयत्न चालू होता. त्याचाच एक भाग म्हणून पुण्याच्या गोखले हॉलमध्ये सभा भरली होती. अनेक मान्यवर संगीतज्ञांची भाषणे सभेत झाली. सर्वांनी मास्तरांची चाल उत्कृष्ट असून ती चाल राष्ट्रीय चाल होण्यास हरकत नाही, असे मत व्यक्त केले. विरोधी भाषण फक्त पं. विनायकबुवा यांचेच झाले. ते इतके प्रभावी झाले की, त्यामुळे सभेचा संपूर्ण नूर पालटला आणि अध्यक्ष रँग्लर परांजपे म्हणाले की, हा प्रश्न सर्व संगीतज्ञांनी एकत्र येऊन सोडवला पाहिजे. नुसता ठराव करून उपयोग नाही.

(२) स्वातंत्र्यानंतर आकाशवाणीच्या पुनर्घटनेच्या कामात त्या वेळचे आकाशवाणी मंत्री डॉ. बाळकृष्ण केसकर यांनी कलावंतांची ऑडिशन टेस्ट घेऊन त्यांचा वर्ग व फी ऑडिशन बोर्डाने कायम करावी, अशी योजना सुरू केली. पं. विनायकबुवा या योजनेचे खंदे पुरस्कर्ते होते. पण अन्य मान्यवर कलाकारांचा विरोध होता. तो व्यक्त करण्यासाठी पुण्यात साहित्य परिषद सभागृहात एक सभा भरली होती. मास्तर कृष्णराव अध्यक्ष होते. या योजनेस विरोध म्हणजे बुवांना विरोध. त्याप्रमाणे काही वक्त्यांची जोरदारपणे भाषणे झाली. पण त्यानंतर सभेत खुद्द विनायकबुवांचे आगमन झाले. त्यानंतर सभेचा संपूर्ण नूर पालटला. वक्त्यांच्या बोलण्यातला आवेश नाहीसा झाला. सर्व वक्ते गुळमुळीतपणे बोलले. बुवांच्या समोर नवीन योजनेस कडवा विरोध करण्याचे धैर्य कोणासही झाले नाही. नुसत्या उपस्थितीने सभेवर प्रभाव पाडण्याचा पराक्रम बुवांनी केला. " विनायकबुवांना बोलू द्या " अशी मागणी अनेक श्रोत्यांनी केली. पण अर्थातच ती अध्यक्षांनी मान्य केली नाही.

श्री. बबनराव कुलकर्णी, पुणे

१९४० सालची गोष्ट. एकदा मी जमखिंडीकर वाड्यासमोरून चाललो होतो. माझ्याबरोबर एक विद्यार्थी होता व तो चार-पाच पावले पुढे चालला होता. बुवांनी वरून पाहिले. पळत खाली आले. मला म्हणाले, "बबनराव, बरोबर कोण आहे?" मी म्हणालो, "हा विद्यार्थी आहे." लगेच त्या विद्यार्थ्याला ते म्हणाले, "बबनराव डोळ्यांनी अधू आहेत, हे माहीत नाही का? त्यांचा हात धरून चालायला काय हरकत आहे? ते पडल्यानंतर हात धरून काय उपयोग?" विद्यार्थ्याने लगेच माझा हात धरला!

Shri. Prahlad Chandra Das, Dibrugarh, Assam

He was a man of religion and piety. He believed that music is a gateway to Heaven and always tried to realise God through music. He sang in different temples and his motto of life was complete surrender of oneself to God. God is omnipotent, omniscient and omnipresent being and though there are different paths, the goal of mankind is the same. For Guruji, music was the path for attainment of nearness to God, and he treated on the path with unshaken belief and conviction.

श्री. पु. रा. पंडित, पुणे

बुवा उत्तर हिंदुस्थानात दौऱ्यावर असताना त्यांचा प्रभाकर नावाचा २-३ वर्षांचा मुलगा आजारी पडून वारला. औषधपाण्याची उत्तम व्यवस्था करूनही उपयोग झाला नाही. बुवांना तारेने हकीकत कळवली. मी सर्वांत ज्येष्ठ व विश्वासू असल्याने मला फार हळहळ वाटत होती. बुवा गावाहून परत आले आणि मी अत्यंत खिन्नपणे त्यांना भेटलो. तेव्हा ते म्हणाले, "होणाऱ्या गोष्टी होऊन जातात. तुम्ही फार वाईट वाटून घेऊ नका." मीही त्या दिवशी जलशात व्यवस्थित गायलो. फक्त 'जोगी मत जा' हे भजन मात्र मी इतक्या तन्मयतेने गायलो की तसे पूर्वी कधी गायलो नाही आणि पुढेही कधी गाईन की नाही शंकाच आहे. तात्पर्य, बुवांनी स्थितप्रज्ञतेने हा आघात झेलला.

श्री. प्राणलाल शाह, संगीत अलंकार, अहमदाबाद

पं. विनायकराव जी राष्ट्रभक्त थे। स्वेदेशी वस्तुओं का उपयोग करना पसंद करते थे। राष्ट्रीय कार्य क्रमों में राष्ट्रगीत गाने के लिए अवश्य जाते थे। उन दिनों, कॉंग्रेस अधिवेशन के साथ संगीत संमेलन का भी आयोजन होता था। पंडितजी अवश्य जाते थे। हरिपुरा कॉंग्रेस के अधिवेशन के समय पं. खरे जी का निधन हुआ। तब महात्मा गांधीजी ने पंडित जी को अपनी कुटिर में बुलाकर कहा कि खरेजी के पुत्र और पुत्री को विशेष रूप से संगीत की शिक्षा दो। इस प्रसंग का मैं स्वयं गवाह हूं।

श्री. दत्तात्रय केशव आगाशे, पुणे

(१) पुण्यात डेक्कन जिमखान्यावर पं. मल्लिकार्जुन मन्सूर यांची गाण्याची बैठक होती. मी गाणे ऐकण्यास गेलो होतो. या कार्यक्रमास पुण्यातील सर्व संगीतज्ञ, कलाकार, हजर होते. वाद्ये लागली होती व गाणे सुरू होणार होते. एवढ्यात पं. विनायकबुवा हे तिकीट काढून सभागृहात आले आणि श्रोत्यांमध्ये बसले. तेवढ्यात पं. मल्लिकार्जुन यांनी त्यांना पाहिले आणि दोन्ही हात वर करून हाक मारली, "बुवासाहेब पुढे या." त्याप्रमाणे बुवा उठले आणि पुढे येऊन बसले. मग पं. मल्लिकार्जुन यांनी बुवांना विचारले, "बुवासाहेब, तंबोरे बरोबर लागले आहेत काय?" बुवांनी मान डोलावली आणि गाणे सुरू झाले. बुवा येऊन बसल्यापासून संपूर्ण सभागृहावर त्यांचा एक प्रकारचा विशिष्ट प्रभाव जाणवत होता.

(२) अंदाजे १९५७ साल असेल. विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालयाची तपासणी करण्यासाठी सरकारी इन्स्पेक्टर म्हणून एक बाई आल्या होत्या. सुरुवातीपासूनच त्यांनी आपला वचक संस्थेवर बसविण्यासाठी दरडावणीच्या स्वरात सर्वांशी बोलण्यास सुरुवात केली. शिक्षकांची माहिती विचारताना, विद्यालयातील इतरांशी बोलताना याच पद्धतीने त्यांनी संभाषण केले. त्यानंतर बुवांचे आगमन विद्यालयात झाले; आणि काय झाले कुणास ठाऊक! पण त्या बाई एकदम मेणाहुनी मऊ झाल्या! बुवा येण्यापूर्वीचा त्यांचा नूर आणि आल्यानंतरचा नूर यात जमीनअस्मानाचा फरक पडला. अत्यंत मृदू शब्दांत त्यांनी बुवांना आपल्या येण्याचे कारण सांगितले आणि बुवाही त्यांना मानाने ऑफिसमध्ये घेऊन गेले. बुवांच्या व्यक्तिमत्त्वाचा केवढा हा प्रभाव!

११. अविस्मरणीय घटनाएं

पं. राम मराठे, ठाणे

पं. विनायकबुवा यांना मी १९२९ साली प्रथम पाहिले. त्या वेळी इचलकरंजीचे महाराज संगीत रसिक श्रीमंत बाबासाहेब घोरपडे यांच्या अध्यक्षतेखाली गोपाळ गायन समाजातर्फे टिळक स्मारक मंदिरात बक्षिस समारंभ आयोजित केला होता. या समारंभास मला तबला वादनातील नैपुण्याबद्दल महाराजांचे हस्ते एक पुस्तक बक्षीस देण्यात आले. या समारंभात हजर असणाऱ्या विनायकबुवांशी पुढे माझा घनिष्ठ संबंध येणार आहे, याची कल्पनाही नव्हती.

पं. स. भ. देशपांडे, औरंगाबाद

१९३५ ते ४५ हा काळ पं. विनायकराव पटवर्धन, पं. नारायणराव व्यास, पं. वामनराव पाध्ये, पं. ओंकारनाथ ठाकूर या विष्णु दिगंबरांच्या शिष्यांनी अक्षरशः गाजवला होता. विनायकबुवाही गाण्याबरोबरच अन्य सद्गुणांमुळे रसिकांना अधिकच प्रिय झाले होते. असे असूनही श्रोत्यांकडून अपमानित होण्याचा एक प्रसंग त्यांच्यावर आला होता. पण बुवांची धडाडी, समयसूचकता आणि आव्हान स्वीकारण्याची प्रवृत्ती यांच्या जोरावर या अपमानाचे रूपांतर सन्मानात करून दाखविण्याची किमया बुवांनी केली.

१९३८ ची गोष्ट. दिल्लीत अखिल भारतीय संगीत संमेलन आयोजित करण्यात आले होते. पं. नारायणराव व्यास व पं. विनायकराव पटवर्धन यांची गाणी त्यात होती. दोन दिवसांचा एकूण कार्यक्रम. पहिल्या दिवशी शेवटी नारायणराव व्यासांचा कार्यक्रम झाला आणि दुसऱ्या दिवशी शेवटी फिल्मी जगतातील लोकप्रिय गायकनट कुंदनलाल सहगल व त्यांच्या आधी विनायकबुवा, असा क्रम होता. अर्थातच सिनेसंगीताच्या शौकिनांची प्रचंड गर्दी उसळली होती. या लोकांना शास्त्रोक्त संगीताची मुळीच आवड नव्हती. त्यांना हवे होते सहगलचे सिनेसंगीत त्यामुळे त्यांनी सुरुवातीपासूनच कार्यक्रम पाडण्यास सुरुवात केली. कलाकार स्टेजवर येऊन बसला की लोक टाळ्या वाजवून, आरडाओरडा करून कार्यक्रमात विक्षेप आणीत. चार-पाच कलावंतांची याप्रमाणे लोकांनी त्रेधातिरपीट उडवली. पं. विनायकरावांची वेळ आली. त्यांना काहींनी सल्ला दिला, "ऐसे शोरगुल में आप मत गाइये। सब लोग फिल्मी संगीत के शौकीन हैं। आप का गाना नहीं सुनेंगे। आप का अपमान करेंगे।" यावर बुवा म्हणाले, "आज यहां सब लोग फिल्मी गाने के लिए आये आये हैं यह बात स्पष्ट है। फिर भी अगर उन्हों ने मेरा कार्यक्रम शांति से सुन लिया, तो वह मेरी बडी कामयाबी होगी। यह

मेरी संगीत की साधना को चुनौती है और मैं उस को जरूर स्वीकार करूंगा।"

पंडितजींचा कार्यक्रम सुरू झाला. विलंबित ख्यालाच्या घोळात न पडता बुवांनी अडाणा रागातील वरच्या 'सा' वर सम असलेली 'कहीं देखेरी घनशामा' ही चीज सुरू केली. वरचा षड्ज असा काही परिणामकारक लावला की सभागृहात पूर्ण शांतता निर्माण झाली. मग त्यांनी ताना, सरगम, लयकारी, यांची अशी बरसात सुरू केली की श्रोते मुग्ध व आश्चर्यचकित झाले. पंधरा मिनिटांत त्यांनी अडाणा राग संपवला. लोकांनी पसंतीची टाळी दिली. अर्थात पंडितजींनी अर्धी बाजी मारली. पण तरीही काही खवचट लोकांचे काही आवाज बुवांच्या कानावर आलेच. लगेच त्यांनी भजन म्हणण्याचा आपला बेत बदलून अडाणा रागातील तराणा सुरू केला. अत्यंत द्रुत लय, भिन्न भिन्न लयीतील 'दिर दिर' ची कसरत, गाण्यातील प्रचंड आवेश, यामुळे हा तारणा श्रोत्यांना निराळ्याच विश्वात घेऊन गेला. सात-आठ मिनिटात तराणा संपला पण टाळ्यांचा असा काही कडकडाट झाला की अभूतपूर्वच ! बुवा स्टेजवरून उठून आपल्या जागेवर जाईपर्यंत कडकडाट चालू होता. अशा रीतीने पंडितजींनी अपमानाचे रूपांतर बहुमानांत करून आपले निरपवाद श्रेष्ठत्व केले.

ही घटना येथे संपलेली नाही. यानंतर सर्वांचा लाडका सिनेनट कुंदनलाल सहगल यांचे गाणे होते. ते स्टेजवर आले आणि गाण्याऐवजी त्यांनी बोलायलाच सुरवात केली. ते म्हणाले, "आप लोगों ने तालिया बजाकर और शोरगुल मचाकर बडे बडे कलाकारोंका अपमान किया है। और वह भी मेरे गाने के लिए। इससे मैं लज्जित हुआ। हूं। जिन्होंने अपनी पूरी उम्र संगीत साधना के लिए बिताई है, ऐसे ये श्रेष्ठ कलाकार है। इन कलाकारों के पास बैठने की भी मेरी योग्यता नहीं है। ऐसी अवस्था में अगर आज मैं गाऊंगा तो मैं भी इन महानुभोवों का अपमान करने ने में सहभागी हो जाऊंगा। इसलिए मै आज इस मंच पर नहीं गाऊंगा। प्रार्थना है कि आप भी ऐसी गलती फिर कभी न करें।" एवढे बोलून श्री सहगल खाली उतरले आणि संगीत सभा समाप्त झाली.

श्री. रामचंद्र केशव पर्वते, पुणे

इ. स. १९२८ मध्ये पं. विष्णु दिगंगर यांच्या यांच्या उपस्थितीत पुणे येथील विजयानंद थिएटरांत पलुसकराचे दिग्गज शिष्यचतुष्टय पं. नारायणराव व्यास, पं. वामनराव पाध्ये, पं. ओंकारनाथ ठाकूर व प. विनायबुवा पटवर्धन यांची गाणी झाली. शिवाय मास्तर कृष्णराव कुलंब्रीकर, पं गोविंदराव देसाई, वगैरे अनेकांचे कार्यक्रम झाले. या सर्वच कार्यक्रमांत विनायकबुवांचा विशेष दबदबा जाणवला.

एकदा वर्गात शिकवताना एक विशिष्ट 'जागा' मुलांना काही केल्या म्हणता

येईना. बुवा ऐकत होते. एकदम म्हणाले, "त्यांना स्वर सांगा म्हणजे येईल." तसे तसे केल्याने खरोखरच आले दुसऱ्या एका प्रसंगी बुवा म्हणाले, "मी तुमच्यासमोर विद्यार्थि म्हणून बसतो. मला शिकवा" मी बुवांना 'सारेगम पधनीसां' हे शुद्ध स्वर म्हणायला सांगितले. बुवा चुकत माकत मुद्दाम म्हणाले. मी पुन्हा पुन्हा दुरुस्त करून सांगितले. मग ते बरोबर म्हणाले.

बुवांच्या कनिष्ठ कन्या मंगलाताई यांच्या लग्नात भोजन प्रसंगी सर्वांनी श्लोक म्हटले. मलाही आग्रह केला. तेव्हा बुवा म्हणाले, "हं, होऊ द्या आता. पर्वत पे अपना डेरा" अशी माझ्या नावावर कोटी केली.

पं. द. कृ. जंगम, मुंबई

ज्या दिवशी त्यांचे निधन झाले, त्या दिवशी त्यांची व नारायणराव व्यासांची जुगलबंदी मुंबईस होती. त्याआधी कल्याण गायन समाजांत विष्णु दिगंबर पुण्यतिथीचा कार्यक्रम होता आणि दुसऱ्या दिवशीं चेंबूरला. पं. ए. पी. नारायणगावकर यांच्या विद्यालयात त्यांचा सत्कार होणार होता. तसे पत्र त्यांनी मला लिहिले होते आणि त्यांचे मिरजेचे तिकिटही रिझर्व करण्यास लिहिले होते. पण नियतीला हे मंजूर नव्हते! नियतीच्या व बुवांच्या इच्छेत फारच फरक पडला! नियतीने त्यांच्या फार दूरवरच्या व कायमच्या प्रवासाचे तिकिट रिझर्व केले होते!

श्री. मुकुंद उपासनी, पुणे

दिनांक २६-१२-६४ रोजी रात्री माझे वडील श्री. माधवराव उपासनी यांच्या एकसष्टी निमित्ताने बुवांचा कार्यक्रम ठरला होता. लांबचा प्रवास करून दुपारी बुवा जळगावी आले. पण बुवांचा आवाज बसला होता की बुवांना बोलता सुद्धा येत नव्हते. मग कसे गाणार? आम्ही सगळे काळजीत पडलो. बुवा म्हणाले, "मला पूर्ण विश्रांती घेऊ द्या. मला कोणालाही भेटू देऊ नका." त्याप्रमाणे आम्ही व्यवस्था केली. कार्यक्रमापूर्वी आवाजाचा अंदाज घेतला. पण आवाज सुटलेला नव्हता. प्रत्यक्ष कार्यक्रमाला बुवा उपस्थित झाले, सत्कार, भाषणे, वगैरे उपचार झाले. संध्याकाळपर्यंत काळी २ चा 'सा'ही लावू न शकणाऱ्या बुवांनी एकदम पांढरी चारवर वाद्ये मिळविण्यास सांगितले. आम्ही थक्क झालो. बुवांनी सुरवात केली. आणि काय आश्चर्य! आवाज उत्कृष्ट लागला! गाणे अति उत्तम झाले. सर्व लोक खूष झाले. गाणे संपल्यानंतर बुवा म्हणाले, "आता आवाजाचे काही का होईना!"

श्रीमती हिराबाई बडोदेकर, पुणे

मुंबईचे नाट्यक्षेत्रातील कार्यकर्ते डॉ. भालेराव यांनी मला एकदा विचारले, "तुम्ही मुंबईला सौभद्रात सुभद्रेची भूमिका कराल का ? अर्जुनाचे काम विनायकबुवा करणार आहेत." मी त्यांना म्हणाले, "विनायकबुवांना चालेल का ? ते स्त्रियांबरोबर काम करीत नाहीत." पण विनायकबुवा तयार आहेत असे डॉ. भालेराव म्हणाले. त्याप्रमाणे प्रयोगाच्या वेळी आम्ही थिएटरवर जमलो. मी बुवांना विचारले, "पहिल्या अंकात मी मूर्च्छा येऊन पडते. त्यावेळी तुम्ही मला सावरणार ना ? नाही तर मी खरोखरच धाडकन् पडेन." बुवा हो हो म्हणाले. पण प्रत्यक्ष त्या प्रसंगाच्या वेळी मी मूर्च्छा आल्याचा अभिनय केला आणि अंग झोकून दिले. पण बुवांचा हात मला सावरण्यासाठी पुढे आला नाही आणि मी खरोखरच खाली पडले ! नंतर मी बुवांना म्हणाले, "असे का केले ? मला का नाही सावरले ?" बुवा म्हणाले, "मी घाबरलो. चुकलंच माझं."

सौ. नलिनी शं. जोशी, कलकत्ता

पंडितजींचं गायन आणि त्यांचं चारित्र्य याबद्दल कलकत्त्यातील जनमानसात अत्यंत आदराचं स्थान होतं. तेथे पंडितजींना सर्वत्र फार मान मिळे. उत्तर कलकत्त्यात विवेकानंद रोडवर मेहतांच्या बंगल्यात त्यांच्या सत्काराचा कार्यक्रम होता. आम्ही पंडितजींच्याबरोबर बंगल्यावर गेलो. पंडितजींना घेऊन ते दुसऱ्या दालनात गेले. आम्ही श्रोत्यांच्यात जाऊन बसलो. आमच्याचकडे पंडितजी उतरतात हे कळल्यावर आसपासचे लोक आमच्याकडे कौतुकानं पहात होते. जिज्ञासेनं काही प्रश्नही विचारत होते. इतक्यात शंखवादनाचा आवाज ऐकू येऊ लागला. आमच्या सर्वांच्या नजरा प्रवेशद्वाराकडे वळल्या. अग्रभागी बंगालमधील प्रथेप्रमाणे दोन सुवासिनी शुभसूचक शंख फुंकीत होत्या. पाठीमागून कंठात पुष्पमाला धारण केलेले, मस्तकावर पुष्पांचा मुगुट असलेले पंडितजी मंदगतीनं येत होते. बरोबरीचे लोक, जयजयकार करत होते. सभागृहात त्यांच्याकरता सुशोभित आसन सुसज्ज ठेवलं होतं. टाळ्यांच्या कडकडाटात त्यावर ते विराजमान झाले. स्वागताध्यक्षांनी पायाला हात लावून वंदन केलं व प्रास्तविक भाषण केलं. नंतर सत्काराचा कार्यक्रम सुरू झाला.

वेदशास्त्रपारंगत असे सातआठ ब्राह्मण त्यांच्या सभोवती उभे होते. त्यातीलच एकाने रेशमी वस्त्रात बांधलेली पोथी काढून वाचण्यास आरंभ केला. संस्कृतमध्ये पंडितजींच्या जीवनाचा आलेख त्यात ग्रंथित केला होता. त्याला 'विनायक महिमा' असं म्हणावयास हरकत नाही. खडतर बालपण, कलासाधनेकरता घेतलेले अविरत परिश्रम अखिल भारतात गाजवलेल्या मैफली संगीताच्या प्रसाराकरता केलेलं लेखन व प्रचार संगीतविषयक पुस्तकांची प्रसिद्धी, त्यांचं यशस्वी गृहस्थी जीवन, विशुद्ध आचरण या

सर्व पैलूंचा उल्लेख होता. वाचन संपल्यावर सर्व ब्राह्मणांनी त्यांच्या मस्तकावर हात उंच धरून उच्चस्वरानं संस्कृत श्लोक म्हणून 'जीवेत शरदः शतम्' असा आशिर्वाद दिला. 'ठलुआ क्लबचं' बोधचिन्हही श्रीशंकराचा त्रिशूल असल्यानं साऱ्या समारंभाला एक प्रकारचं उदात्त रूप आलं होतं. पंडितजींनी उत्तरादाखलही हिंदीत मार्मिक भाषण केलं. मग त्यांचं गायन झालं. त्यांचा आवडता 'जयजयवंती' खूपच रंगला. श्रोत्यांनी अंतःकरणपूर्व दाद दिली.

१२. धार्मिकता तथा निर्लोभीपन

Shri B. F. Bode, bune

I have heard Shri Vinayakrao Patwardhan on many occasions performing before Meher Baba. Every time Baba used to expess to the devotees gathered around him that Shri Vinayakrao was an extremely pure soul, devoted 100% to the art of music which he expressed as one of the manifestations of the Divinity. Baba also used to say that Shri Patwardhan fully believes that He i. e. Baba is the Avtar of the age and Ram, Krishna, Buddha and Christ re-born in human form ouce again for his spiritual mission on earth.'Baba used to invite Shri Patwardhan invariably whenever he was in Poona and would express his extreme pleasure after each performance and would embrace him and present him with some moments or the other.

I remember one special occasion when during the East West Gathering in 1962, Baba wanted Shri Vinayakrao to give a performance before a large gathering of all westerners who had come from all over the world to attend the unique gatherings of all Baba's Eastern and Western devotees that ever took place. The performance was to be in the morning at about 10 a. m. and the word

was sent to Shri Patwardhan to give a performance. Shri Vinayakrao, however, declined stating that he had to catch a train for Lucknow the same morning and therefore could not be able to attend. However, Baba insisted that he should come for half an hour at least to give his performance and thereafter he would be escorted straight to the railway station, to catch the train in time we all remember Shri Vinayakrao Patwardhan coming that morning which was the 4th of November 1962, and rendering a ' Tarana ' in Bhairavi Raag before a spell-bound Western audience. The ovation and applause that he received was thunderous and Baba embraced and showered his blessings on him and as promised, ordered him to be escorted to the railway station.

प्रा. श्री. वि. दा. घाटे, पुणे

(१) पं. विनायकबुवांना पैशाचा लोभ नसे. विद्या त्यांनी विकली नाही. पैशासाठी आपले ब्रीद त्यांनी सोडले नाही. पंजाबातील माउन्ट गुबरी या गावी तेथील एका म्युझिक सर्कलच्या बोलावण्यावरून बुवा तेथे गाण्यासाठी गेले. मला साथीसाठी बरोबर घेऊन गेले. तेथे गेल्यावर समजले की त्यांचा कार्यक्रम रद्द झाला आहे. नारायणराव व्यास आले होते. त्यांचा कार्यक्रम नक्की केला होता. पण बुवा एका अक्षरानेही काही बोलले नाहीत वास्तविक दोघांचा खर्च करून ते गाण्यासाठी इतक्या दूर गेले होते. पण त्याची खंत न बाळगता ते सरळ मुक्कामाच्या जागी येऊन गाढ झोपी गेले. ते पाहून नारायणराव व्यास म्हणाले, " यांचा कार्यक्रम रद्द झाला म्हणून आमची झोप उडाली. पण यांना त्याचं काही आहे का ? आपले खुशाल घोरताहेत." बुवा गाण्यासाठी बिदागी सांगत नसत. गाणे झाल्यानंतर मिळेल ती बिदागी घेत, धार्मिक कार्यक्रम पुण्यतिथी, गुरुजींच्या प्रीत्यर्थ कार्यक्रम अशा ठिकाणी ते पैसे मागत नसत.

(२) त्यांचा स्वभाव त्यागी होता. याचे एक मोठे उदाहरण म्हणजे १९४२ साली पुण्याचे गांधर्व महाविद्यालय रजिस्टर केले. म्हणजे भारतीय संगीत प्रसारक मंडळ या संस्थेच्या ताब्यात त्यांनी दिले. तोपर्यंत विद्यालय हे पूर्णपणे बुवांच्या स्वतःच्या मालकीचे होते. त्यातील प्रत्येक वस्तु त्यांच्या कमाईची होती. पण विद्यालय सोडताना त्यांनी फक्त तंबोऱ्याची एक जोडी, एक तबला-डग्गा, एक हातोडी व एक केझरील

हार्मोनियम (पॅरिस सूर) एवढेच सामान घेतले आणि ते विद्यालयाच्या बाहेर पडले. अन्य कशाचा लोभ धरला नाही. संगीत समाजासाठी आहे. संगीताची संस्था समाजाच्या मालकीची असावी समाजानेच ती चालवावी हाच लोकशाही प्रधान विचार आणि त्यासाठी हा त्याग ! अलौकिक निर्ममवृत्ती हाच एक शब्द यांस शोभेल !

पं. भीम शंकर राव, हैदराबाद (आंध्र)

आन्ध्र प्रदेश में गुंटुर जिले के तेनालि शहर में एक अत्यंत पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष थे। प्रतिवर्ष वहां श्री पंचमुखी हनुमान जी का जयति महोत्सव बड़े पैमाने पर होत था। मै स्वयं इस महानुभाव का शिष्य होने से प्रतिवर्ष जाता हूं। आंध्र प्रदेश और तामिलनाडू के प्रसिद्ध गायक-वादक कलाकार वहां संगीतसेवा करने के हेतु जाते हैं। सन १९५४ या १९५५ की बात है। एक बार मैं स्वामी से मिलने गया था। तब बातचीत के दौरान स्वामी जी मुझसे बोले, "इस बार हनुमान जयंती उत्सव के लिए तुम्हारे गुरु पं. विनायकराव जी को बुलाओ।" मुझे आश्चर्य हुआ कि स्वामी जी पंडित जी को कैसे पहचानते हैं ? फिर भी मैने स्वामी जी के आदेश के अनुसार पंडित जी को पत्र लिखकर कार्यक्रम के लिए आमंत्रण दिया। पंडित जी ने भी आमंत्रण को स्वीकार किया और लिखा कि दिल्ली में ऑडिशन बोर्ड की जरूरी सभा में उपस्थित रह कर ग्रेंड ट्रंक एक्सप्रेस गाडी से उत्सव के दूसरे दिन तेनालि पहुंचूंगा। आप स्टेशन पर आइयेगा। उस पत्र से मुझे बडा आनंद हुआ और मै पंडितजी का स्वागत करने के लिए विजयवाडा स्टेशन पर गया। लेकिन पंडित जी उस गाडी से नहीं आये। वे दूसरी गाड़ी से तेनालि स्टेशन पर ही उतर गये। मैं भी वहां गया और उनका स्वागत किया। बाद में मैं ने उनसे प्रार्थना की कि आप रिक्षा से कार्यक्रम-स्थल जाएंगे। लेकिन पंडितजी ने पैदल चलना ही पसंद किया और हम पैदल ही कार्यक्रम के स्थल पर उपस्थित हुए।

उसी दौरान कार्यक्रम के अखिरी दिन पर मैंने मेहसूस किया कि पंडितजी खुश नहीं है। उन के मन में कुछ दुख है। मैंने बारबार उससे पूछा तब बोले, "मेरी धर्मपत्नि की तबीयत ठीक नहीं है। बहुत औषधोपचार करनें पर भी कोई सुधार नहीं हो रहा है।" यह सुनकर मैंने मन ही मन स्वामीजी से प्रार्थना की कि गुरुपत्नी की प्रकृति जल्द ही अच्छी हो जाय। उत्सव के अखिरी दिन पर स्वामी जी को करीब बुलाया, हाथ में गंध और भस्म दिया और बोले, "इस भस्म को दूध में मिलाकर हररोज रत्तीभर बीमार पत्नी को पिलाओ। सब कुछ ठीक हो जाएगा।" हम अचरज में पड गए कि बिना कुछ कहे स्वामी जी हमारे मन की बात कैसे जान गए ! अस्तु। इसके बाद पंडितजी विजयवाडा रवाना हुए। वहां कनकदुर्गा

समिती सभा में कार्यक्रम सादर करने के बाद होते हुवे पंडितजी पूना की ओर गये। पूना पहुंचने के बाद कुछ दिनों में पंडितजी से पत्र आया कि अब पत्नीकी बीमारी हट गयी है और तबीयत काफी सुधार गयी है।

डॉ. भा. वा. आठवले, देवगड

आमच्या वार्षिक स्नेहसंमेलनात बुवांचे गाणे ठरविण्यासाठी त्यांना भेटून आमंत्रण दिले. बुवांनी लगेच स्वीकारले. कार्यक्रमाच्या ठिकाणी टांग्यातून स्वखर्चाने वेळेवर आले आणि दीड तास गायले. रागांची माहिती सांगून गायले. गाणे झाल्यानंतर कोणतीही अपेक्षा न करता परत गेले. धन्य तो कलाकार !

१३. नाम माहात्म्य

श्री. वसंतराव पटवर्धन, पुणे

काही कामासाठी पंजाबातील एका आडवळणी गावात गेलो होतो. एका गृहस्थाने मला नाव विचारले. तेव्हा मी 'पटवर्धन' म्हणून सांगितले. त्यावर तो पंजाबी गृहस्थ म्हणाला, "गानेवाले जो पटवर्धन हैं, उनके आप रिश्तेदार हैं क्या?" यावरून पंजाबात बुवांचे नाव गायक म्हणून सर्वतोमुखी झाल्याचे दिसून येत.

१४. मान्यवर व्यक्तियों के प्रशंसोद्‌गार

संगीतभूषण पं. राम मराठे, ठाणे

मोठमोठ्या युगपुरुषांचे कार्य त्यांच्या पश्चात समर्थपणे चालू ठेवणाऱ्या व्यक्ती सहसा आढळत नाहीत. परतु गंधर्व कंपनी सोडल्यानंतर कै. विणु दिगंबर पलुसकरांचे संगीत प्रचाराचे कार्य पुण्यनगरीत गांधर्व महाविद्यालय स्थापून, शिस्तप्रिय प्राचार्य म्हणून पं. विनायकबुवा हे लौकिकास पात्र ठरले. भारतीय संगीताची ध्वजा अखेरपर्यंत फडकत ठेवली. शिवाय उत्तम गायक व गुरू म्हणूनही नाव अजरामर करून ठेविले. त्यांतल्या त्यात ख्याल व तराणा गायक म्हणूनही त्यांचे नाव अमरच आहे.

श्री. दि. शं. मांडके, वाल्हे, पुणे

पं. विनायकबुवांनी गायनाचार्य रामकृष्णबुवा वझे यांच्याकडून चिजा घेण्यासाठी त्यांचा गंडा बांधला, त्यावेळी गायनाचा कार्यक्रम पुण्याच्या किर्लोस्कर थिएटरमध्ये झाला. या कार्यक्रमात बुवांचे गाणे अत्यंत उत्कृष्ट झाले. इतके की स्वतः वझेबुवांनी तसे जाहीरपणे सांगितले, व मग आपले गायन सुरू केले,

गायनहिरा श्रीमती हिराबाई बडोदेकर, पुणे

बनारसमध्ये एकदा बुवा कंठे महाराज व सभता या दोन तबलजींच्या साथीबरोबर गायले. फारच छान गायले. त्यांच्या कलेबद्दल वादच नाही. ते तराणा फार चांगला गात. त्यांच्यासारखा तराणा मी कोणाचा ऐकला नाही. बनारसमध्ये एका प्रसंगी लोकांनी त्यांना आग्रहाने तराणा म्हणायला लावले आणि तराणा गाऊन झाल्यानंतर लोक म्हणाले, 'अब गाना पूरा हुआ' प्रत्येक कॉन्फरन्समध्ये त्यांचा कार्यक्रम असायचाच. कोणत्याही गवयानंतर गायला ते कधी भीत नसत. आत्मविश्वास दांडगा होता. त्यांच्याबरोबर मी सौभद्र, मानापमान, एकच प्याला, विद्याहरण या नाटकांत कामे केली. ते अभिनयही उत्तम करीत.

मास्टर कृष्णराव, पुणे

पं. भास्करबुवा बखेले यांचे शिष्य व सुप्रसिद्ध गायक मास्तर कृष्णराव फुलंब्रीकर यांचा आणि पं. विनायबुवा यांचा संगीतांतर्गत काही विषयांवर जाहीर वाद सुरू होता. दोघेही साप्ताहिकांतून लेख लिहीत आणि एकमेकांची विधाने खोडून काढीत. संगीताची रसिक मंडळी चविष्टपणे हे लेख वाचीत असत. याच वेळेस पुण्याच्या गांधर्व महा· विद्यालयाच्या स्नेहसंमेलनात अध्यक्ष म्हणून मास्तरांना बोलाविले गेले. मास्तरांनीही आमंत्रण स्वीकारले. संमेलनाच्या दिवशी नू. म. वि. च्या सभागृहात रसिकांची चिक्कार गर्दी झाली. या दोघांचा जाहीर वादविवाद चालू असताना मास्तरांना बोलावले गेले आणि मास्तरांनीही आमंत्रण स्वीकारले, याचा लोकांना अचंबा वाटत होता. समारंभात बुवांनी मास्तरांच्याविषयी अत्यंत आदरपूर्वक उद्गार काढले. नंतर मास्तर आपल्या भाषणांत म्हणाले, " माझे नाव कृष्ण आहे. आणि विनायकबुवा हे आमच्या सौभद्रातले अर्जुन आहेत. अर्थात आमचा वादविवाद म्हणजे कृष्णार्जुन–युद्धच होय· मतभिन्नता असली, तरी आम्ही दोघे एकच आहोत." (श्री. म. रा. गंधे–संस्मरण)

श्री. करुणाशंकर ठाकुरिया, गुवाहाटी, आसाम

गुरुवर्य पं. विनायकरावजी गुवाहाटी आये थे। मैं उन से मिला और गाना सिखाने के लिए प्रार्थना की। पंडित जी राजी हो गये। मेरी आर्थिक परीस्थिति ठीक न होने के कारण मुझे खाना देने को भी राजी हुए। उसी वक्त वहां पं. रातंनजनकरजी उपस्थित थे। वे मुझे बोले, "तुम्हारी किस्मत अच्छी है। भारत के प्रसिद्ध संगीतज्ञ और कलाकार तुम्हें खाना खिलाकर सिखाने को राजी हुए हैं। उन्हें छोड़ो नहीं, वरना पछताओगे!"

षष्ठ विभाग

परिशिष्टे

परिशिष्ट

परिशिष्ट क्र. १

पं. विनायकराव जी पटवर्धन की जन्म-लग्न-पत्रिका

श्रावण शु. ४ वि. संवत् १९५५ प्रातः
जन्म दिनांक—२२ जुलै १८९८
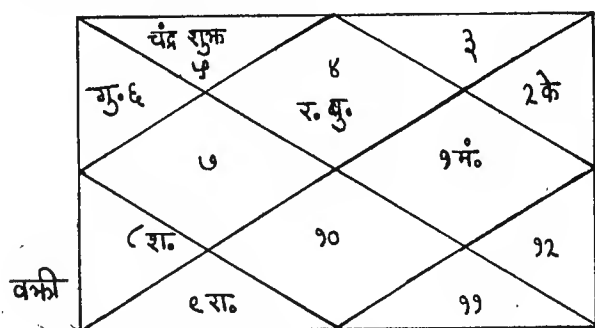
॥ शुभं भवतु ॥

परिशिष्ट क्र. २

पं. विनायकराव जी का जीवनपट

दिनांक	घटना
२२–७–१८९८	मिरज में जन्म। जन्मतिथि श्रावण शुक्ल चतुर्थी–१८९८ ई.
१९०२	पहले माताजी का और आठ-दस महीनों के बाद पिता जी का निधन।

दिनांक	घटना
१९०३	मौजीबंधन–विधि संपन्न ।
१९०५	विषम ज्वर से बीमार । बाद में शालेय शिक्षा और संगीत-शिक्षा का प्रारंभ ।
मार्च १९०७	मिरज रियासत के अधिपति श्रीमान् बालासाहब पटवर्धन द्वारा दी गयी छात्रवृत्ति (मासिक रुपये सोलह) के बल पर संगीत की शिक्षा पाने के लिए पं. विष्णु दिगंबर जी के गांधर्व महाविद्यालय, लाहौर, की ओर प्रयाण। यात्रा के दौरान अजमेर में दो महीनों तक वास्तव्य । जून १९०७ में लाहौर पहुंचे । वहां सन १९१४ तक रहे और संगीत की शिक्षा ग्रहण की ।
१९०८	दशहरे के शुभ अवसर पर पं. विष्णु दिगंबर द्वारा बंबई में गांधर्व महाविद्यालय का शुभारंभ ।
१९१३	गांधर्व महाविद्यालय, बम्बई, के भवन का शिलान्यास ।
दिसंबर १९१३	इन्दौर में रियासत के अधिपति श्रीमान् तुकोजीराव होलकर के विवाह-समारोह में गायन । रुपये पाँच सौ नकद और महावस्त्र भेंट में प्राप्त ।
अप्रैल १९१४	संगीत-शिक्षा के लिए प्राप्त शिष्यवृत्ति की कालमर्यादा समाप्त होने के कारण मिरज में आगमन । सितंबर १९१७ तक मिरज में ही निवास ।
१९१४ (तक)	निचले स्वर में याने कोमल निषाद सुर में (सफेद एक से भी कम सुर में) गाते थे ।
१९१५	लगातार रियाज़ के बल पर गांधार सुर में (सफेद तीन) सुर में गाने लगे ।
१९१५	मिरज में विट्ठल मंदिर में गायन हुआ । गायन सुनने के लिए पुराने ज़माने के मशहूर महफिली गायक और संगीत नाटक के अभिनेता केशवराव जी भोसले उपस्थित थे ।
१९१६	लगातार प्रयत्नों के फलस्वरूप मध्यम सुर में (सफेद चार पट्टी में) गाने लगे । प्रथम विवाह संपन्न हुआ । वधू जोशी, नामक घराने की थी ।
१९१८–१९१९	बंबई में संगीत-परिषद में स्वतंत्र गायन हुआ । गाना सुनने के लिए पं. बालकृष्णबुवा, पं. भास्करबुवा बखले, पं.

दिनांक	घटना
	रामकृष्णबुवा वझे, पं. अनंत मनोहर जोशी, पं. गुंडूबुवा इंगले, उस्ताद रहमत खां, आदि उच्च कोटि के कलाकार उपस्थित थे । इसी समय से तराना गाने का अभ्यास खास तरीके से शुरू हुआ । रहमत खांसाहब की गायन-शैली से प्रभाव ग्रहण करने के फलस्वरूप तराने की ओर अधिक आकृष्ट हुए ।
१९१९	रहमत खांसाहब के साथ तानपूरे पर साथसंगत करने का सुअवसर बहुत बार प्राप्त हुआ ।
१९१७ से १९२५	इस कालखड में परात्पर गुरु पं. बालकृष्णबुवा के साथ तानपूरे पर साथसंगत करने का सुअवसर बहुत बार प्राप्त हुआ ।
दिसंबर १९१९ और जनवरी १९२०	पं. बालकृष्णबुवा से १००–१५० चीजें शुद्ध करा लेने की वजह से इचलकरंजी में निवास ।
२० जनवरी १९२०	प्रथम पत्नी का देहावसान ।
२२ जून १९२२	श्री गोविंदराव मराठे की कन्या राधाबाई के साथ दूसरा विवाह संपन्न ।
अप्रैल १९२१ से मई १९३२ तक	गांधर्व महाविद्यालय की नागपुर शाखा पर व्यवस्थापक की हैसियत से नियुक्ति; मासिक तनख्वाह रुपये साठ । सोलह रुपये भोजन-खर्च के लिए मिलते थे ।
६ अगस्त १९२२	गंधर्व नाटक मंडली में प्रवेश ।
१३ अगस्त १९२२ (रविवार)	'सौभद्र' नाटक में 'नारद' का पार्ट प्रस्तुत किया ।
२९ अक्तूबर १९२५	पांचगनी में प्रथम पुत्र श्री नारायणराव जी का (आज के 'अ. भा. गांधर्व महाविद्यालय मंडल' के उपाध्यक्ष) जन्म ।
२५ दिसंबर १९२५	हिज मास्टर्स वॉइस (HMV) कंपनी द्वारा पहला ग्रामोफोन रेकॉर्ड प्रकाशित । इसमें पंडित जीने राग अड़ाना का छोटा खयाल (परदेसवा...) और तराना गाया है ।
८ और ९ मार्च १९२६	साबरमती में महात्मा गांधी जी की प्रार्थना के समय पर दो गाने गाये । महात्माजी से प्रथम परिचय इसी समय हुआ ।
१० अक्तूबर १९२७	नासिक शहर स्थित पी. डब्ल्यू. डी. क्लब में गाना हुआ । जो मानधन प्राप्त हुआ, उससे ९४½ तोले वजन का चांदी का बर्तन खरीदा ।

दिनांक	घटना
५, ६, ७ जुलै १९२८	'महाराष्ट्र संगीत परिषद' का आयोजन। स्वर्गीय न. चिं. केलकर जी अध्यक्ष। विनायकराव जी कार्यवाह। संगीत में हिंदी की बंदिशों के स्थानपर बोधगम्यता के हेतु मराठी बंदिशें प्रयुक्त करनेका प्रस्ताव पारित हुआ।
१६ जुलै १९२८	गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर जी से यादगार के रूप में एक चीज मांगी। गुरुदेव ने गेरुए रंग की एक शाल प्रसादस्वरूप दे दी।
२४-५-१९२९	पुणे की वसंत व्याख्यानमाला में दो हजार श्रोताओं की उपस्थिति में 'संगीत मराठीकरण' विषय पर भाषण हुआ।
१९-११-१९२९	द्वितीय पुत्र रामचंद्र का जन्म।
२१ अगस्त १९३१	गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर जी का मिरज में देहावसान।
२९ सितंबर १९३१	मिरज रियासत के अधिपति श्रीमंत मिरजकर ने बापूराव पलुसकर के प्रतिपालन के लिए रुपये १२५ हर मास देना शुरू किया।
२९ सितंबर १९३१	'संत कान्होपात्रा' नाटक का पहला प्रयोग रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया जिसमें प्रमुख पार्ट अदा किया गया और/उन्हों ने दस गीतों का स्वरसंयोजन भी।
२३,२४ दिसंबर १९३१	लाहौर में पंडित जी की अध्यक्षता में संगीत-परिषद संपन्न हुई और पहली बार हिंदी में भाषण दिया।
३०, ३१ दिसंबर १९३१	सब गुरुबंधुओं का संमेलन हुआ। पं. विष्णु दिगंबर जी का कार्य आगे चलाने के लिए 'गांधर्व महाविद्यालय मंडल' संस्था की स्थापना। पंडित जी पहले अध्यक्ष।
८ मई १९३२	पुणे शहर में गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना।
२७ जून १९३२	'माधुरी' नामक फिल्म में नायक का काम करना शुरू। यह फिल्मी क्षेत्र में पहला व अंतिम कदम रहा।
१० अगस्त १९३२	गुरुदेव पं. विष्णु दिगंबर का प्रथम पुण्यस्मरण कार्यक्रम श्रावण शुद्ध अष्टमी के दिन संपन्न हुआ।
८ अक्तूबर १९३२	पं. रामकृष्णबुवा वझे से गंडाबंध शिष्य के रूप में गायन-शिक्षा लेना प्रारंभ।
सितंबर १९३३	कन्यारत्न का जन्म। नाम कमल।

दिनांक	घटना
फरवरी १९३४	बिहार के भूचाल-पीड़ितों की सहायता के लिए गांधर्व महाविद्यालय की ओर से कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।
मार्च १९३४	कर्नाटक के जमखिंडी रियासत के अधिपति की कृपा से, वर्षप्रतिपदा के शुभ मुहूर्त पर, गांधर्व महाविद्यालय पुणे के विशाल जमखिंडीकर भवन में स्थानांतरित।
७ मई १९३४	पुणे की वसंत व्याख्यानमाला में 'राग, रस और भावना- विषय पर भाषण हुआ।
२६-९-१९३४	पंडित जी की शिष्याओं-लीला लिमये, इंदु सोहनी और सीता माविनकुर्वे को अलाहाबाद में प्रयाग संगीत समिति द्वारा आयोजित संगीत परिषद में 'श्री नायटिंगेल्स्' नामक उपाधि प्रदान की गयी।
४-४-१९३७	पुत्र मधुसूदन का जन्म। जो आज संगीत-प्रसार का कार्य करने में मनोयोग से रत हैं।
२६-३-१९३९	कन्या मंगला का जन्म।
अप्रैल १९४२	गांधर्व महाविद्यालय, पुणे का पंजीकरण किया गया और उसे 'भारतीय संगीत प्रसारक मंडल' नामक संस्था के हाथों सौंप दिया गया। विद्यालय की नियमावली तैयार की गयी।
१-५-१९५२	पुणे में 'विष्णु दिगंबर संगीत महाविद्यालय' की स्थापना।
१९५३	आकाशवाणी के ऑडिशन बोर्ड पर नियुक्ति।
२४ अगस्त १९५४	भारतीय सांस्कृतिक शिष्टमंडल के सदस्य के नाते रूस को प्रयाण।
३ नवंबर १९५४	रूस की यात्रा पूरी कर पुणे में आगमन।
२१ सितंबर १९५६	नेपाल देश का दौरा। उनके साथ पं. मुकुंदराव गोखले पुत्र मधुसूदन; शंकरराव बिनीवाले (व्हायलिन) और दतोपंत राऊत (तबला) गये थे।
२० से २२ जुलई १९५८	षष्ट्यब्दीपूर्ति के अवसर पर पुणे में बडा अभिनंदन-समारोह। तीन दिनों की संगीत महफिल और 'संशयकल्लोळ' नामक संगीत नाटक का प्रस्तुतीकरण।
२८ नवंबर १९५८	पुणे महानगरपालिका के शताब्दी-महोत्सव के अवसर पर मान-चिह्न प्रदान किया गया।

दिनांक	घटना
१९६०	संत मेहेरबाबा के सम्मुख गायन।
२८ अगस्त १९६३	नेपाल-नरेश और राष्ट्रपति राधाकृष्णन् इन दोनोंकी उपस्थिति में गायन।
२४ दिसंबर १९६५	'संगीत नाटक अकादमी' की फेलोशिप प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथों प्राप्त।
१३, १४ मार्च १९६६	दिल्ली विश्वविद्यालय में संगीत-शिक्षा के विषय पर व्याख्यानों का आयोजन।
१४ अक्तूबर १९६६	पं. नारायणराव व्यास जी के साथ जुगलबंदी की ध्वनिमुद्रिका प्रकाशित हुई।
१९ नवंबर १९६६	उदयपुर में संगीत-परिषद में गायन।
१७ फरवरी १९७१	द्वितीय पत्नी श्रीमती राधाबाई का निधन।
१९७१	पुणे के 'भरत नाट्य मंदिर' की ओर से वृद्ध अभिनेताओं का सम्मान किया गया। इसमें पंडित जी का समावेश था।
१९७१	स्वर्गीय बालगंधर्व की पुण्यतिथि के अवसर पर 'संगीत संशयकल्लोल' नाटक में नायक का पार्ट अदा किया।
१९७१—७२	श्री ब्रिजनारायण जी की संस्था की ओर से पंडित जी को 'स्वरविलास' की उपाधि प्रदान की गयी।
२६ जनवरी १९७२	'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान करने का निर्णय घोषित हुआ।
२५ मार्च १९७२	'पद्मभूषण' की उपाधि राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति वी. वी. गिरी के हाथों प्रदान की गयी।
११ जनवरी १९७३	'मुंबई मराठी साहित्य संघ' का मानद सभासदत्व प्राप्त हुआ।
१९७३	तानसेन समारोह के अवसरपर, ग्वालियर नगरपालिका निगम की ओर से मान-चिह्न प्रदान।
१९७५	श्री अक्कलकोट स्वामी संगीत संसद की ओरसे 'सूरयोगी' उपाधि और मानचिह्न प्रदान।
२३ अगस्त १९७५	पुणे के डॉ. प्रयाग अस्पताल, डेक्कन जिमखाना में महा-निर्वाण।

परिशिष्ट क्र. ३

स्व. पं. विनायकराव जी की कुछ महफिलें

दिनांक	महफिलों का वर्णन
१९ मार्च १९२६	बड़ौदा में श्रीमंत राणीसाहब चिमणाबाई के सम्मुख स्वर्गीय बालगंधर्व, मास्टर कृष्णराव और पं. विनायकराव जी का गायन-कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। पंडित जी ने इस कार्य-क्रम में राग दरबारी, जयजयवंती, देस, काफी, इन रागों का गायन किया।
९ जून १९२८	पुणे के दगडू हलवाई दत्त मंदिर के वर्धापन दिन के अवसर पर गायन।
२५ जून १९२८	सांगली शहर में देवल क्लब की सहायता के लिए कार्यक्रम हुआ जिसमें बालगंधर्व, मास्तर कृष्णराव और पं. विनायक-राव जी ने गायन पेश किया।
३ फरवरी १९३०	पुणे में 'भारत गायन समाज' नामक संस्था में गाने का कार्यक्रम हुआ।
१९ मार्च १९३०	श्रीमंत माधवराव नारायणराव पटवर्धन, युवराज मिरज संस्थान, के मौजीबंधन-समारोह में गायन।
२८ सितंबर १९३०	नासिक शहर में श्री. शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी जी ने 'संगीत चूडामणि' की उपाधि और शाल देकर पंडित जी को सम्मानित किया।
२४ व २५ दिसंबर १९३२	लाहौर शहर में गायन के तीन कार्यक्रम हुए।
२७ से २९ दिसंबर १९३२	जालंधर शहर में हरवल्लभ संगीत मेले में गाने के पांच कार्यक्रम हुए। वहां के श्रोताओं ने भी पंडित जी का बड़ा सम्मान किया।
९ से १२ मार्च १९३३	शिकारपुर (सिंध) शहर में होली के त्यौहार के अवसर पर गाने के कार्यक्रम हुए।
१३ से १६ मार्च १९३३	सक्कर (सिंध) शहर में होली के त्यौहार के अवसर पर गाने के कार्यक्रम हुए।
१८ से २० मार्च १९३३	हैदराबाद (सिंध) शहर में होली के त्यौहार के अवसर पर कई कार्यक्रम हुए।

दिनांक	महफिलों का वर्णन
२४ मार्च १९३३	कराची शहर में 'शिकारपुर संगीत समाज' ने मानपत्र दे कर सम्मानित किया।
२७ अक्तूबर १९३३	काशी में हिंदू युनिवर्सिटी के सर्कल में कार्यक्रम हुआ।
दिसंबर १९३४	बनारस की सप्त दिवसीय संगीत-परिषद में कार्यक्रम हुआ। इस कार्यक्रम में राग जौनपुरी प्रस्तुत किया और बाद में 'जोगी मत जा' यह भजन, जिसकी स्वररचना स्वयं पंडित जी ने ही की थी, प्रस्तुत किया और श्रोताओं को अपने गुरु स्व. पं. विष्णु दिगंबर जी की याद दिलायी।
नवंबर १९३७	के कावसजी जहांगीर हॉल में हिंदुस्थानी म्युज़िक कॉन्फरन्स संपन्न हुई। इसमें अल्लादिया खां साहब, फैयाझ खां साहब जैसे उच्च कोटि के कलाकारों के सम्मुख गायन पेश किया। दरबारी कानड़ा राग इतनी तैयारी के साथ प्रस्तुत किया कि उपस्थित श्रोताओं ने "वाहवा, खूब रंग जमाया, ग्वालियर की खुली आवाज़ आज सुनने को मिली," ऐसे उत्स्फूर्त उद्गार सुनाए।
१९४२	होली के त्यौहार में शिकारपुर (सिंध) शहर में स्वर्गीय पं. सुरेशबाबू माने, पं. शिवकुमार शुक्ल, पं. भाईलाल (पंजाब) इन कलाकारों के साथ गाने के कार्यक्रम हुए। श्रोतृवृंद में खासकर सिंधी व्यापारी वर्ग के लोग थे।
१९४२	सक्कर (सिंध) शहर में सेठ तुलसीदास जी की खास विनंति के अनुसार पं. विनायकराव जी, पं. वामनराव जी पाध्ये और पं. नारायणराव जी व्यास इन तीनोंका एकसाथ गाने का कार्मक्रम याने 'तिगलबंदी' का कार्यक्रम संपन्न हुआ। इस कार्यक्रम में बागेश्री राग की 'कौन गत भई' यह बंदिश तीनों दिग्गजों नें सवा घंटे तक गायी।
१९४३	शिकारपुर (सिंध) में होली के त्यौहार संगीत-सम्मेलन में 'काली तीन' पट्टी में गायन प्रस्तुत किया। यह गायन इतनी ऊंची पट्टी में डेढ़ घंटे तक प्रस्तुत किया।
१९४४	बम्बई युनिवर्सिटी के द्विसहस्र संवत्सरी के उपलक्ष्य में कॉन्वोकेशन हॉल में प्रस्तुत किये संगीत-सम्मेलन में कार्यक्रम हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेनेवाले अन्य कलाकारों के

दिनांक	महफिलों का वर्णन
	नाम इस प्रकार थे – अल्लादिया खां साहब, फैयाज खांसाहब, बडे गुलाम अली खांसाहब, अझमत हुसेन खांसाहब, पं. ओंकारनाथ ठाकुर, सिद्धेश्वरीदेवी, खांसाहब विलायत हुसेन खां, बुर्जी खां, मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर।
१९४६	कलकत्ता में श्री लालाबाबू खन्ना द्वारा आयोजित संगीत-सम्मेलन में गायन हुआ। अन्य कलाकार थे खां बडे गुलाम अली खां, पं. ओंकारनाथ ठाकुर और बाई केसरबाई केरकर।
१९४८	बेलगांव (कर्नाटक) में आर्ट सर्कल और कलाकार मंडल द्वारा आयोजित कार्यक्रम में गायन हुआ। राग मलार और बहार, नाट्यगीत और 'जोगी मत जा' यह भैरवी-भजन प्रस्तुत किया।
१९५०	हरिद्वार में संगीत-सभा में गायन।
१९५८	दादर में पंडित जी की षष्ठयब्दी पूर्ति के लिए आयोजित संगीत-समारोह में 'संपूर्ण मालकंस' राग बड़ी बहारदार रीतिसे प्रस्तुत किया। श्रोतृवृंद में पं. मनहर बर्वे, पं. वामनराव सड़ोलीकर थे। 'सूर सिंगार संसद' की ओरसे जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था, उसमें पांच नारायणों को इकट्ठा किया गया था। वे इस प्रकार थे (१) पं. **नारायणराव** व्यास, (२) स्वयं विनायक **नारायण** पटवर्धन, (३) श्री. **नारायणराव** इंदैरकर (तबला) (४) पं. राम **नारायण** (सारंगी) और (५) पं. ब्रिज**नारायण** जी जो इस कार्यक्रम के संचालक थे।

परिशिष्ट क्र. ४

स्वर्गीय विनायकराव की ध्वनिमुद्रिकाओं की सूची

अ – शास्त्रीय संगीत

अ. नं.	गीत का क्रम	राग	ग्रामोफोन कंपनी	रेकॉर्ड का क्रमांक
१	म्युझिक लेसन–१	बागेश्री	कोलंबिया	SPI 123460
२	,, – २	मालकंस	,,	,, ,,
३	,, – ३	काफी	,,	,, 1:3458
४	,, – ४	आसावरी	,,	,, ,,
५	,, – ५	भीमपलास	,,	,, 123459
६	,, – ६	दुर्गा	,,	,, ,,
७	,, – ७	भैरव	,,	,, 123456
८	,, – ८	खमाज	,,	,, ,,
९	,, – ९	यमन	,,	,, 124457
१०	,, –१०	पूर्वी	,,	,, ,,
१	जोगी मत जा, मत जा	भैरवी	हिज मास्टर्स वॉइस	N 5631
२	तराना	,,	,,	,, ,,
३	हरि भजन को मान रे	,,	,,	N 5615
४	सजन गर लागे या	जौनपुरी	,,	,, ,,
५	श्रीधर आगे नाचूंगी	बहार	,,	N 26000
६	सुंदर शाम देखन की आशा	जैजैवंती	,,	,, ,,
७	बोलन बिन कबहुं	मारवा	,,	N 4122
८	तराना	,,	,,	,, ,,
९	अब मैं अपने राम को रिझाऊं	सोहनी	,,	N 5610
१०	तू तो वाहु देस ना जा	बहार	,,	,, ,,
११	बादरवा घहरि आ ए	रामदासी मलार	,,	N 35465
१२	तराना	भूप	,,	,, ,,
१३	शरणागता प्रभु एक त्राता (मराठी)	अरबी	,,	N 5022
१४	आनंद नाद गंध (मराठी)	काफी	,,	,, ,,

अ. नं.	गीत का क्रम	राग	ग्रामोफोन कंपनी	रेकॉर्ड का क्रमांक
१५	करि दया देवा माधवा (मराठी)	काफी	,,	N 5011
१६	तराना	मलार	,,	,, ,,
१७	परदेसवा नित	अड़ाना	हिज मास्टर्स हॉइस	P 7645
१८	तराना	,,	,,	,,
१९	सपने में आये	पूरिया	,,	FT 2970 (twin)
२०	मधु बांसुरी प्यारी	मिश्र काफी	,,	N 26090
२१	भवन तें निकसे	सूरमलार	,,	,, ,,
२२	सुमिर हो नाम को	जौनपुरी	,,	N 5652
२३	गरजत आए	सूरमलार	,,	,, ,,
२४	सुमिर हो नाम को	जौनपुरी	,,	FT 5271 (twin)
२५	देखो सखी आज	मलार	,,	,, ,,
२६	रितु आई सावन की	जयंत मलार	,,	N 25849
२७	तराना	भूप	,,	N ,,

आ – सिनेमा-गीत

अ. नं.	गीत के बोल	राग	सिनेमा का नाम	ग्रामोफोन कंपनी	रेकॉर्ड का क्रमांक
१	अहंकार करके	मालकंस	माधुरी	हिज मास्टर्स वॉइस	N 5623
२	परसुख बनी तू कमला	काफी	,,	,,	,,
३	सरिता सुगंध शोभे	बहार	,,	,,	N 5622
४	कैसे देखूं कैसे माधुरी	तिलंग	,,	,,	,,

परिशिष्ट क्र. ५

विनायकराव की मराठी नाट्यगीतों की ध्वनिमुद्रिकाओं की सूची

अ. नं.	गीत के बोल	राग	नाटक	ग्रामोफोन कंपनी	ध्वनिमुद्रिका क्रमांक
१	अशि नटे ही चारुता	तिलंग	कान्होपात्रा	हिज मास्टर्स वॉइस	N 4135
२	पति तो का नावडे	पटदीप	,,	,,	,,
३	मी न वंचक	जैजैवंती	विधिलिखित	,,	N 5006
४	सांप्रत मज त्यजिले का	पहाड़ी	,,	,,	,,
५	वेध तुझा लागे सतत मनी	बिहाग	एकच प्याला	,,	P 8931
६	झणि दे कर या दीना	अड़ाना	,,	,,	,,
७	अखिल स्त्री जनांना	दुर्गा	विधिलिखित	,,	N 5002
८	धरि धवल यशाचि	अड़ाना	,,	,,	N 4276
९	होत भुवना वंद्य ते	बागेश्री	,,	,,	,,
१०	कविता नव योषिता	गरुड़ध्वनि	,,	,,	,,
११	तूं कां वदसि मला	सुहासुघराई	विद्याहरण	,,	P 1829
१२	विमल अधर निकटि	हमीर	,,	,,	,,
१३	रजनीनाथ हा नभी	कानड़ा	मृच्छकटिक	,,	P 7829
१४	आनंदे नटती	मलार	,,	,,	,,
१५	हरि तापा सकल स्पर्श	मुलतानी	नंदकुमार	हिज मास्टर्स वॉइस	P 9282
१६	चंद्रा समचि कुळांत	भीमपलास	द्रौपदी	,,	,,
१७	कुटिल हेतु तुझा फसला	बहार	संशयकल्लोल	,,	P 8746
१८	स्वकर शपथ वचनि	कामोद	,,	,,	,,
१९	वसुधातल रमणीय सुधाकर	बिलावल	एकच प्याला	,,	P 9688
२०	होतो द्वारका भुवनी	काफी	सौभद्र	,,	,,
२१	सोडी नच मजवरी	मालकंस	एकच प्याला	,,	P 9816
२२	गणिसि काय खल माते	बसंत	,,	,,	,,
२३	चंद्रिका ही जणूं	अरबी	मानापमान	,,	P8051
२४	माता दिसली	सिंधुरा	,,	,,	,,
२५	युवति मना दारुण रण	शंकराभरण	,,	,,	P 8050
२६	दे हाता शरणागता	आनंदभैरवी	,,	,,	,,

परिशिष्ट क्र. ६

पं. विनायकरावजी के ग्रंथों की सूची

अ. नं.	ग्रंथ का नाम	प्रकाशन–वर्ष	संस्करण–संख्या
१	नाट्यसंगीत प्रकाश–किरण १ ले	१९३०	...
२	महाराष्ट्र संगीत प्रकाश–किरण २ रे	१९३४	...
३	रागविज्ञान—प्रथम भाग	१९३६	१९५७ (सातवां)
४	,, द्वितीय ,,	१९३७	१९६१ (सातवां)
५	,, तृतीय ,,	१९३७	१९६० (छठा)
६	,, चतुर्थ ,,	१९३८	१९६८ (पांचवां)
७	,, पंचम ,,	१९३८	१९५५ (तीसरा)
८	,, षष्ठ ,,	१९५८	...
९	,, सप्तम ,,	१९६४	...
१०	माझे गुरुचरित्र	१९५६	...
११	बाल संगीत प्रथम भाग		
१२	,, द्वितीय भाग		
१३	,, तृतीय भाग		
१४	तबला मृदंग वादन पद्धति—भाग १		
१५	,, —भाग २		
१६	शालेय बालसंगीत भाग १		
१७	,, भाग २		
१८	,, भाग ३		

परिशिष्ट क्र ७

संगीत नाट्यभूमिकाओं की सूची

अ. नं.	भूमिका	नाटक का नाम	तिथि
१.	सूत्रधार	शाकुंतल, मृच्छकटिक, मानापमान, स्वयंवर, द्रौपदी	...
२.	कण्वमुनि	शाकुंतल	...

अ. नं.	भूमिका	नाटक का नाम	तिथि
३.	चंद्रापीड	शापसंभ्रम	...
४.	धर्म	”	
५.	अश्विनशेठ	संशयकल्लोल	दि. २८–११–१९२३
६.	धैर्यधर	मानापमान	दि. ९–१२–१९२३
७.	अर्जुन	सौभद्र	...
८.	भीष्मक	स्वयंवर	दि. ९–११–१९२४
९.	चारुदत्त	मृच्छकटिक	दि. १८–८–१९२४
१०.	शर्विलक	”	दि. १८–८–१९२४
११.	कृष्ण	नंदकुमार	दि. १८–१–१९१४
१२.	रामलाल	एकच प्याला	दि. २२–२–१९२५
१३.	सुधाकर	” ”	
१४.	विश्वामित्र	मेनका	दि. १३–५–१९२६
१५.	दुर्योधन	द्रौपदी	दि. ११–१–१९२७
१६,	कर्ण	द्रौपदी	
१७.	धनंजय	विधिलिखित	दि. ६–४–१९२८
१८.	विलास	कान्होपात्रा	

परिशिष्ट क्र. ८

पं. विनायकराव पटवर्धन के शिष्यों की सूची ।

(अकारादि क्रम से)

अ. नं.	नाम	पता
१	श्री अमीन कांतिलाल	'स्वरसंगम' १७, उषा सोसायटी, आनंद (गुजरात) ३८८००१
२	श्री अभ्यंकर नीलकंठ	'गोविंद सदन', पहला माला, शिवाजी पार्क रोड़ क्र. ४, दादर, बंबई, ४०००२८
३	श्री अभ्यंकर श्री. के.	विष्णुनगर, अप्पा पटवर्धन बाड़ा, म. गांधी रोड़, डोंबिवली–४२१३०३
४	श्री अवधानी के. एस.	सुसुवाही, सुंदरपुर, बी. ओ., बी. एच. क्यू., वाराणसी.
५	श्रीमती आपटे मंगला श्रीधर	७२४, रविवार पेठ, तांबोली मसजिद के सामने, पुणे–४११००२
६	श्रीमती आपटे मंगला	ब्लॉक. नं. १७, नरोत्तम हाऊसिंग सोसायटी, पंचवटी, 'कारंजा' के पास, नासिक, ४२२००३
७	श्री आगाशे दत्तात्रय केशव	८३६, सदाशिव पेठ, श्रीयशश्री सोसायटी, पुणे–४११०३०
८	श्री आठवले वि. रा.	एफ-५, नवप्रभात सोसायटी, विलेपार्ले (पूर्व) बम्बई–४०००५७
९	श्री आदित्य नारायण	कटक (ओरिसा)
९–A	श्री उपासनी मुकुंद माधव	६४, नारायण पेठ, पुणे–४११०३०
१०	श्री कल्याणी मुरलीधर बालकृष्ण	१३६, तिलकनगर, श्रीमती लागूजी का बाड़ा, इंदौर (पूर्व), ४५२००१
११	श्री काणे द. वि.	६०, तिलकरोड़, काणे वाड़ा, वॉर्ड नं. ४. इचलकरंजी ४१६११५
१२	श्री काणे नारायण श्रीपाद	पोस्ट कुरुंदवाड़, जि. कोल्हापुर, ४१६००६
१३	श्रीमती काशीकर सुधा	१४२०, सदाशिव पेठ, प्रभु श्रीराम अपार्टमेंट्स् ,पुणे ४११०३७
१४	श्रीमती कुलकर्णी पुष्पलता	पुष्पदीप, सॅलिसबरी पार्क, ४३४/२, पुणे–४११००१
१५	श्री कुलकर्णी विनायक रघुनाथ	११४४, बुधवार पेठ, तुलसीबाग के पास, कुलकर्णी फोटो स्टुडिओ, पुणे–४११००२
१६	स्व. कुलकर्णी गजाननराव	
१७	श्रीमती केलकर कमल मनोहर	९/१०४, बूढ़ा पारा, रायपुर (MP) ४९२००१
१८	स्व. केलकर लक्ष्मणराव	वाई (महाराष्ट्र)
१९	श्री केलकर नारायण महादेव	बंबई हाइकोर्ट, बंबई
२०	श्रीमती केसकर कालिंदी	११०/८' एरंडवणा, ब्लॉक नं. ५, अलमिरा सोसायटी, थोरात कालोनी, पुणे ४११००४

अ. नं.	नाम	पता
२१	श्रीमती केतकर कमल	ए–६, सारसनगर, सिद्धि विनायक सहकारी सोसायटी, ९८३/२ शुक्रवार पेठ, पुणे ४११००२
२२	श्री कोल्हटकर शंकर नारायण	द्वारा श्री. वा. ना. कोल्हटकर, वेस्ट हायकोर्ट रोड़, बजाजनगर, नागपुर–४४००१०
२३	श्री कोकजे अनंत केशव	प्लॉट नं. ५४६, फ्लॅट नं, C–१, वसंत फ्लॅटस्, नवाबगली, गोकुल पेठ, नागपुर–४४००१०
२४	स्व. खराड़कर जी. वी.	बंबई
२५	श्रीमती खरे मथुरीबेन नारायणराव	द्वारा भारतीय संगीत विद्यालय, टाऊन हॉल के सामने, एलीस ब्रिज, अहमदाबाद (गुजरात)
२६	श्री खरे वसंत रामचंद्र	सरोजकुंज, दंडे प्लॉट्स्, अमरावती
२७	श्री खलीकर नागेश शंकर	४८२, शनिवार पेठ मराठे बाड़ा, पुणे–४११०३०
२८	श्री खाड़ीलकर मधुकर रघुनाथ	२४, बुधवार पेठ, अप्पा बलवंत चौक, पुणे–४११००२
२९	श्री खाड़ीलकर राजाराम रघुनाथ	
३०	स्व. गोखले मुकुंद गोविंद	पुणे
३१	श्री गोखले प्रभाकर अनंत	३९२ A–५, शिवाजीनगर, हरिद्वार, कुसाळकर रोड़, पुणे—४११०१६.
३२	श्री गोखले शरद रघुनाथ	भागीरथी सदन, गाड़गीळ मार्ग, सदाशिव पेठ,—४११०३०
३३	श्री गोसावी वसंत श्रीपाद	'यशोदा' तिलक चौक, कल्याण गायन समाज के पास, कल्याण—४२१३०१
३४	श्री गंधे महादेव रामदास	५०३ B, कसबा पेठ, पुणे–४११०११
३५	श्री घाटे वि. दा.	भागवत बिल्डिंग, डेक्कन जिमखाना, संभाजी पुल के पास पास, पुणे–४११००४
३६	स्व. घाग रामचंद्र	पुणे
३७	श्री चावरे गजानन	पोस्ट मालेगाव, ता. बारामती, जिला पुणे
३८	श्री चंद्रचूड़ यशवंत	भारत के अवकाशप्राप्त सरन्यायाधीश, दिल्ली.
३९	श्री चंदूरकर रामभाऊ	निवास जोधपुर, राजस्थान.

अ. नं.	नाम	पता
४०	श्री जसवाल बलवंतराय	५३४/७ पार्क स्ट्रीट, सिविल लाइन्स, लुधियाना, पंजाब, १४१००६.
४१	श्री जानोरीकर त्रिंबक दत्तात्रय	१३६११५, कसबा पेठ, अगरवाल ब्लॉक्स, पुणे–४११०११.
४२	श्री जोग श. वि.	३६३।३, शिवाजीनगर, पुणे ४११००५
४३	श्री जोशी गोविंद पांडुरंग	मु. बाग, पोस्ट नगरगाव, वालपई (व्हाया) गोवा.
४४	श्री जोशी शंकर कृष्णाजी	५६, सहवास सोसायटी, कर्वेनगर पुणे–४११०२९.
४५	स्व. जोशी गुरुनाथ	
४६	श्री जंगम दत्तात्रय कृष्णराव	वल्लभदास तेजपालवाड़ी, रामजी असरलेन कमरा नं. ७, घाटकोपर, मुंबई–४०००७७.
४७	श्री ठाकुरिया करुणा शंकर	प्रिं. गांधर्व महाविद्यालय, खारघुली, गुवाहाटी, आसाम, पिन–७८१००४.
४८	श्री दास प्रह्लादचंद्र	बन्साबारी, दिब्रूगढ़, आसाम, पिन–७८६००१
४९	श्रीमती दास बाणी मंजिरी	(पता उपलब्ध नहीं हुआ)
५०	श्री दामले भालचंद्र चिंतामण	द्वारा वि. भा. दामले, १३, अनुराधा अपार्टमेंट्स्, अनुपम सोसायटी, वासणा बस स्टँड के पीछे, अहमदाबाद–पिन ३८०००७
५१	स्व. दांडेकर सीताराम हरि	
५२	श्री देशपांडे महादेव	द्वारा पं. विनयचंद्र मौद्गल्य, दिल्ली.
५३	श्री देशपांडे सखाराम भगवंत	२६, राधामोहन कालोनी, जीवन-विकास लायब्ररी के पास, औरंगाबाद.
५४	श्री पटवर्धन नारायण विनायक	सद्गुरुवास मंगलवाड़ी, आर. व्ही. देसाई रोड, बड़ौदा–३०००१.
५५	स्व. पटवर्धन रामचंद्र विनायक	
५६	श्री पटवर्धन मधुसूदन विनायक	४९५, शनिवार पेठ, पुणे–४११०३७.
५७	श्रीमती पटवर्धन सुधा मधुसूदन	४९५, शनिवार पेठ, पुणे ४११०३०.
५८	श्रीमती पटवर्धन मंगलाराजे	देवीभवन, हीराबाग, राजवाडा, मिरज ४१६४१०.

अ. नं.	नाम	पता
५९	श्री पटवर्धन विजय रघुनाथ	१२४, शुक्रवार पेठ, सुभाषनगर, पुणे–४११००२
६०	श्री पर्वते रामभाऊ	१९४, शुक्रवार पेठ, मधुस्मृति सोसायटी, पुणे–४११००२.
६१	श्रीमती पळसोकर शकुंतला	गजानन-निवास, रामदास पेठ, अकोला–४४४००१.
६२	स्व. पलुसकर दत्तात्रय विष्णु	पुणे
६३	श्रीमती पटनायक सुनंदा	राणीहाट, कटक (ओरिसा)
६४	श्री पानसे नारायण मोरेश्वर	१२१, कसबा पेठ, पुणे ४११०११.
६५	श्री पाटसकर रा. ना.	१६८।२ पाटसकर बिल्डिंग, जानकी-निवास पर्वती, पुणे–४११००१.
६६	श्री पोफलकर ल. वा.	तापड़िया नगर, अकोला, पिन–४४४००१.
६७	श्री पंडित पुरुषोत्तम राजाराम	संगमनगर, बिबेवाड़ी, पुणे–सातारा मार्ग, पुणे.
६८	श्री पिंपळखरे गंगाधर वामन	४३०, नारायण पेठ, पुणे ४११०३०.
६९	श्रीमती बर्वे प्रभावती	मु. पो. पापडी, ता. वसई, जि. ठाणे.
७०	स्व. बोगम नारायणराव	पुणे.
७१	श्री बोडस हृषिकेश	द्वारा श्रीहरेरामबुवा बोड़स, किला, मिरज–४१६४१०
७२	श्री मराठे धुंडिराज गोविंद	४९५, शनिपार पेठ, पुणे ४११ ०६०
७३	श्री मराठे जनार्दनपंत	गंधर्व विद्यालय, ५१८, रास्ता पेठ, पुणे ४११ ०११
७४	श्रीमती माविनकुर्वे	(पता उपलब्ध नहीं हुआ)
७५	श्री मेहेंदले यशवंत	नारायण पेठ, पत्र्या मारुती के पास, पुणे ४११ ०३०
७६	श्री मोडक नारायण गंगाधर	रोडरिग्ज ब्लॉक्स, देशपांडे नगर, हुबली (कर्नाटक)
७७	स्व. मोडक माधव लक्ष्मण	
७८	श्री मौद्गल्य विनयचंद्र	प्रिं. गांधर्व महाविद्यालय, विष्णु दिगंबर मार्ग, नई दिल्ली, पिन ११०००२
७९	श्रीमती पद्मादेवी मौदगल्य	"

अ. नं.	नाम	पता
८०	श्री रानडे विनायक लक्ष्मण	७९२, शिवाजीनगर, रत्नागिरी, ४१५६१२
८१	श्री रानडे भालचंद्र लक्ष्मण	"
८२	श्री राव भीमशंकर	१६-६१-७६१, दिलसुखनगर, हैद्राबाद ३६
८३	श्रीमती लिमये लीला (आंबेकर)	
८४	श्री शाह प्राणलाल	ई–२, न्यू अपर्णा फ्लॅट्स्, पाल्ड़ी बस स्टॉप के पीछे, अहमदाबाद ३८०००७
८५	श्री सिंह गजेन्द्रनारायण	१८३ बी, श्रीकृष्णपुरी, पटना–८००००१ (बिहार)
८६	श्रीमती सरदेसाई लीला मनोहर	मनहर संगीत विद्यालय, फायर ब्रिगेड़ के पास, बुधवार पेठ, पुणे–४११००२.
८७	श्री सहस्रबुद्धे दत्तोपंत	...
८८	श्री सोहनी गणेश सदाशिव	...
८९	श्री सोमण केशव	...
९०	श्रीमती सोहनी इंदू (केलकर)	...
९१	श्री क्षीरसागर बी. जी.	...

परिशिष्ट क्र. ९

पृष्ठदाताओं की सूची

इन महानुभावों ने प्रस्तुत ग्रंथ के लिए पृष्ठदान के रूप में राशि दी है।

अ. नं.	नाम	राशि रुपये
१	श्रीमती अनामिका	१००१
२	श्री. सोनिपत अहलावत	१००
३	श्री अभ्यंकर श्री के.	१००
४	श्रीमती अमरजीत कौर	१००
५	श्रीमती सीमरजीत मनुभाई	५००
६	श्री आगाशे जयशंकर	१०१
७	श्री द. के. आगाशे	१०१
८	श्रीमती आपटे मंगला श्रीधर	१०१
९	डॉ. आठवले भा. वा.	१०१
१०	श्री आठवले वि. रा.	२००

अ. न.	नाम	राशि रुपये
११	श्री ईश्वरलाल	२००
१२	श्री उपासनी मा. के.	१०१
१३	श्री उपासनी भु. मा.	२५१
१४	मेसर्स कन्सेप्ट इंजिनियर्स प्रा. लि.	१००
१५	श्री कर्तारसिंह	१००
१६	श्री कपूर हर्ष	१००
१७	श्री काणे द. वि.	२५०
१८	श्री काणे ना. श्री.	१०१
१९	श्री कीर्तिकर कुंजविहारी	१०१
२०	श्री कुलकर्णी पद्माकर	१०१
२१	श्री कुलकर्णी वि. र.	१००
२२	(स्व.) कुलकर्णी शि. वा.	१०१
२३	श्रीमती केलकर कमल	१०१
२४	श्रीमती कोरटकर सुहासिनी	१५०
२५	श्री कोगजे अ. के.	२००
२६	श्री कोल्हटकर शंकरराव	२००
२७	मेसर्स कॉम्पॅक्ट्स् लॅबोरेटरीज प्रा. लि.	१००
२८	श्री खाडिलकर म. र.	१५१
२९	श्री गोखले प्र. अ.	१०१
३०	श्री शरद व सौ. नंदा गोखले	१५१
३१	श्री गोखले रत्नाकर	१०१
३२	श्री गोडसे मधुकरराव	१०१
३३	श्री गोसावी वसंतराव	५०१
३४	श्री गुणे भा. स.	१०१
३५	श्री गंधे म. रा.	१०१
३६	गांधर्व महाविद्यालय, दिल्ली	१०००
३७	श्री घाटे वि. दा.	१००१
३८	श्री घोरपडकर वसंतराव	१०१
३९	श्रीमती चौधरी शारदाबाई	२०१
४०	श्री चंद्रशेखर	१००
४१	श्री जसवाल बलवंतराय	२५०

अ. नं.	नाम	राशि रुपये
४२	श्री जानोरीकर त्रि. द.	१०२
४३	श्री जावडेकर उद्धव घनश्याम	१०१
४४	श्री जोग शरच्चंद्र व्ही.	१००
४५	श्री जैन ओमप्रकाश	२०००
४६	श्री जोशी शं. कृ.	२५१
४७	श्री जंगम द. कृ.	१०१
४८	श्री ठाकुरिया करुणाशंकर	१०१
४९	श्री तलवलकर श्री. गो.	१०१
५०	श्रीमंत दगडूसेठ हलवाई गणपति ट्रस्ट, पुणे	१०१
५१	श्री दामले भा. चि.	२०१
५२	श्रीमती दातार सुवर्णा	१०१
५३	श्री दिवाण ना. वा.	१०१
५४	श्रीमती दीक्षित सुलोचना	१००
५५	श्रीमती देव कावेरी	१००
५६	श्री धनोपिया आर. डी.	१११
५७	श्रीमती पटवर्धन स्वाती	१०१
५८	श्री पटवर्धन गोविंदराव	१००
५९	श्री पटवर्धन म. वि.	१०१
६०	श्री पटवर्धन प्र. म.	१०१
६१	श्रीमती पळसोकर शकुंतला	१००
६२	श्री पानसरे वसंतराव	१०१
६३	श्री पिंपळखरे गं. वा.	१०१
६४	श्रीमती पेंडसे विजयाबाई	१०१
६५	श्रीमती प्रतिनिधी उमा	१०१
६६	श्री फडके सच्चिदानंद	१०१
६७	श्री बोड बी. एफ.	१०१
६८	श्री बोगमबंधु (कै. नारायणराव बोगम की स्मृति में)	१०१
६९	श्री भाटवडेकर मो. वि.	१०१
७०	श्रीमती रोहिणी भाटे	१०१
७१	श्री मर्चंट महेन्द्र	५०१
७२	श्री महाराष्ट्र निवास, कलकत्ता	५०१

अ. नं.	नाम	राशि रुपये
७३	श्रीमती मराठे मालिनी	१०१
७४	श्रीमती मिस्त्री आबान	१०१
७५	श्री माटे राम	१०१
७६	श्रीमती मोघे प्रभा	१०१
७७	मेसर्स एच. व्ही. मेहेंदले एंड सन्स	१०१
७८	श्री मौद्गल्य विनयचंद्र	१०००
७९	श्री रानडे अरविंद वि.	१०१
८०	श्री रानडे त्र्यं. न.	१०१
८१	श्रीमती राव संध्या	१०१
८२	श्री राव भीमशंकर	१५०
८३	श्री राठी हरिनारायण ट्रस्ट	१०१
८४	श्रीमती राय पूर्णिमा	१०००
८५	श्री रामस्वरूप	२००
८६	लायन्स क्लब, पुणे	२५०
८७	श्री लोहोकरे सु. वा.	१०१
८८	श्रीमती सुनीता प्रभाकर	१०१
८९	श्रीमती वैशंपायन भारती	१०१
९०	श्री शिरवलकर दामोदरबुवा	१०१
९१	श्री शाह प्राणलाल	५०१
९२	श्रीमती सबनीस जयश्री	१०१
९३	श्री सरदेसाई एम. व्ही.	१०१
९४	श्रीमती सरदेसाई लीला	१०१
९५	श्री साबडे द. शा.	१००
९६	श्री साने माधव दत्तात्रेय	१०१
९७	श्रीमती सुब्रमणियम भवानी	१०१
९८	श्रीमती सोहोनी विमल	१०१
९९	श्री स्वामी के. एन	१०१

[निवेदन – फरवरी १९८८ तक जिन सज्जनों ने पृष्ठदान किया है, उन्हींके नाम इस सूची में समाविष्ट हैं]

परिशिष्ट १०

स्वर्गीय पं. विनायकराव जी के स्मृतिदिन के अवसर पर जिन्होंने अपनी कला समर्पित की, उन कलाकारों की सूची।

प्रथम स्मृतिदिन

पं. मुकुंदराव जी गोखले, गायन
पं. भीमशंकर राव, गायन
पं. राजाभाऊ कोकजे, गायन
पं. डी. के. दातार, व्हायलिन–वादन
पं. कुमार गंधर्व, गायन
सौ. पद्मा तलवलकर, गायन
पं. सुरेश तलवलकर, तबला-वादन
पं. नारायणराव पटवर्धन, गायन
पं. भीमसेन जोशी, गायन
पं. वसंतराव आचरेकर, तबला साथ
पं. विनायकराव थोरात, तबला साथ
पं. अप्पा जलगांवकर, हार्मोनियम–साथ
पं. रामभाऊ पर्वतकर, हार्मोनियम–साथ
पं. मधुकर खाडिलकर, सारंगी–साथ

द्वितीय स्मृतिदिन

कु. जयश्री पाटकर, गायन
पं. राम नारायण, सारंगी–वादन
पं. डॉ. वसंतराव देशपांडे, गायन
पं. लालजी गोखले, तबला–साथ
पं. सुरेश तलवलकर, तबला–साथ.
पं. बंडोपंत साठे, हार्मोनियम–साथ

तृतीय स्मृतिदिन

पं. राजाभाऊ कोकजे, गायन
पं. ब्रिजनारायण, सरोद–वादन
पं. राम मराठे, गायन
पं. सूर्यकांत गोखले, तबला–साथ
पं. पेंढारकर, हार्मोनियम-साथ
पं. श्रीराम शहापुरकर, हार्मोनियम–साथ
पं. मधुकर खाड़िलकर, सारंगी–साथ
पं. सुरेश तळवलकर, तबला–साथ

चतुर्थ स्मृतिदिन

पं. महादेवराव गंधे, गायन
पं. मुकुंद उपासनी, गायन
पं. म. वि. पटवर्धन, गायन
पं. शरद गोखले, गायन
पं. उल्हास कुलकर्णी, तबला–साथ
पं. विष्णू मोकाशी, तबला–साथ
पं. दत्तोपंत राऊत, तबला–साथ
पं. रामभाऊ पर्वते, हार्मोनियम–साथ
पं. आरावकर, हार्मोनियम–साथ
पं. एकनाथ चव्हाण, हार्मोनियम–साथ
पं. मधुकर खाड़िलकर, सारंगी–साथ

षष्ठ स्मृतिदिन

पं. लक्ष्मणराव कृष्णराव, गायन
श्री माधव मोडक तबला–साथ
श्री श्रीराम शहापुरकर, हार्मोनियम–साथ

सप्तम स्मृतिदिन

पं. भीमसेन जोशी, गायन
श्री मोहन सबनीस, तबला–साथ
श्री बालासाहेब माटे, हार्मोनियम–साथ
पं. जसराज, गायन
श्री बाजीराव सोनवणे, तबला–साथ
श्री अप्पा जलगांवकर, हार्मोनियम–साथ

अष्टम स्मृतिदिन

पं. अजय पोहनकर, गायन
श्री आनंद बदामींकर, तबला–साथ
श्री बंडोपंत साठे, हार्मोनियम–साथ

नवम स्मृतिदिन

पं. मधुकरराव खाड़िलकर, गायन
श्री विनायक फाटक, तबला साथ
श्री अरविंद थत्ते, हार्मोनियम–साथ
सौ. मालिनी राजूरकर, गायन
श्री सुभाष कामत, तबला साथ
श्री अरविंद थत्ते, हार्मोनियम–साथ

दशम स्मृतिदिन

पं. जितेन्द्र अभिषेकी, गायन
श्री मंगेश मुले, तबला–साथ
श्री प्रमोद मराठे, हार्मोनियम–साथ

परिशिष्ट क्र. ११

लेख, संस्मरण और अन्य साहित्य भेजनेवालों की सूची

श्री कांतिलाल अमिन,
पं. जितेन्द्र अभिषेकी, पुणे
श्री के. एस. अवधानी, वाराणसी
श्री द. के. आगाशे, पुणे
डॉ. भा. वा. आठवले, देवगड
पं. वि. रा. आठवले, मुंबई
सौ. मंगला आपटे,
श्री मुकुंद उपासनी, पुणे
पं. द. वि. काणे, इचलकरंजी
श्री ना. श्री. काणे, कुरुंदवाड
श्री वि. र. कुलकर्णी, पुणे
श्री बबनराव कुलकर्णी, पुणे
श्रीमती कमल केतकर, पुणे
श्रीमती कालिंदी केसकर, पुणे
पं. अ. के. ऊर्फ राजाभाऊ कोकजे, नागपूर
पं. शंकरराव कोल्हटकर, नागपूर
पं. नागेश खळीकर, पुणे
श्री मधुकर खाडिलकर, पुणे
श्रीमती कमलाबाई गोखले, पुणे
श्री प्रभाकर अ. गोखले, पुणे
श्री वि. सी. गोडबोले, पुणे
पं. वसंतराव गोसावी, कल्याण
श्री श्री. म. गोडसे, पुणे
श्री महादेव रा. गंधे, पुणे
पं. वि. दा. घाटे, पुणे
पं. जसराज, मुंबई
पं. बलवंतराय जसवाल, जालंदर
पं. त्रि. द. जानोरीकर, पुणे
श्री शरश्चंद्र वि. जोग, पुणे
श्री बळवंतराव जोशी मिरज
पं. भीमसेन जोशी, पुणे
सौ. नलिनी जोशी, पुणे
श्री. शं. कृ. जोशी, पुणे
श्री. रामकृष्ण जोशी
पं. द. कृ. जंगम, मुंबई
पं. ठाकुर जयदेवसिंह, वाराणसी
श्री. ठाकुरिया करुणाशंकर, गुवाहाटी
श्री. श्रीकृष्ण तळवलकर, पुणे
श्री. प्रभाकर दातार, मुंबई
पं. उस्ताद दाऊदखान, हैदराबाद
श्री. दास प्रल्हाद चंद्रा दिब्रुगढ
पं. भा. चिं. दामले, अहमदाबाद
श्री. ल. द. दीक्षित ,मुंबई
श्री. व. ग. देवकुले, पुणे
श्री. दत्तोपंत देशपांडे, पुणे
पं. स. भ. देशपांडे, औरंगाबाद
श्री. वसंत शांताराम देसाई, पुणे
श्री. शिवरामबुवा दिवेकर, पुणे
श्री. आर. डी. धनोपिया; जबलपुर
श्री. नेने एस. आर.
पं. ना. वि. पटवर्धन; दिल्ली
डॉ. म. वि. पटवर्धन, पुणे
सौ. सुधा मधुसूदन पटवर्धन, पुणे
श्रीमंत मा. ना. पटवर्धन, पुणे
श्रीमंत सौ. इंदुमतीदेवी पटवर्धन, पुणे
श्रीमंत मंगलाराजे पटवर्धन, मिरज
श्री. विजय रघुनाथ पटवर्धन, पुणे
श्रीमती अंबूताई पटवर्धन, पुणे
श्री. भा. नी. पटवर्धन, पुणे
श्रीमती शकुंतला पळसोकर, अकोला
श्री. रामचंद्र केशव पर्वते, पुणे
श्री. श्रीपाद रामचंद्र पेंडसे, पुणे
सौ. विजयाबाई पेंडसे, पुणे
श्री. ल. वा. पोफळकर, अकोला
श्री. पु. रा. पंडित, पुणे
पं. गं. वा. पिंपळखरे, पुणे
श्री. बी. एफ. बोड, पुणे
श्रीमती हिराबाई बडोदेकर, पुणे
श्री. हृषिकेश बोडस, पुणे
डॉ. मो. वि. भाटवडेकर, पुणे
पं. राम मराठे, ठाणे
श्री. महेन्द्र मर्चंट, अहमदाबाद
श्री. य. श्री. मराठे, पुणे
श्री. जनार्दनपंत मराठे, पुणे
श्री. ना. गं. मोडक, हुबळी
श्री. दि. शं. मांडके, वाल्हे
डॉ. सुमती मुटाटकर, दिल्ली
श्री. ना. द. मुजुमदार, बडोदे
पं. विनयचंद्र मौद्गल्य, दिल्ली
पं. वसंतराव राजोपाध्ये, मुंबई
श्री. दत्तोपंत राऊत, पुणे
श्रीमती सरस्वतीबाई राणे, पुणे
श्री. त्र्यंबक नरसिंह रानडे, पुणे
पं. भीमशंकर राव, हैदराबाद
पं. विद्याधर व्यास, मुंबई
श्री. विश्वनाथ सीताराम शेवडे, पुणे
पं. प्राणलाल शहा, अहमदाबाद
श्री. चिंतामण लक्ष्मण शिंत्रे, मुंबई
श्री. बंडोपंत सोलापूरकर, पुणे
श्री. गजेन्द्र नारायण सिंह, पटना

परिशिष्ट क्र. १२

संगीत-सभाएं – भारत में और बाहर

महाराष्ट्र

मिरज, पुणे, सांगली कुरुंदवाड, इचलकरंजी, कोल्हापुर, सातारा, कऱ्हाड, ओगलेवाडी, सावंतवाडी, मुधोल, फलटण, किर्लोस्कर-वाडी, भुसावळ, जळगांव, नागपुर, अमरावती, अकोला, बुलढ़ाणा नांदेड, मुंबई, नासिक, मनमाड़, अहमदनगर, औरंगाबाद, लातुर, बार्शी, सोलापुर, अक्कलकोट, हुमणाबाद, वाई, पंढरपुर, मालवण, रत्नागिरी, गुहागर, चिपलुण, गणपतीपुळे, महाबलेश्वर ,पाचगणी

कर्नाटक

बेंगलोर, मैसूर, बेळगाव, हुबली, जमाखिंडी, रायचूर, गदग, लक्ष्मेश्वर, धारवाड़, कारवार, गुंटकल, गुलबर्गा

तामिळनाडू

मद्रास

केरल

त्रिवेंद्रम

आंध्र

हैदराबाद, विजयवाड़ा, वाल्टेअर

गोवा

पणजी, म्हापसा

मध्यप्रदेश

ग्वालियर, भोपाल, उज्जैन, रायपुर, बिलासपूर, भिलई, बऱ्हाणपूर, बिना, कटनी, खंडवा, झांसी, मंडेश्वर

गुजरात

अहमदाबाद, बड़ौदा, सुरत, बिलिमोरा, नौसारी, बलसाड़, पालघर, आनंद, भड़ोच, द्वारका, नड़ियाद

सौराष्ट्र

राजकोट, जूनागढ, जामनगर

राजस्थान

उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, अजमेर, कोटा

पंजाब

पतियाला, अमृतसर, जालंधर, चंडीगड़, लुधियाना, भरतपुर, पठाणकोट

पाकिस्तान

लाहौर, रावलपिंडी, कराची, शिकारपुर हैदराबाद (सिंध), सक्कर, होशियारपुर

दिल्ली, हरियाना

दिल्ली, सिमला, मसूरी, नैनीताल

बंगाल

कलकत्ता, असनसोल, बरद्वान

उत्तर प्रदेश

आगरा, अलाहाबाद, कानपुर, जौनपुर, लखनऊ, अलमोड़ा, मारवार, मेरठ, मुरादाबाद, वाराणसी, देहरादून, फरूखाबाद, इटावा, बाराबंकी, बरेली

बिहार

पटना, दरभंगा, मोकामेह, भागलपुर, मुगलसराज, जमशेदपुर, दालमियांनगर, फैयाबाद, मुझफ्फरपुर, मुझफ्फरनगर, मोतीहारी

असम

गौहत्ती, दिब्रूगढ़, सिलचर, जोरहार

मेघालय

शिलाँग

नेपाळ

काठमांडू

रशिया (रूस), पोलैंड, झेकोस्लावाकिया

मॉस्को, लेनिनग्राड़, ताश्कंद, वॉर्सा, प्राग, कीव्ह, सोची इरेवान (एरवान), टिफलिस (बेलिसिया), पोझनान, हादीस, बर्नोला, ब्रात्स्लोवा !